रहता है। इसलिये ऐसे बच्चे साधारण परिस्थिति में पड़ने पर भी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन करते हैं। बच्चों के समुचित संवेगात्मक विकास के लिये स्वप्रकाशन और आत्मनिर्भरता (Self dependence) आवश्यक होती है। इसके पक्ष में कई प्रकार के औपचारिक प्रमाण (Clinical-evidence) उपस्थित हैं। इसलिये माता-पिता को चाहिये कि बच्चों के इन कार्यों में अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगावें।

(७) उत्तेजक परिस्थितियों का ज्ञानः—जिस प्रकार उपर्युक्त अंग बच्चों के संवेगात्मक नियंत्रण और संतुलन में सहायक होते हैं उसी प्रकार उत्तेजक परिस्थितियों और उत्तेजनाओं का सम्यक ज्ञान भी उनके संतुलन और समुचित विकास में सहायक होता है। बच्चे को जिस परिस्थिति या उत्तेजना से भय, क्रोध या लज्जा का भाव उत्पन्न होता है यदि उसके वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन करा दिया जावे तो वह उस संवेग का शिकार नहीं बन सकता और अपने में आसानी से संवेगात्मक संतुलन ला सकता है। ऐसे कितने उदाहरण हम लोगों को अपने जीवन में मिलते हैं कि यदि बच्चे को यह समझा दिया जाता है कि अंधेरे से डरना व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई तत्व नहीं रहता तो पुनः वह अंधेरे में भयभीत नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिस्थिति अथवा उत्तेजना का सम्यक ज्ञान संवेगात्मक सन्तुलन के लिये अपेक्षित है।

ये जितने अंग व्यक्त किये गये हैं वे सभी बच्चों को संवेगात्मक विकास में समुचित सहयोग प्रदान करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें संवेगात्मक सन्तुलन देखने में आता है। इसलिये इन उपर्युक्त अंगों का अभाव ही बच्चों के संवेगात्मक असन्तुलन का कारण होता है जिससे आगे चल कर उनके जीवन में संवेगात्मक परिपक्वता का पूर्णतः अभाव रहता है।

७. संवेग-अध्ययन-पद्धतियाँ

(Methods of Studying Emotions)

प्रौढ व्यक्तियों के विभिन्न संवेगों की परीक्षा करने के लिये वर्तमान में कई मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। किन्तु, उन सभी पद्धतियों का व्यवहार बच्चों के संवेगों को जानने के लिये करना असम्भव है। हाँ, कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनसे बाल संवेग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और ऐसी आशा की जाती है कि सन्निकट भविष्य में इस दिशा में भी किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जायेगा। हम यहाँ पर उन्हीं पद्धतियों पर संक्षिप्ततः

प्रकाश डालेंगे जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक जगत में बाल संवेग की जानकारी करने के लिये होता है।

(१) भावभंगी तथा व्यवहार निरीक्षण-पद्धति (Method of Studying facial expression & overt behaviour):—बच्चों के संवेग को जानने के लिये मनोवैज्ञानिको ने उनकी विभिन्न भाव भगियों का निरीक्षण करने की विधि प्रचलित की है। उनका कहना है कि बच्चे विभिन्न संवेगों का प्रकाशन विभिन्न व्यवहारो से करते हैं। इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये शल्ज प्रभृति कई विद्वानो ने बच्चों की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करके अन्य लोगो से उनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का निर्णय कराया है और उन्हें इसमें सफलता भी मिली है। किन्तु, शेरमन आदि ने जो प्रयोग इस सम्बन्ध में किया उससे यह स्पष्ट है कि यह पद्धति अत्यंत विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि न्यायाधीशों (Judges) ने एक ही संवेगात्मक प्रतिक्रिया को कई नामो से अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः कुछ अंशों में इस विधि से बच्चों के संवेगो का ज्ञान होता है, किंतु वह ज्ञान अधूरा कहा जायेगा, क्योंकि कई संवेगो का प्रकाशन एक ही भावभंगी से अथवा कई भावभंगियों से एक ही संवेग का प्रकाशन बच्चे करते हैं।

(२) वैद्युतिकत्वक प्रतिक्रिया-पद्धति (Method of psycho-galvanic Reflex):—शिशुओं के संवेग को जानने के लिये आजकल विद्युत यंत्रो का भी सहारा लिया जाता है। इनके द्वारा उनके संवेगो का ज्ञान बहुत ही अच्छी तरह होता है। सामान्यावस्था मे चर्म अवरोध (Skin-resistance) में भी सामान्यता रहने के कारण एक नियमित रूप रहता है, किंतु संवेगावस्था मे इस अवरोध में शिथिलता आ जाती है। हम इस अवस्था को वैद्युतिकत्वक प्रतिक्रिया कह सकते हैं। सम्प्रति जिस यंत्र का प्रयोग प्रायः संवेग जानने के लिये होता है उसे अंग्रेजी भाषा में साइको-गालवेनोमीटर कहते है। वस्तुतः यह यंत्र बच्चों के संवेगो का पर्याप्त और प्रतिपन्न ज्ञान देता है। किंतु, सभी लोग इसका इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि इसके प्रयोग द्वारा संवेग अध्ययन करने के लिये इसके कौशल्य विशेष हैं जिन्हें जानना आवश्यक है।

(३) आंतरिक परिवर्तन-निरीक्षण-पद्धति (Method of Internal observation):—शरीर के आंतरिक परिवर्तन का निरीक्षण करके बच्चों के संवेगों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इन आंतरिक परिवर्तनों में हृदयगति, नाडीगति, रक्तचाप (Blood pressure), रक्तसंचार

श्री श्यामनन्दन सहाय, एम. पी.

कुलपति—बिहार विश्वविद्यालय

राष्ट्र के नौनिहालों के नैतिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक

विकास के लिए सतत प्रयत्नशील,

बिहार-विश्वविद्यालय

के प्रथम

कुलपति

श्री श्यामनन्दन सहाय, एम० पी०

के

कर-कमलों में सादर

भूमिका

विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर पाण्डेयजी ने प्रस्तुत "बाल मनोविज्ञान" लिखा है। विकासात्मक दृष्टिकोण से बच्चों की सामान्य तथा असामान्य अवस्थाओं की समुचित व्याख्या इस पुस्तक का विषय है। पुस्तक के अन्त में बच्चो के समुचित पालन-पोषण के लिए उनके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के चन्द पहलुओं का भी उल्लेख कर दिया गया है। इस पुस्तक में भाषा की सरलता, विषय की गम्भीरता तथा तथ्यों का सुन्दर समावेश है। लेखक ने स्पष्ट तथा संयित ढंग से विषय का विवेचन किया है। निस्संदेह यह पुस्तक एक बहुत बड़ी कमी को पूरा करती है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि इस पुस्तक के प्रकाशन से विद्यार्थी, शिक्षक और बालहितैषी काफी लाभान्वित होंगे।

इस पुस्तक के प्रणेता श्री जगदानन्द पाण्डेय का परिचय देना मैं आवश्यक नहीं समझता। हिन्दी में मनोविज्ञान की जो सेवा इन्होंने की है वह मनोविज्ञान प्रेमियों से छिपी नहीं। मनोविज्ञान की अनेक शाखाओं पर सफल पुस्तक लिखने का श्रेय पाण्डेय जी को है। मुझे अपने शिष्य की इस सफलता से अतिशय प्रसन्नता है।

पटना विश्वविद्यालय

२७-६-५६

अवधकिशोरप्रसाद सिंह
एम० ए०, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (मिचिगन)
अध्यक्ष,
मनोविज्ञान विभाग,
पटना कॉलेज, पटना।

अपनी बात

'बाल मनोविज्ञान' अपने विषय की पहली या अकेली पुस्तक हो, ऐसी बात नहीं; अँग्रेजी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं में कई पुस्तकें पिछले कुछ वर्षों में प्रकाश में आई हैं। अच्छी पुस्तकों की भी कमी नहीं कही जा सकती। किन्तु, विश्वविद्यालयों द्वारा निर्धारित पाठ्य-क्रम के अनुकूल पुस्तकों का अभाव अवश्य है। इसके फलस्वरूप विद्यार्थियों ने कई बार अपनी असुविधा व्यक्त की। उनकी कठिनाई और आग्रह ने मेरी अभिरुचि को तीव्र कर मुझे मनोविज्ञान के इस क्षेत्र पर भी कलम उठाने को बाध्य कर दिया। प्रस्तुत रचना उसी दिशा में एक प्रयास है जिसमें उनकी सुविधा के साथ-साथ बाल मनोविज्ञान की वैज्ञानिकता को सरल भाषा मे निभाने की चेष्टा की गयी है। यदि विद्यार्थियों का इससे कुछ भी उपकार हुआ और मनोविज्ञान की किंचित् सेवा हुई तो मुझे अतिशय सन्तोष होगा। पुस्तक की भाषा और पारिभाषिक शब्दों की सरलता पर यथेष्ट ध्यान रखा गया है। प्रामाणिक हिन्दी पारिभाषिक शब्दों के अभाव में मैने कई जगह स्वेच्छा से काम लिया है और इसी से उनके बगल में अँग्रेजी शब्दों को भी लिख दिया गया है। बच्चों के विकास के सामान्य और असामान्य दोनों पहलुओं की व्याख्या इस पुस्तक में की गयी है। किताब शुरू से आखिर तक विकासात्मक दृष्टिकोण से लिखी गयी है। सबसे अन्त में बच्चों को मानसिक और शारीरिक रूप से किस प्रकार स्वस्थ रखा जाय, तथा उनका पालन-पोषण किस प्रकार से हो, जिसमें वे अपने व्यक्तित्व का समुचित विकास कर सकें, इसका भी उल्लेख कर दिया गया है। आशा है इससे माता-पिता तथा शिक्षक लाभान्वित होंगे।

राष्ट्र के बच्चों के पूर्ण विकास के लिए सदैव प्रयत्नशील बिहार विश्वविद्यालय के प्रथम कुलपति सर्वश्री श्यामनन्दन सहाय, एम० पी० ने पुस्तक का समर्पण स्वीकार कर मुझे जो गौरव दिया है उसका आभार व्यक्त करने में मै सर्वथा असमर्थ हूँ।

पुस्तक की भूमिका मेरे श्रद्धेय गुरुवर डॉ० अवधकिशोरप्रसाद सिंह, एम० ए०, एम० एस-सी०, पी-एच० डी० (मिचिगन), अध्यक्ष मनोविज्ञान विभाग, पटना कालेज (पटना) ने लिखकर अपनी जिस उदारता का परिचय दिया है, उसे व्यक्त करना उनकी महानता के अनुरूप नहीं। वस्तुतः मैंने

मनोविज्ञान का अध्ययन और ज्ञानोपार्जन अपने गुरुवर के चरणों में बैठ कर ही किया है। पुस्तक की रचना मेरे प्रिय शिष्य प्रो० काशीनाथ झा, एम० ए० अध्यक्ष, मनोविज्ञान विभाग, बीरगञ्ज कॉलेज, बीरगञ्ज (नेपाल) के विद्यार्थी जीवन में हुई। इसका निर्माण उन्हीं की बौद्धिकता, त्याग और भक्ति के फलस्वरूप हुआ है।

पुस्तक के प्रकाशन, प्रूफ-संशोधन, अभिनव तथ्यों के समन्वय और भाषा के परिमार्जन में मेरे प्रिय छात्र श्री लाला इन्दु-भूषण, बी० ए० (आनर्स) [वर्त्तमान एम० ए० (अन्तिम) छात्र] ने अपनी जिस प्रतिभा, त्याग और कार्यपटुता का परिचय दिया है उसके सम्बन्ध में कुछ भी लिखना थोड़ा होगा।

अन्त में, मैं अपने प्रकाशक को धन्यवाद देना अपना कर्त्तव्य समझता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को शीघ्र प्रकाशित कराने में काफी मुस्तैदी से काम लिया है।

लंगटसिंह कॉलेज
मुजफ्फरपुर (बिहार)
२८-६-५६

जगदानन्द पाण्डेय

विषय-सूची

पहला अध्याय

विषय-प्रवेश (Introduction)

१. बाल-जीवन का महत्व

प्राचीन काल से ही विद्वानों ने बालकाल के महत्व को स्वीकार किया है। जब हम विभिन्न महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त का अध्ययन करते है तो हमें उपर्युक्त कथन की सत्यता मिलती है। विश्वविख्यात यूनान निवासी अफलातून (Plato) ने बालजीवन तथा उसके स्वरूप के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला है। भारतीय ऋषि-मुनियों का क्या पूछना? उन लोगों ने जो महत्वपूर्ण कार्य्य इस दिशा में किया है, वह संस्कृत के विद्वानों से छिपा हुआ नहीं। भले ही पाश्चात्य संस्कृति से प्रभावित विद्वान् हमारे ऋषि-मुनियों की देन को अवैज्ञानिक घोषित कर उनके महत्व को स्वीकार न करें, अथवा उनकी खोजों की अवहेलना करें किन्तु हम उनसे सहमत नहीं हैं। हाँ, इतना जरूर है कि आधुनिक युग में विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने अपने अथक प्रयासों के प्रसाद से साधारण जनता को भी इसके महत्व को प्रदर्शित करते हुए यह प्रमाणित कर दिया है कि हमारे जीवन की सफलता अथवा असफलता बाल-जीवन के निर्माण-प्रकार पर ही निर्भर करती है। वस्तुतः यह ऐसा काल है जिसे हम शिक्षणकाल (Learning period) कहे तो अत्युक्ति नहीं होगी, क्योंकि यही हमारी जीवन-भित्ति की नीव है। हम भाषा, कौशल, आदत आदि इसी अवधि में सीखते हैं। विश्व ज्ञान का आविर्भाव इस समय आविर्भूत होकर हमारी प्रौढ़ावस्था में पूर्णतः विकसित होता है। हमारे व्यवहार संघात (Behaviour Pattern) की नींव बाल-जीवन में ही पड़ती है, जिसके प्रभाव से हम जीवनपर्यन्त प्रभावित होते हैं। हमारे व्यक्तित्व निर्माण का श्रेय हमारे बचपन को ही है। प्रसिद्ध विद्वान फ्रायड ने जीवन के विभिन्न सामान्य (Normal) और असामान्य (Abnormal) व्यवहारों के कारणों का रहस्य बचपन की अनुभूतियों को ही व्यक्त किया है। वाट्सन ने भी 'बच्चों को मनोनुकूल बना सकते हैं' कह कर इसी की महत्ता घोषित की है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम बचपन में जो कुछ सीखते हैं उसी के अनुकूल हमारी जीवन-शैली (Style of life) निर्धारित

होती है। थोड़े शब्दों में हम यही कह सकते हैं कि जैसा हम अपने बचपन में बन जाते हैं वही जीवन भर बने रहते है। अतः इसके महत्व का जितना भी वर्णन किया जाय वह थोड़ा है।

२. बाल-मनोविज्ञान की परिभाषा

हम ऊपर थोड़े शब्दों में बचपन के महत्व का उल्लेख कर चुके हैं, इसलिए इस स्थान पर बाल-मनोविज्ञान की परिभाषा पर प्रकाश डालना आवश्यक है। किंतु परिभाषा देने से पहले हम इतना कह देना जरूरी समझते हैं कि मनोविज्ञान की अन्य शाखाओं की तरह यह भी एक शाखा (Branch) है जिसका एक मात्र सम्बन्ध बाल-जीवन के विभिन्न पहलुओं से है। इसलिए हम यही कह सकते हैं कि बाल-मनोविज्ञान वह समर्थक या विधायक (Positive) विज्ञान है जो बच्चों के शारीरिक (Physical) और मानसिक विकास (Mental Development) के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन जन्मकाल से परिपक्वता (Maturity) तक करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह इस बात की खोज करता है कि जन्म के समय बच्चों मे कौन-कौन सी शारीरिक तथा मानसिक शक्तियाँ (Capacities) मौजूद रहती हैं और उनका विकास क्योंकर होता है और समुचित विकास के लिए कौन-कौन सी बातें आवश्यक है। इसे और भी स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि यह बाल जीवन का अध्ययन विकासात्मक (Developmental) दृष्टिकोण से करता है। इसलिए कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे विकासात्मक-मनोविज्ञान कहा है और उनका ऐसा कहना सर्वथा उचित भी है क्योंकि इसमें बच्चे के विकास का ही अध्ययन किया जाता है। अब हम यह देखें कि हमारी ऊपर की परिभाषा उपयुक्त है अथवा नहीं। इसकी उपयुक्तता का ज्ञान हमें स्पष्ट हो जायगा यदि हम इसमें प्रयुक्त विभिन्न पहलुओं की सार्थकता की विवेचना कर लें। जैसा कि हम जानते हैं, बाल मनोविज्ञान का, जैसा कि इस पद से ही स्पष्ट है, अध्ययन-विषय (Subject-Matter) बाल मन है। इसलिये इसको बाल-मनोविज्ञान कहा जाता है। समर्थक या विधायक विज्ञान की विवेचना करने के पहले यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि विज्ञान दो तरह का होता है जिसे हम आदर्श निर्धारक (Normative) तथा विधायक विज्ञान कहते हैं। आदर्श निर्धारक विज्ञान अपने आलोच्य विषय का अध्ययन एक माध्यम अथवा आदर्श के आधार पर करता है जिसका सम्बन्ध 'चाहिये' से रहता है। इस कोटि के अन्तर्गत सौन्दर्य विज्ञान,

आचार विज्ञान आदि हैं। किंतु, विधायक या समर्थक विज्ञान के सामने अपने आलोच्य विषय का अध्ययन करने के लिये कोई माध्यम नहीं रहता है। इसलिये यह अपने अध्ययन विषय की वास्तविकता का ही वर्णन करता है। इसलिए कुछ विद्वानों ने इसे वर्णनात्मक विज्ञान कहा है। इसे दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि इसका सम्बन्ध जो उपस्थित रहता है, उसी से रहता है। क्या होना चाहिये, उससे नहीं। इन दो विज्ञान-कोटियों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए बाल-मनोविज्ञान को हम समर्थक विज्ञान ही कहेंगे, क्योंकि यह बच्चों के मानसिक (Mental) और शारीरिक विकास का अध्ययन उनकी वास्तविक अवस्थाओं में करता है। अब शारीरिक और मानसिक विकास पदों की सार्थकता और उपयुक्तता इतना ही कह कर व्यक्त की जा सकती है कि बाल मनोविज्ञान के लिए बच्चों के शारीरिक और मानसिक दोनों ही विकास महत्वपूर्ण है; क्योंकि एक के बिना दूसरे का अध्ययन अधूरा तथा असन्तोष पूर्ण होगा। फिर यह अपने को उनके जन्म से लेकर उनकी परिपक्वता तक इसलिए सीमित रखता है कि बाल-जीवन का अंत परिपक्वता के आने पर हो जाता है और प्रायः सभी प्रकार की शक्तियों का पूर्ण विकास इसी अवधि में हो जाता है। अतः यह जन्म से किशोरावस्था तक (Adolescence) के विभिन्न विकासों का अध्ययन करता है। उसके बाद का अध्ययन करना तो सामन्य मानोविज्ञान का काम है। विज्ञान पद की व्याख्या करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि हम पहले ही स्वीकार कर चुके है कि यह एक विज्ञान है कारण, इसमें विज्ञान की सभी विशेषताएँ हैं। इस प्रकार उपर्युक्त परिभाषा में व्यवहृत सभी पदों की सार्थकता और प्रतिपन्नताओं को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते है कि उपर्युक्त परिभाषा पूर्णतः ठीक है। लेकिन, यहाँ पर स्मरणीय है कि आजकल विद्वानों की अन्वेषण अभिरुचि बच्चों के गर्भकाल से ही प्रारम्भ होती है, अतएव इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए हमारा यह कहना अनुपयुक्त नही होगा कि बाल मनोविज्ञान वह समर्थक विज्ञान है जो बच्चों के शारीरिक और मानसिक विकास के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन गर्भकाल से परिपक्वता तक करता है।

२. विषय-विस्तार (Scope)

बाल मनोविज्ञान का विषय-विस्तार सामान्यतः बालमन कहा जा सकता है तथा इसी के अध्ययन के लिये यह बालकों की विभिन्न शक्तियो

और प्रतिक्रियाओं (Responses) के आविर्भाव, विकास तथा स्वरूप का अध्ययन करता है। यह उनके प्रत्येक व्यवहार को नियंत्रित (Control) करने का प्रयास करता है। इसलिये इसके लिये बच्चों के प्रत्येक व्यवहार के स्वरूप और विकास के प्रत्येक अंग को जानना आवश्यक हो जाता है। यह बालकों के जीवन को सुलभ बनाने के लिए, जिन नियमों और सिद्धान्तों (Principles) का परिपालन करना जरूरी है, उन सब का भी अध्ययन करता है। ऐसा करने से बालमन की विभिन्न अवस्थाओं के स्वरुप को जानना जरूरी होता है। अतः यह मन के विभिन्न पहलुओ का ज्ञान प्राप्त करता है। इसके अध्ययन का एक मात्र विषय है विभिन्न प्रकार के बाल-व्ययहार का स्वरूप, आविर्भाव और विकास। बच्चों का शिक्षण क्योंकर होता है और उनके व्यवहार में समाज के कारण कैसे परिवर्तन होता है, अध्ययन करना इसका काम है। बच्चो के खेल-कूद, व्यक्तित्व (Personality), चरित्र (Character) आदि के आविर्भाव और विकास भी इसके अध्ययन विषय के अंतर्गत आते हैं। उनमें भाषा, संवेग (Emotion), भाव (Feeling), प्रत्यक्षीकरण (Perception) आदि का कब और कैसे उत्पत्ति होती है तथा उनका विकास क्रम क्या है, इसको भी जानना इस मनोविज्ञान का काम है। यह उनके विभिन्न शारीरिक पहलुओं की भी जानकारी प्राप्त करता है,क्योंकि मन और शरीर का अत्यधिक घनिष्ठ संबंध होने से ये एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। इतना ही क्यों, यह तो बच्चों के असंतुलित अभियोजन (Mal-adjustment) के विभिन्न कारणों तथा उनके निराकरण के साधनों की भी जानकारी रखता है। बच्चो का तुतलाना, विभिन्न मानसिक व्याधियाँ (Mental Diseases) तथा अन्य प्रकार के दोष, मानसिक स्वास्थ्य (Mental Hygiene) के विभिन्न सिद्धान्त, नैतिकता और धार्मिकता आदि सभी इसके अध्ययन विषय है। कहने का सारांश यह है कि बाल मनोविज्ञान उन सभी विषयों का अध्ययन करता है, जिनकी जानकारी उनके विभिन्न व्यवहारों को नियंत्रित और मार्गोपदेशन करने के लिए आवश्यक है।

४. बाल-मनोविज्ञान का ध्येय (AIM)

हम ऊपर बाल-मनोविज्ञान की परिभाषा तथा उसके विषय-विस्तार का उल्लेख कर चुके हैं, इसलिए इस स्थल पर यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि इसका लक्ष्य क्या है? यदि हम इसके लक्ष्य का उल्लेख करें तो हम यही कह सकते हैं कि इसका एक मात्र ध्येय बच्चों के व्यवहार को नियंत्रित और

मार्गोपदेशित करना है। किंतु, इतने ही से इसके ध्येय की परिपूर्ति नहीं होती अतएव यह उनके भावी जीवन के सम्बन्ध में भी अपना दृष्टिकोण अभिव्यक्त करता है। कौन बालक अपने जीवन में चल कर कैसा होगा, इसे पहले ही व्यक्त कर देना भी इस मनोविज्ञान का लक्ष्य है। हम दूसरे शब्दों में इसके ध्येय के सम्बन्ध में यही कह सकते हैं कि बच्चों के व्यवहार का नियंत्रण, (Control), मार्गोपदेशन (Guidance) तथा उनके सम्बन्ध की भविष्य-वाणी करना (Predict) यही बाल-मनोविज्ञान के ध्येय हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि इसके यही लक्ष्य क्यों है ? यदि हम इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि सभी माता-पिता अपने बच्चों को सफल और सुयोग्य सामाजिक प्राणी बनाना चाहते है, किंतु ऐसा चाहने मात्र से ही नहीं हो सकता। इसीलिये यह विज्ञान बच्चों के सभी प्रकार के व्यवहारो का अध्ययन करके उन्हें नियंत्रित करता है, क्योंकि बिना नियंत्रण के उनका सफल और सुयोग्य होना सम्भव नहीं। किंतु यह नियंत्रण भी उन्हें एक योग्य प्राणी नहीं बना सकता यदि उनके व्यवहारो को एक समुचित दिशा मे प्रवाहित न किया जाय। अतएव यह उनके व्यवहारो को नियंत्रित करके ही संतुष्ट नहीं होता अपितु उन्हें एक दिशा विशेष की ओर मार्गोपदेशित भी करता है ताकि वे आसानी से अपने को समाज मे अभियोजित कर सकें। यदि बच्चे मे किसी प्रकार का कोई दोष रहता है तो यह उसके कारणो को जानकर उन्हें दूर करने की कोशिश करता है क्योंकि दोषी बच्चों का सामाजिक अभियोजन उचित रूप से नहीं होता। हम सभी जानते हैं कि किसी का भी भावी जीवन उसके बाल-जीवन पर ही निर्भर करता है क्योकि बच्चा जैसा इस जीवन में बन जाता है, वैसा ही जीवन भर बना रह जाता है। यही प्रधान कारण है कि यह बच्चों के व्यवहार को नियंत्रित और मार्गोपदेशित करने का सतत प्रयास करता है। बच्चे के लिये किस प्रकार के वातावरण (Environment) की आवश्यकता है, इस समस्या को बाल मनोविज्ञान ही सुलझा सकता है। वातावरण का अध्ययन करने के बाद यह सरलतया यह व्यक्त कर देता है कि अमुक बच्चा अपने जीवन में क्या होगा। हम थोड़े शब्दो मे पुनरावृत्ति दोष होते हुए भी यह कह सकते हैं कि बच्चो को सफल सामाजिक प्राणी बनाने के लिये बाल मनोविज्ञान का एकमात्र ध्येय उनके व्यवहार का अध्ययन करके, उनके नियंत्रण और संचालन के द्वारा उनकी समस्याओ (Problems) को सुलझा कर उनके भावी जीवन पर प्रकाश डालना है।

५. अध्ययन-विधियाँ (Methods)

इसके पहले कि हम बाल-मनोविज्ञान की विधियों पर प्रकाश डालें, यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि पद्धति का व्यवहार जिस अर्थ में अन्य विज्ञानों में होता है उसी अर्थ में उसका प्रयोग बाल-मनोविज्ञान में नहीं होता। अन्य विज्ञानों में विधि का मतलब होता है प्रदत्तों (Datum) को अध्ययन करने का ढंग किन्तु, मनोविज्ञान में इसका तात्पर्य होता है अध्ययन-विषय (Subject-matter) की व्याख्या के लिये प्रदत्तों को संग्रह करने का तरीका। इसलिये जिन-जिन ढंगों से बाल-जीवन के विभिन्न पहलुओं को जानने के लिये उनसे आबद्ध प्रदत्तों को एकत्र किया जाता है उन्हीं तरीकों को बाल-मनोविज्ञान की विधियाँ कहते हैं।

इस स्थल पर यह भी स्मरणीय है कि जिस प्रकार अन्य विज्ञान अपने आलोच्य-विषय (Subject-matter) का अध्ययन आसानी से कर लेते हैं वह सरलता इस विज्ञान में नहीं पाई जाती है। यही कारण है कि बाल-मनोविज्ञान का आविर्भाव बहुत विलम्ब से हुआ है। अगर हम इसकी कठिनाइयों पर दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि विद्वानों को बाल-अध्ययन में कई प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है।

पहली कठिनाई तो बाल-अध्ययन में सबसे बड़ी यह रही है कि लोगों ने बच्चों को सयानों के ही छोटे रूप में देखा, इसलिये उनके अलग अध्ययन की कोई आवश्यकता नहीं समझी। लेकिन, जमाने ने पलटा खाया और लोगों ने समझा कि बच्चे सयानो से भिन्न होते हैं, इसलिए उनके वैज्ञानिक अध्ययन की भी अलग जरूरत है।

दूसरी कठिनाई इस दिशा में थी, अध्ययन के लिये बच्चों का सर्वथा अभाव। जब बच्चे पैदा होते थे तो बहुत दिनो तक उनके पास किसी को फटकने नहीं दिया जाता था, इसलिए उनके प्रारंभिक जीवन का अध्ययन करना सर्वथा असंभव था। इसके बाद भी बच्चे अपने समूह में खेलते कूदते थे, इसलिए उन तक पहुँचना सभी समय संभव नहीं था। जो बच्चे स्कूल में पढ़ते थे उनका भी अध्ययन करना संभव नहीं था क्योंकि शिक्षकों का समुचित सहयोग अन्वेषकों को प्राप्त नहीं होता था। लेकिन, आधुनिक युग में यह कठिनाई दूर हो गई है। प्रायः बच्चे अस्पतालों में उत्पन्न होते हैं जहाँ उनकी प्रारंभिक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन होता है। स्कूल के शिक्षक तथा अन्य अधिकारी भी उनके अध्ययन में अन्वेषकों के सहायक होते हैं।

तीसरी कठिनाई इस सम्बन्ध में दक्ष वैज्ञानिकों के अभाव की थी। पहले मनोविज्ञान का विषय उन्हीं लोगों तक सीमित था जो कालेजों और विश्व-विद्यालयो में अध्ययन या अध्यापन करते थे किन्तु, आज माता-पिता, शिक्षक सभी के लिए इसका ज्ञान सुलभ है और कोई भी बच्चों का अध्ययन कर सकता है।

अन्तर्निरीक्षण (Introspection) के अभाव में किसी विधि का अभाव भी बच्चो के अध्ययन में बाधक था लेकिन, आज विद्वानों के परिश्रम स्वरूप कई समुचित विधियाँ उपलब्ध हैं जिनके द्वारा बच्चो का अध्ययन किया जाता है। आज प्रारंभिक सभी कठिनाइयाँ दूर हो गई है और बच्चों का वैज्ञानिक अध्ययन सफलता पूर्वक हो रहा है। यों तो बाल-मनोविज्ञान की कई विधिया है लेकिन, यहाँ पर हम प्रमुख विधियो का ही संक्षिप्ततः आलोचनात्मक उल्लेख करेंगे।

विप्रयोग-पद्धति (Armchair Method)

विप्रयोग-पद्धति (Armchair Method) बालकों के अध्ययन की सबसे पुरानी विधि है। जो कुछ दार्शनिको ने अपने यदा-कदा के निरीक्षण से बच्चो के सम्बन्ध मे व्यक्त किया है उसी का विश्लेषणात्मक अध्ययन (Analytical study) करके बच्चों के व्यवहार के सम्बन्ध में जाना जा सकता है। प्लेटो ने बाल-अध्ययन में इस विधि को अपनाया था जिसका उल्लेख उसके रीपब्लिक (Republic) में मिलता है। तब से आज तक बच्चो के सम्बन्ध मे अत्यधिक दार्शनिक सिद्धान्तो (Philosophical Theories) का प्रतिपादन हुआ है। अठारहवीं शताब्दि में जब शिक्षा सुधार की सरगर्मी थी उस समय इस विधि को अधिक आश्रय मिला। लॉक (Locke), रूसो (Rousseau) प्रभृति विद्वानो ने भी इस विधि का आश्रय लिया था। लेकिन यह विधि वस्तुतः बालमन का अध्ययन करने के लिये लाभप्रद नही है क्योंकि यह पूर्णतः कल्पना (Speculation) पर निर्भर करती है। वास्तविकता की गन्ध इसमें नहीं है। जिन विद्वानो ने बच्चो के व्यवहार का उल्लेख किया है उनका वह उल्लेख बच्चो के प्रत्यक्ष निरीक्षण (Direct observation) पर आधारित नहीं है बल्कि उन्होने जो कुछ भी उनके बारे में लिखा है वह अपनी स्मृति (Memory) के आधार पर ही लिखा है। दूसरों से लड़कों या लड़कियों के विषय में जो कथाएँ सुनी गई थीं वे भी उनके उल्लेख के आधार हैं। उन विद्वानों ने

अपने उल्लेखों को कभी निरीक्षण द्वारा प्राप्त अनुभवों के आधार पर प्रामाणीकृत (Standardized) करने की आवश्यकता नहीं समझी थी। इन कारणों से यह विधि बाल अध्ययन के लिये कदापि विश्वसनीय एवं प्रतिपन्न नहीं है।

२ चरित्र लेखन-पद्धति (Biographical Method)

उन्नीसवीं शताब्दि में कुछ विद्वानों ने अपने बच्चों के विभिन्न व्यवहारों का निरीक्षण करके उन्हें अंकित करने की व्यवस्था की। इस प्रकार किसी बच्चे विशेष का यथासंभव चरित्र-वर्णन (Biography) तैयार हो गया। जो व्यक्ति इस विधि से बच्चे का चरित्र वर्णन करता था वह बच्चे के प्रत्येक व्यवहार का निरीक्षण उसके स्वाभाविक वातावरण में करता था। वह उसे तुरत अपनी डायरी में अंकित कर लेता था और इस प्रकार कुछ दिनों में किसी बच्चे विशेष का विकासात्मक (Developmental) वर्णन तैयार हो जाता था। ऐसे व्यक्ति कभी कभी एक दो बच्चों पर साधारण प्रयोग करके भी उनके व्यवहारों को अंकित करते थे। बाद में उनका यह जीवन वर्णन अन्य लोगों के लिये बच्चों के विभिन्न पहलुओं को जानने के लिये एक सुन्दर साधन बन गया। लेकिन इस पद्धति के सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि यद्यपि इस प्रकार से किसी बच्चे का अध्ययन उसके स्वाभाविक वातावरण में करना सम्भव था लेकिन, विभिन्न अंगों (Conditions) का नियंत्रण जिस प्रकार अध्ययनकर्त्ता प्रयोगशाला में कर सकता है उसका पूर्णतः अभाव होने से वैज्ञानिक प्रतिपन्नता (Scientific Accuracy) का सर्वथा अभाव रहा। इसलिये इस विधि से बच्चे का अध्ययन वैज्ञानिक नहीं होता। वैज्ञानिक अध्ययन निष्पक्ष (Impartial) होता है किंतु इस प्रकार के अध्ययन में निरीक्षक अपनी मनोवृत्ति (Attitude) को ऐसा नहीं रख सका। इसके अतिरिक्त बुद्धिमान माता-पिता ही इस प्रकार से अपने बच्चे विशेष का अध्ययन कर सके। इसलिये एक बच्चे के अध्ययन के आधार पर सामान्य बच्चों के सम्बन्ध में किसी प्रकार का निर्णय देना असंभव है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी इस विधि की अपनी कई विशेषताएँ हैं। प्रयोगशाला के वातावरण में बच्चे के व्यवहार का जो अध्ययन किया जाता है वह स्वाभाविक (Natural) नहीं होता और बहुत कम समय तक ही उस परिस्थिति में अध्ययन भी किया जाता है। लेकिन इस प्रकार के अध्ययन

से तो उसके स्वाभाविक व्यवहार का ही ज्ञान होता है और निरीक्षक अपनी इच्छा एवं सुविधानुसार बच्चे के व्यवहार का अवलोकन करता है। इस प्रकार बच्चे के प्रारम्भिक जीवन में जब कि उसका अध्ययन प्रयोगशाला मे करना असम्भव होता है, उस समय इस विधि की उपादेयता अत्यधिक है। बच्चे के जिस पहलू का अध्ययन प्रयोगशालीय वातावरण में संभव नही होता उसकी जानकारी इस विधि से होती है। बच्चे के घर और खेल के मैदान का इस प्रकार का अध्ययन उसके प्रयोगशाला के अध्ययन में बहुत ही अधिक सहायक सिद्ध हुआ है। आधुनिक काल मे इस विधि को उपयोगी बनाने के लिये डेनिस (Dennis), हरलॉक (Hurlock) मेकहफ (Mc Hugh) आदि ने काफी प्रयत्न किया है जिसकी वजह से इसकी उपयोगिता पहले से अधिक बढ गई है।

आत्म चरित्रलेखन-पद्धति (Autobiographical Method)

इस विधि को कभी-कभी सिंहावलोकन पद्धति (Retrospective Method) भी कहते है क्योकि इस विधि से व्यक्ति अपने बचपन के अनुभवों को स्मृति के आधार पर क्रमबद्ध करने का प्रयास करता है। इस प्रकार अपनी स्मृति के आधार पर वह अपने बचपन के अनुभवों का एक व्यवस्थित इतिहास तैयार कर देता है। यह विधि कुछ अंश में चरित्रलेखन से भिन्न और कुछ में उसके समान ही है। जिस प्रकार चरित्रलेखन में किसी बच्चे का विकासात्मक इतिहास तैयार किया जाता है और उसकी प्रमुख विशेषताओ पर विशेष रूप से प्रकाश डाला जाता है उसी प्रकार इसमें भी होता है। लेकिन इतना होते हुए भी यह विधि उससे भिन्न है। चरित्र लेखन में चरित्र-लेखक अपने से भिन्न किसी बच्चे के चरित्र को लिखता है किन्तु इसमें चरित्रलेखक अपने ही चरित्र का उल्लेख अपनी बचपन की स्मृतियों के आधार पर करता है। इस विधि को काम में लाने के लिये लेयर्ड (Laird, 1923), हरलॉक तथा क्लाइन (Hurlock and Klein, 1934) ने अपने अध्ययनों द्वारा अच्छा पथप्रदर्शन किया है।

यदि इसके गुण-दोषो पर विचार करें तो मालूम होगा कि इस विधि से प्राप्त उपकरणो (Materials) के द्वारा बच्चों के व्यवहार विशेष को जानने में जो सहायता मिलती है वह सहायता अन्य विधियों से संभव नहीं है। लेकिन यह होते हुए भी इतना तो मानना ही होगा कि इसमे दोष भी कम नहीं हैं। स्मृति के आधार पर बचपन की घटनाओ को अंकित करना दोष-

रहित नहीं होता। जो अनुभव सुखद होते हैं उनका प्रत्यवाहन (Recall) तो मनुष्य करने में सफल होता है किन्तु, दुखद अनुभवों की स्मृति प्रायः नहीं होती। अतएव इस प्रकार से बचपन के अनुभवों का उल्लेख करने में अशुद्धियाँ हो जाती हैं। इसके अतिरिक्त भी स्मृति अपने रचनात्मक स्वरूप (Constructive nature) को भी ऐसे उल्लेखों में प्रदर्शित करती है। इसलिये वास्तविक अनुभवों में कई प्रकार का घटाव-बढ़ाव आ जाता है।

४ प्रश्नावलि-पद्धति (Questionnaire Method)

चरित्र एवं आत्म-चरित्र लेखन विधि के दोषों से बचने के लिये विद्वानो ने बाल-अध्ययन के वास्ते प्रश्नावलि-पद्धति का व्यवहार किया। प्रारंभ मे तो जिस बच्चे विशेष का अध्ययन उपर्युक्त विधि से होता था उसी से तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाते थे और उसके विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। लेकिन यह विधि बहुत ही कष्टकर प्रतीत हुई। इसलिये पाठशाला के विद्यार्थियों से तरह-तरह के प्रश्नो को पूछने और उनका उत्तर लिखवाने की परिपाटी प्रारंभ हुई। इस प्रकार उनके सभी उत्तरों की तालिका तैयार करके उन उत्तरों की विश्वसनीयता (Reliability) एवं प्रतिपन्नता (Accuracy) को सांख्यिक विधि (Statistical Method) की कसौटी पर जाँच कर किसी प्रकार का सामान्य निष्कर्ष (General conclusion) निकाला जाता था। आज कल तो बच्चों के जीवन से आबद्ध विभिन्न प्रकार के प्रश्न छपे रहते हैं और उन प्रश्नो को उत्तर के लिए शिक्षक, संरक्षक और बच्चों के पास भेज दिया जाता है। इस प्रकार उन उत्तरों के आधार पर बच्चों के विषय में जानकारी प्राप्त की जाती है।

जी. स्टैनले हॉलने (G. Stanley Hall) अपने चार सहयोगियो के साथ बोस्टन स्कूल के विद्यार्थियो पर एक सौ तेईस प्रश्नों का उपयोग करके इस विधि के व्यवहार से उनके कई पहलुओं का अध्ययन किया। इसी विधि का व्यवहार हाल (Hall) तथा उसके विद्यार्थियो ने, जिनमें ई० बर्नीज (E. Barnes) का नाम उल्लेखनीय है, किया और तब से आज तक इसमें कई प्रकार के संशोधन हुए हैं। इस विधि से बच्चो के जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन करने के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई है और कई विद्वानो ने इसे और भी वैज्ञानिक बनाने के लिये कई प्रकार के सुझावों को भी उपस्थित किया है।

इस विधि के व्यवहार से बाल अध्ययन में काफी सहायता मिली है। इसके द्वारा बहुत से बच्चों का थोड़े समय में विभिन्न दृष्टिकोणों से अध्ययन

करना सुलभ हो गया है। शिक्षक या संरक्षक से जो प्रदत्त (data) मिलते है वे बहुत ही महत्व के प्रमाणित हुए हैं। ऐसी बातें अन्य साधनों से प्राप्त होना संभव नहीं है। लांग (Long) ने सन् १९४१ ई० में बच्चों के अवांछित व्यवहारो का अध्ययन संरक्षकों को प्रश्न देकर किया है जिससे इस कथन की सत्यता और भी अधिक प्रमाणित होती है। उसने इसका आश्रय लेकर बच्चों के ५७ अवांछित व्यवहारो तथा उनके प्रशिक्षित (Trained) करने के बीस साधारण उपायों का अध्ययन किया है। इस सम्बन्ध में उसका विचार यह था कि माता-पिता निरंतर बच्चो का निरीक्षण करते हैं, इसलिए वे जितना बच्चों के सम्बन्ध में व्यक्त कर सकते हैं उतना अन्य साधनो से सूचना प्राप्त करना संभव नहीं। हाँ, इतना अवश्य है कि माता-पिता के भाव (Feeling) या निरीक्षण की कमी के कारण कुछ दोष का होना स्वाभाविक है। लेकिन, इतना होते हुए भी बच्चों के विषय में इस विधि से जो जानकारी प्राप्त होती है वह प्रयोग विधि या शिक्षकों के द्वारा कदापि प्राप्त नहीं हो सकती है।

इन उपर्युक्त विशेषताओं के होते हुए भी इस विधि की कुछ त्रुटियाँ है। बुद्धि या समझ की कमी के कारण या तो बच्चे कुछ प्रश्नों को तिरस्कृत कर देते हैं और उनका उत्तर नहीं देते हैं या जो अन्वेषक (Investigator) जानना चाहता है उससे भिन्न ही उत्तर देते हैं। उनके उत्तरों को नियंत्रित करने का कोई साधन नहीं है, इसलिये यह भी नहीं जाना जा सकता है कि उत्तर ठीक दिया गया है या झूठा। इसके अतिरिक्त भी किशोरावस्था (Adolescent Period) में बच्चे उन प्रश्नों का उत्तर नही देना चाहते हैं जिनसे कि उनके व्यक्तित्व पर किसी प्रकार का प्रकाश पड़ता है। ऐसी अवस्था में वे अधिकांशतः असत्य उत्तर देते हैं। लेकिन, पाइल्स (Pyles, Stolz), प्रभृति विद्वानों ने इस विधि की सार्थकता का अध्ययन किया है जिसके आधार पर उनका कहना है कि जिन माताओं को एक बच्चा रहता है वे अधिक प्रतिपन्न सूचनाएँ देती हैं लेकिन, अधिक बच्चों की माताओ की सूचनाएँ उतनी प्रतिपन्न (Accurate) नहीं होती है।

मानसमिति-पद्धति (Psychometric Method)

मानसमिति (Psychometric) या परीक्षण पद्धति (Testing Method) के द्वारा बच्चों की बुद्धि, अभिरुचि, व्यक्तित्व आदि विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। पहले पहल अल्फ्रेड बिने (Alfred Binet) ने सन् १९०५ ई० में बच्चों की बुद्धि को जानने के लिये विभिन्न

आयु के लिये बुद्धि-परीक्षणों (Intelligence Tests) का निर्माण किया। तभी से अन्य विद्वानों ने भी बच्चों के अन्य शील-गुणों (Traits) को जानने के लिये कई प्रकार के परीक्षणों को बनाया है। सभी परीक्षण प्रमाणीकृत (Standardized) हैं और उन्हीं परीक्षणों के द्वारा नियंत्रित वातावरण में उनके विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। इस विधि से बच्चों के बारे में जो ज्ञान प्राप्त होता है वह पूर्णतः प्रतिपन्न और विश्वसनीय होता है। किंतु, परिस्थिति को नियंत्रित करने से कुछ कृत्रिमता आ जाती है और बच्चे संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं (Emotional Responses) का प्रदर्शन करने लगते हैं। इसलिये कभी-कभी परिणाम की प्रतिपन्नता (Accuracy of Result) में कुछ अंशों में कमी भी आ जाती है।

५ व्यक्तिगत निदान-पद्धति (Individual Diagnosis Method)

फ्रायड द्वारा प्रचारित मनोविश्लेषण पद्धति (Psychoanalytic method) का ही यह एक परिवर्तित एवं संशोधित रूप है। इसका उपयोग सामान्य बालकों के अध्ययन में नहीं होता, बल्कि असंतुलित (Maladjusted) बालकों के अध्ययन में होता है। इसके द्वारा उनके असंतुलन के कारण का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। पहले पहल इस विधि का व्यवहार विटमर (Witmer) ने सन् १८९६ ई० में किया था। आजकल खेल चिकित्सा (Play Therapy) का व्यवहार अधिक हो रहा है। अन्ना फ्रायड (Anna Freud) ने इसे पहले पहल अपनाया। खेलों के माध्यम से बच्चों के व्यक्तित्व की सुन्दर झाँकी मिलती है क्योंकि इस परिस्थिति में वे अपने भाव, विचार और इच्छाओं की अभिव्यक्ति स्वतः करते हैं। आम्स्टर (Amster) ने सन् १९४२ ई० में इस विधि की उपयोगिताओ को बहुत ही अच्छी प्रकार व्यक्त किया जिनके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। कॉन (Conn) ने भी इसकी उपयोगिता पर काफी प्रकाश डाला है। अब तो धूल, मिट्टी, कागज, पेंसिल, बालू आदि साधनो को बच्चों के खेलने के लिए एकत्रित कर दिया जाता है और बच्चों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं का स्वाभाविक रूप में अध्ययन किया जाता है। इसी विधि का आश्रय लेकर एलकिस (Elkish) ने बच्चो की कला तथा अन्य विद्वानो ने दूसरी कृतियों का अध्ययन किया है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इस विधि से बच्चो की समस्याओ (Problems) का अध्ययन करने के लिये मनोवैज्ञानिक को बच्चो के

बारे में विभिन्न साधनों से पर्याप्त सूचनाओं को एकत्रित करना आवश्यक है। माता-पिता तथा शिक्षक आदि की सूचनाएँ इस दिशा में विशेष महत्व-पूर्ण होती है। जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, इस विधि की उपयोगिता समस्या बालको (Problem children) के लिये ही है सामान्य बालकों के लिये नहीं। हाँ, अध्ययन की विश्वसनीयता और प्रति-प्रन्नता को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है लेकिन, यह विधि अभी तक कुछ प्रशिक्षित (Trained) मनोवैज्ञानिको तक ही सीमित है। इसलिए सभी इसका व्यवहार नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी इसका व्यवहार करने के लिए कम धैर्य (Patience) और समय की भी जरूरत नही पड़ती है।

नियंत्रित निरीक्षण-पद्धति

(Controlled Observation Method)

नियंत्रित निरीक्षण-पद्धति के द्वारा बच्चों का अध्ययन व्यवस्थित एवं नियंत्रित वातावरण में किया जाता है। यह चरित्र-लेखन पद्धति का ही विकसित एवं संशोधित रूप है। जहाँ उस विधि से किसी बच्चे विशेष का अव्यस्थित एवं अनियंत्रित परिस्थिति में अध्ययन किया जाता था वहाँ अब इसके द्वारा कई बच्चो का अध्ययन नियंत्रित एवं व्यवस्थित परिस्थिति में किया जाता है। अब आत्मगत (Subjective) अंगों में (Factors) को यथासंभव स्थान नहीं देने की ही कोशिश रहती है। इस अंग को निरा-करण करने के लिये निरीक्षण में प्रश्नावलि, चल-चित्र आदि साधनो की भी सहायता ली जाती है।

ओहियो स्टेट युनिवर्सिटी (Ohio-State University) में बच्चो के इस प्रकार के अध्ययन की सुन्दर व्यवस्था की गई है जहाँ तापमान (Temperature), प्रकाश (Light), ध्वनि (Sound) आदि अंगों को पूर्णतः नियंत्रित किया गया है। नवजात शिशुओं (Newborn Infants) की ज्ञानात्मक प्रतिक्रियाओं (Sensory Responses) का अध्ययन करने के लिए पहले पहल जर्मनी में नियंत्रित निरीक्षण विधि का व्यवहार किया गया था। और अब तो इसमें इतना सुधार हो गया है कि इसका अध्ययन पूर्णतः विश्वसनीय होता है। वाटसन् (Waston) ने इसी विधि को अपनाकर नवजात शिशुओं के संवेगों का अध्ययन किया।

इस विधि की उपयोगिता को गैसल (Gasell) ने अपने परिश्रमों से बहुत ही आगे बढ़ाया है। उसने बच्चों के अध्ययन के लिये चल-चित्र कैमरा (Moving Picture Camera) की भी व्यवस्था की। उसकी सहायता से बच्चों की प्रतिक्रियाओं का चित्र ले लिया जाता है। इस प्रकार बच्चों का अध्ययन करने के लिए ऐसे पर्दे की भी व्यवस्था की गई है जिसके द्वारा निरीक्षक (Observer) बच्चों की प्रतिक्रियाओं को देखने में समर्थ होता है लेकिन, वे निरीक्षक को नहीं देख पाते हैं। इसलिए उनकी सभी प्रतिक्रियाएँ स्वाभाविक होती हैं। कभी-कभी तो निरंतर निरीक्षण का भी प्रबन्ध किया जाता है और अधिक-से-अधिक निरीक्षकों के निरीक्षण का तुलनात्मक (Comparative) अध्ययन करने से किसी निश्चत निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है। बुहलर ने भी इस विधि का व्यवहार बहुत सफलता पूर्वक किया है। बार्कर और लुमिस (Barker and Loomis) ने इसका व्यवहार नर्सरी स्कूल के बच्चों के व्यवहारों के अध्ययन में किया है।

नियंत्रित निरीक्षण की जो उपयोगिता आधुनिक काल में है उसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता है। आज इसके प्रसाद से बच्चों का वैज्ञानिक अध्ययन संभव हो सका है। लेकिन, इसके प्रति भी कुछ विद्वानों ने आपत्तियाँ उठाई है। उनका इस सम्बन्ध में कहना है कि बच्चों को कृत्रिम वातावरण में रखने से उनकी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओ का अध्ययन नहीं होता है। इसलिए इस आलोचना को ध्यान में रख कर आज-कल प्रयोगशाला को घर के वातावरण में परिवर्तित करने का प्रयास किया गया है और उसे खिलौनों, कुर्सी, बिछोना आदि से सुसज्जित किया गया है। येल (Yale) की प्रयोगशाला, जहाँ इस प्रकार बच्चों का अध्ययन होता है, पूर्णतः गृह परिस्थिति की झाँकी देती है और बच्चे अपने को नई परिस्थिति में नहीं पाते हैं। दूसरी आलोचना इसके प्रति कुछ विद्वानों की यह है कि विभिन्न निरीक्षक बच्चों के व्यवहार का अपने दृष्टिकोण के अनुसार व्याख्या करते हैं। लेकिन, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि वैज्ञानिक वृत्ति अपनाने से इस दोष को दूर करना असंभव नहीं है। इसलिए इस विधि को अपनाना ही वैज्ञानिकों के लिये श्रेयस्कर है।

अब विभिन्न अध्ययन विधियों का विवेचनात्मक उल्लेख करने के बाद निष्कर्ष-स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यद्यपि बच्चों के व्यवहारों का अध्ययन करने में कई प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं लेकिन, मनोवैज्ञानिकों ने जिन विधियों का आश्रय बच्चों का अध्ययन करने के लिये लिया

है उनसे यह स्पष्ट है कि उन कठिनाइयों के रहते हुए भी बच्चों का वैज्ञानिक अध्ययन करना पूर्णतः संभव है। हाँ, इसके लिये धैर्य, प्रशिक्षण, और वैज्ञानिक वृत्ति का होना आवश्यक है। तभी किसी मनोवैज्ञानिक को अपने प्रयत्न में सफलता मिल सकती है।

६. उपयोगिता

बाल मनोविज्ञान की उपयोगिता पर प्रकाश डालने के पहले यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि सभी माता-पिता तथा शिक्षक अपने बच्चों को सफल सामाजिक प्राणी बनाने के लिये अभिलषित रहते है। किंतु अभिलाषा मात्र से ही कुछ नही होता बल्कि करने से होता है। जब तक बाल मनोविज्ञान का इतना प्रचार नहीं था और जब तक माता पिता को बाल मनोविज्ञान के सिद्धान्तो का इतना ज्ञान नहीं था तब तक अभिलाषा के रहते हुए भी वे अपने वच्चो का हित करने मे असमर्थ थे। किंन्तु अब वह दशा नहीं है। इस समय जितने भी माता-पिता बाल मनोविज्ञान के सिद्धान्तो से परिचित हैं वे अपने बाल-बच्चों का पालन-पोषण मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं। अब यह बात उनसे छिपी हुई नही है कि बच्चो का मन आरम्भ में इतना कोमल होता है कि उन पर जैसा संस्कार (Inipression) जमता है, वह जीवन भर के लिये वना रह जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अब वे अच्छी तरह जान गये हैं कि बच्चो का बनना विगड़ना अधिकांशतः माता-पिता पर निर्भर करता है। जो माता-पिता शिक्षित हैं तथा बाल मनोविज्ञान से परिचित हैं वे अपने बच्चो की शारीरिक और मनोवैज्ञानिक (Psychol-ogical) आवश्यकताओं को जानते हैं और उनकी पूर्ति भी समुचित रूप से करते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति यदि उचित ढंग से नहीं होती है तो उनमें कई तरह के दोष आ जाते हैं। अतः अब पहले की तरह उनकी आवश्यकताओ का दमन नहीं किया जाता है, जिसके परिणाम स्वरूप बच्चो मे उतने दोष नहीं आने पाते जितने कि पहले। बाल मनोविज्ञान से अनभिज्ञ माता-पिता पहले बच्चों का खेलना-कूदना और साथियों से मिलना पाप समझते थे, इसलिए वे अपने बच्चो को एकान्त और निष्क्रिय जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य करते थे। परन्तु अब जो लोग बाल मन के स्वरूप और उनकी विभिन्न आवश्यकताओ से परिचित हैं वे भलीभाँति जानते हैं कि बच्चों का खेलना और स्वभाविक जीवन व्यतीत करना उनके बौद्धिक और शारीरिक विकास के लिये नितान्त

आवश्यक है। अतः माता-पिता खेलने के लिये अपने बच्चों को शारीरिक दंड नहीं देते बल्कि उनकी आवश्यकतानुसार उनके खेलों के सामानों का प्रबन्ध करते तथा अन्य बच्चों के साथ समुचित रूप से सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं।

वातावरण का जो प्रभाव बच्चों के व्यक्तित्व के विकास पर पड़ता है वह शिक्षित माता-पिता से छिपा हुआ नहीं है, इसलिए वे अब बच्चों के योग्य वातावरण रखने का निरन्तर प्रयास करते हैं। बच्चों के समक्ष वे पारस्परिक संघर्ष (Conflicts) को प्रदर्शित नहीं करते और न तो झूठ बोलना, चोरी करना आदि ही सिखलाते हैं। यदि किसी कारणवश उनमें ये दोष आ जाते हैं तो इसके लिए उन्हें डाँटते-फटकारते नहीं हैं बल्कि बहुत ही मनोवैज्ञानिक ढंग से उन दोषों के दुष्परिणाम को समझाते और दूर करते हैं। अब उन्हें वे अनावश्यक लाड़-प्यार करके उनके जीवन को निकम्मा नहीं बनाते अपितु उन्हें स्वावलम्बन (Self dependence) का व्यावहारिक पाठ पढाते हैं, जिससे वे आगे चल कर अपने जीवन-संग्राम में सफल मनोरथ होते हैं।

बाल-मनोविज्ञान से परिचित माता-पिता अपने उन बच्चों को जिनमें किसी तरह की शारीरिक कमी (Defect) है, लज्जित नहीं करते और न तो अपने और उनके भाग्य को ही कोसते हैं; बल्कि उनके साथ भी वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा कि अन्य सामान्य बच्चों के साथ। इसका परिणाम यह होता है कि बच्चे में हीन-परिज्ञान (Inferiority feeling) के भाव अंकुरित होने का अवसर नहीं मिलता और आगे चल कर वह अपने को समाजोपयोगी बनाने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं बल्कि पहले की भाँति अपने बच्चों से माता-पिता उनकी अभिरुचि और योग्यता के प्रतिकूल काम नहीं करवाते। इसलिये रुच्यानुसार अपनी योग्यता के अनुरूप वे जिन कामों को करते हैं उनमें सफलता मिलती है, जिससे कि उनमें आत्मविश्वास (Self-confidence) बढ़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक युग में बाल मनोविज्ञान के प्रसाद से माता-पिता अपने बच्चों का लालन-पालन मनोवैज्ञानिक ढंग से करते हैं जिसके फलस्वरूप वे सामाजिक प्राणी बनने में अपने को सफल पाते हैं।

शिक्षाशास्त्रियों के लिये भी बाल-मनोविज्ञान कम महत्व का नहीं है। प्राचीन काल में जब शिक्षकों को बाल मन का ज्ञान नहीं था उस समय वे उन्हें जो शिक्षा देते थे उससे उनका किसी प्रकार का उपकार नहीं होता

था। अपनी अनभिज्ञता के कारण वे अपने विद्यार्थियों के जीवन को भार-स्वरूप बना देते थे। उनके छोटे-छोटे अपराधों के लिए कड़ा दंड देना और नीरस तथा निरर्थक विषयो को रटवाना ही वे अपना एक मात्र कर्त्तव्य समझते थे। मनोरंजन और खेल-कूदों से वे उन्हें इतना दूर रखते थे कि उनके जीवन में किसी तरह का आनन्द नहीं रहता था। इस प्रकार न तो उनके मन का ही विकास सुचारु रूप से होता था और न शरीर का ही, जिसके परिणामस्वरूप उनका विद्यार्थी जीवन कष्ट-मय रहता था। कमजोर बच्चो को पीटना, दोषी और अपराधी बच्चों को भरी सभा में लज्जित करना बहुत ही आसान काम था। इसका इतना दुःखद परिणाम होता था कि ऐसे बच्चो के लिए विद्यार्थी जीवन आनन्द का जीवन न रह कर बहुत बड़े प्रायश्चित्त का जीवन बन जाता था, किन्तु हर्ष का विषय है कि अब वह समय जाता रहा। प्रायः सभी शिक्षको को बाल मनोविज्ञान को जानना आवश्यक हो गया है। शिक्षक होने के लिए अब प्रशिक्षण लेना आवश्यक हो गया है ताकि शिक्षक बालकों के स्वभाव (Nature) से पूर्णतः परिचित हो पाएँ और वे भलीभाँति जान जाएँ कि उन्हें कैसी शिक्षा आवश्यक है।

शिक्षक अब बच्चों का अध्यापन मनोवैज्ञानिक ढंग से करते है। विषय इस ढंग से पढाया जाता है कि वह रुचिकर मालूम होता है। सभी विद्यार्थियो की बुद्धि की परीक्षा कर ली जाती है और उनके- बुद्ध्यनुसार ही विषय उन्हें पढाया जाता है जिससे उन्हें विषय कठिन मालूम नहीं होता है। पढ़ाते समय इस बात का अधिक ध्यान रक्खा जाता है कि पढाये जाने वाले विषय विद्यार्थी की योग्यतानुरूप हो। जो बच्चे मानसिक दुर्बलता (Mental deficiency) से पीड़ित रहते हैं उन्हे सामान्य बालको का पाठ्यक्रम पढने के लिये विवश नही किया जाता है, बल्कि उनको ऐसा ही विषय पढ़ाया जाता है जो उनकी जीविकोपार्जन में सहायक सिद्ध हो सके। आधुनिक युग में मनोरंजन तथा खेल-कूद, शिक्षा के प्रधान अंग समझे जाते हैं। इसलिए पाठशालाओं में सभी तरह के खेलने-कूदने तथा अन्य प्रकार के मनबहलाव का काफी साधन रहता है। शिक्षक गण स्वयं भी ऐसा आचरण प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं जिससे बच्चो को चरित्र-निर्माण (Character formation) में काफी मदद मिलती है। विद्यार्थी अपने विषय को अच्छी तरह जानने-समझने की कोशिश करें, इसके लिए शिक्षकों तथा सरकार की ओर से पुरस्कार, वृत्ति आदि के रूप मे पर्याप्त प्रोत्साहन दिया जाता है। पढने लिखने में कमजोर विद्यार्थियो को उनकी

कमजोरी के लिए लज्जित नहीं किया जाता बल्कि उनकी कमजोरी को दूर करने का मनोवैज्ञानिक प्रबन्ध किया जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि जिस विद्यार्थी की रुचि और प्रकृति जिस विषय में होती है उसे वही विषय पढाया जाता है और परिणामतः बच्चे अपने विद्यार्थी जीवन में अच्छा करते हैं। हर्ष का विषय है कि अब हमारी राष्ट्रीय सरकार प्रारम्भ से ही विद्यार्थियों की योग्यता और अभिरुचि के अनुसार उनके पढ़ाने का प्रबन्ध कर रही है। शिक्षा-क्षेत्र को बाल-मनोविज्ञान का जितना श्रेय प्राप्त है उसका उल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं।

आधुनिक न्यायालय भी बाल-मनोविज्ञान के प्रसाद से वंचित नहीं है। पहले अपराधी बच्चों को (Delinquent children) को कारावास का दण्ड दिया जाता था। किन्तु अब उन्हें कारावास का दण्ड देने का विधान नहीं है। यदि कोई बालक किसी प्रकार का अपराध करता है तो उस दोष को प्रमाणित करने के लिए अब वकील को न्यायालय मे जाने की जरूरत नहीं पड़ती है। जब कोई अपराधी बालक मिलता है तो उसके लिए एक विशिष्ट न्यायाधीश की नियुक्ति होती है जो बच्चे के माता-पिता, मनोवैज्ञानिक आदि की सहायता से उसके अपराध के कारणों को जानने का प्रयास करता है। जब उसे कारणों का पूरा पता लग जाता है तब वह उन कारणों को दूर करने की कोशिश करता है ताकि बालक भविष्य मे अपराध कार्य नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त भी ऐसे बच्चों के लिए परिक्ष्यमाणकाल (Probation period) तथा जेलो में अध्ययन की व्यवस्था की गई है। भारतवर्ष मे जहाँ अभी ऐसे न्यायालयों का अभाव है बच्चों से जेल जीवन में कठिन काम न लेकर उनको पढाया-लिखाया जाता है।

वर्त्तमान में औपचारिक क्षेत्र में भी बाल-मनोविज्ञान के सिद्धान्तों का ससादर किया जाता है और बच्चों की संवेगात्मक गड़बड़ी (Emotional disturbances) तथा अन्य प्रकार की मानसिक व्याधियों (Mental diseases) का उपचार उनके खेलों, अभिरुचियो आदि के आधार पर किया जाता है। अभियोजन विकृतियो को दूर करने के लिये बाल-मनोविज्ञान कितना उपयोगी सिद्ध हुआ है यह मनोविज्ञान के पाठको से छिपा हुआ नहीं है। अन्त में हम यही कहना पर्याप्त समझते हैं कि बाल-मनोविज्ञान की उपादेयता जीवन के सभी क्षेत्रो में परिलक्षित होती है।

दूसरा अध्याय

आनुवंशिकता तथा वातावरण

(Heredity and Environment)

१. विषय-प्रवेश

बालकों के मौलिक स्वरूप (Original Nature) और उनके विकास को अच्छी तरह से समझने और नियंत्रित करने के लिये आनुवंशिकता तथा वातावरण (Heredity and Environment) का अध्ययन करना आवश्यक है। हमारा नित्यप्रति का अनुभव इसका साक्षी है कि बच्चे रूप-रंग, चाल-ढाल, शरीर-रचना तथा अन्य शीलगुणों (Traits) में अपने माता-पिता, पितामह आदि के अनुरूप होते हैं। किन्तु यह अनुरूपता भी सभी पहलुओं में नहीं पाई जाती है। कभी-कभी तो एक ही माता-पिता के दो बच्चों के रूप-रंग तथा अन्य शीलगुणों में इतना अन्तर होता है कि कोई भी इस पर विश्वास करने के लिये तैयार नहीं होता कि वे एक ही वंश के हैं। अब प्रश्न यह है कि शिशुओं में यह अनुरूपता और विभिन्नता क्यों ? यदि इस प्रश्न का उत्तर निष्पक्षतया दिया जाय तो यही कहा जा सकता है कि ये अन्तर आनुवंशिकता और वातावरण के फल-स्वरूप है। किन्तु सभी मनोवैज्ञानिकों में इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है क्योंकि कुछ लोगों ने आनुवंशिकता के ही महत्व को व्यक्त किया है और कुछ विद्वानों ने वातावरण के ही महत्वों की गाथा गाई है और आनुवंशिकता की पूर्णतः उपेक्षा की है। यहाँ हम आनुवंशिकता का विशद विवेचन न करके अपना काम चलाने के लिये केवल इतना ही व्यक्त करेंगे कि शिशुओं को इसकी और वातावरण की क्या देन है ; क्योंकि आनुवंशिकता की विशद व्याख्या और विवेचना जीव-विज्ञान (Biology) का काम है। जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, कुछ मनोवैज्ञानिक आनुवंशिकता पर, जिसे परम्परा या वंशानुक्रम भी कहते हैं, और कुछेक वातावरण पर इस प्रकार जोर दिये हैं मानो ये दोनों अंग बाल-विकास में अलग-अलग काम करते हैं। किन्तु उनका ऐसा कथन दोषपूर्ण है, कारण कि ये दोनों अंग बाल-जीवन को इस प्रकार प्रभावित करते हैं कि इन दोनों में से किसी को भी अलग नहीं

किया जा सकता। इसके सम्बन्ध में आगे चलकर स्थल विशेष पर पर्याप्त रूप से प्रकाश डाला जायेगा। अब हम क्रमशः आनुवंशिकता और वातावरण की व्याख्या और उनके समर्थकों के अन्वेषणों का संक्षिप्ततः उल्लेख करेंगे।

२. आनुवंशिकता और उसका महत्व

(१) आनुवंशिकता :—सामान्यतः बच्चों या सयानों में दो प्रकार की विशेषताएँ पाई जाती हैं। कुछ विशेषताएँ तो उनकी जन्मजात (Inborn) और जातीय (Racial) होती हैं यथा, शरीर-रचना, रूप-रंग आदि और कुछ अर्जित (Acquired) तथा विशिष्ट (Specific) होती हैं यथा, पढना, लिखना, साइकिल चलाना आदि। जन्मजात जातीय विशेषताओं को ही आनुवंशिक अथवा परम्परागत कहा जाता है। जातीय गुणो को बच्चे अपने माता-पिता या पूर्वजो से प्राप्त करते हैं और अर्जित (Acquired) गुणों को अपने जीवन के अनुभव से। इस प्रकार वे जब अपने गुणो को अपने माता-पिता या पूर्वजो से प्राप्त करते है तो उन्हें हम वंशानुक्रम से प्राप्त कहते हैं। किन्तु जो गुण पूर्व पुरुषो से प्राप्त न होकर अनुभव से प्राप्त होते हैं उन्हें अर्जित गुण कहते हैं। दूसरे शब्दो में हम वंशश्रृंखला को ही वंशानुक्रम कह सकते है।

महान जीव-विज्ञान वेत्ता कांकलिन का कहना है कि जीवाणु-संगठन (Germinal organisation) के निश्चित बीजतत्वो (Elements) की एक वंश से दूसरे वंश की निरन्तरता (Continuity) ही आनुवंशिकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवाणु-संगठन के द्वारा जिन गुणों का निर्धारण होता है उन्ही को हम बपौती (Heritage) अथवा वांशिक कहते है। इसे दूसरे शब्दों मे कहा जा सकता है कि जो जातीय बीजरस (Germplasm) के द्वारा एक वंश से दूसरे वंश को प्राप्त होता है वही आनुवंशिक है। इन विभिन्न व्याख्याओं को ध्यान में रखते हुए हम थोड़े शब्दो मे पुनरावृत्ति दोष होते हुये भी कह सकते हैं कि जो कुछ हमें अपने पूर्वजो से प्राप्त होता है वह प्राप्ति आनुवंशिकता के प्रसाद से होती है।

(२) आनुवंशिकता का महत्व :—कुछ मनोवैज्ञानिकों का ऐसा दृष्टिकोण है कि बच्चा शारीरिक-रचना और रूप-रंग मात्र ही वंशानुक्रम से प्राप्त नहीं करता है; वल्कि मानसिक योग्यता और धातुस्वभाव (Temperament) आदि भी उसे वंशानुक्रम से ही प्राप्त होते हैं।

सर्व प्रथम गाल्टन महोदय ने प्रतिमा-प्रकार (Image-type) का

अध्ययन करके यह उद्घोषित किया कि प्रतिभा की योग्यता मनुष्य में आनुवंशिक होती है। जिस परिवार के पूर्व पुरुषो में इसकी योग्यता का अभाव रहता है उस परिवार के शिशुओं में भी इसका पूर्णतः अभाव रहता है। अतः प्रतिभा-प्रकार पूर्णतः वंशानुक्रम पर निर्भर करता है।

गाल्टन ने पुनः वंशानुक्रम के महत्व को प्रदर्शित करने के लिये ९७७ उच्च परिवार के व्यक्तियों का, जिनमें राजनीतिज्ञ, न्यायाधीश, वकील आदि थे, अध्ययन उसी संख्या के साधारण परिवार के लोगो के साथ किया। उसके अध्ययन से यह मालूम हुआ कि उच्च व्यक्तियों के अधिकांश संबंधी उच्च श्रेणी के थे किन्तु साधारण लोगों के वंश में ऐसे लोगो की संख्या बहुत ही कम थी।

कलात्मक योग्यता (Artistic Ability) आनुवंशिक है कि नहीं, इसकी परीक्षा के लिये उन्होने ऐसे बीस परिवारो का अध्ययन किया जिनमे दोनो माता-पिता कलाकार थे। एक सौ पचास ऐसे परिवारो का भी अध्ययन इस सिलसिले में हुआ जिनमे दोनो पक्ष (माता-पिता) कला-विहीन थे। इन दोनों अध्ययनो से यही मालूम हुआ कि जिस परिवार मे माता-पिता दोनो कलाकार थे उसके चौंसठ प्रतिशत लडके कलाकार थे किन्तु जिसमें इसका अभाव था उस परिवार में कलाकार बच्चो की संख्या केवल इक्कीस प्रतिशत थी। इन अध्ययनो के आधार पर गाल्टन महोदय का कहना है कि सुन्दरतम वातावरण भी किसी बच्चे को उसकी योग्यता से अधिक उच्च बनाने मे असमर्थ है। जो कुछ होता है वह वंशानुक्रम के ही प्रसाद का फल है।

कार्लपियर्सन ने भी आनुवंशिकता के महत्व को देखने के लिये दो हजार भाई-बहनों का अध्ययन विभिन्न दृष्टिकोणो से उनके शिक्षको के मूल्यांकन के आधार पर किया। अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बच्चो के सभी मानसिक और शारीरिक शीलगुण उन्हें वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं।

हम उपर्युक्त अध्ययनों के आधार पर ही आनुवंशिकता की सर्व व्यापकता को स्वीकार नहीं कर सकते। पहली बात तो यह कि गाल्टन ने जिन प्रमुख व्यक्तियों का अध्ययन किया उनका चुनाव वह स्वच्छन्द होकर किया था जिसमें पक्षपात अथवा अन्य प्रकार के दोषों का होना स्वाभाविक है। फिर भी उन व्यक्तियों पर वातावरण का असर कुछ नही पडा, यह कहना बहुत कठिन है क्योंकि जैसा कि उसके अध्ययन से स्पष्ट है उन सभी व्यक्तियों का कुछ पारिवारिक वातावरण ही ऐसा उच्चकोटि का था कि

उसकी उपेक्षा हम नहीं कर सकते। पियर्सन का कहना भी निर्दोष नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिक्षको ने मूल्यांकन द्वारा बच्चों के शीलगुणों का निर्णय किया था। यह मूल्यांकन विधि कितनी दोषपूर्ण है इस पर आगे के अध्यायों में प्रकाश डाला जायेगा। इसके अतिरिक्त भी शिक्षकों को इस मूल्यांकन का मकसद (Aim) पहले से मालूम था, अतएव इस विचार से प्रभावित होना उनके लिये स्वाभाविक था।

टरमन ने ६४४ बुद्धिमान बच्चों का अध्ययन किया और वह इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि बुद्धि (Intelligence) में आनुवंशिकता का महत्व है क्योंकि इसे बच्चे अपने पूर्वजों से प्राप्त करते हैं। उसके अन्वेषण से यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त बुद्धिमान बच्चों का परिवार भी बुद्धिमान होने के कारण राज्य के उत्तरदायित्वपूर्ण कार्यों को सँभालता था।

गोडार्ड ने अमेरिका निवासी कालिकाक नामक सैनिक के परिवार का अध्ययन किया। उक्त सैनिक ने एक मन्दबुद्धि (Mentally deficient) महिला के साथ अपना वैवाहिक सम्बन्ध प्रस्थापित किया जिसके परिणामस्वरूप उसके परिवार में उक्त महिला की सभी सन्तानें और उपसन्तानें मन्दबुद्धि, दुराचारी, शराबी, अपराधी आदि हुईं। किन्तु उसकी दूसरी स्त्री जो सामान्य बुद्धि की थी जिन सन्तानो को उत्पन्न की उनमें यह दोष नही पाया गया। इस अध्ययन के आधार पर गोडार्ड का कहना है कि पहली स्त्री से सम्बन्धित सभी सन्तानों में सभी दोष उसकी मन्दबुद्धि के कारण थे। जिससे यह स्पष्ट है कि मन्दबुद्धि तथा अन्य सामाजिक दोष वंशानुक्रम से प्राप्त होते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि संभवतः यह दोष उन सन्तानो मे अनुपयुक्त वातावरण के कारण थे। यदि उन्हें समुचित वातावरण मिला होता तो उपर्युक्त दोष उनमें नहीं देखे जाते।

पुनः गोडार्ड ने ३०० मन्दबुद्धियों के परिवार के इतिहास का अध्ययन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि ७७ प्रतिशत दोष का उत्तरदायी वंशानुक्रम ही था। किन्तु डॉल ने जब १९३४ ई० में मन्दबुद्धि के कारणो का अन्वेषण किया तो उसे ३३ प्रतिशत ही यह दोष वंश-परम्परा के कारण प्रतीत हुआ। उसी पथ का अनुसरण पेनरोज ने भी किया और उसे भी डॉल के ही अनुसार निष्कर्षों पर पहुँचना पड़ा। इसलिये इन उपर्युक्त अध्ययनो से यह स्पष्ट है कि मानसिक दुर्बलता (Mental deficiency) का वंशानुक्रम ही एकमात्र कारण नही है अपितु इसमें वातावरण संबंधी अंगों का भी हाथ रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोडार्ड के निष्कर्ष को डॉल और

पेनरोज के अध्ययन खंडित कर देते हैं क्योंकि यदि मानसिक दुर्बलता का एकमात्र कारण आनुवंशिक होता तो उनके परिणामों में इतना अन्तर नहीं पड़ता।

डग्डेल और स्टाब्रुक ने अमेरिका के ज्युक्स वंश का अध्ययन किया जिसका जन्मदाता ज्युक्स नामक शिकारी मछलियों को मारकर अपना जीवन निर्वाह करता था। इस वंश के (१०००) एक हजार व्यक्तियों के जीवन-इतिहास (Case-history) से यह ज्ञात हुआ कि उनमें से २०० बचपन में ही काल के गाल में चले गये, २१० भिक्षा-वृत्ति को अपनाये, २४० जीवन पर्यन्त व्याधिग्रस्त रहे और १२० को अनेक कारणों से कारावास दण्ड मिला जिनमें सात हत्यारे भी थे। जो लोग किसी प्रकार अपनी जीविका निर्वाह कर सके उन लोगों की संख्या केवल बीस थी। डग्डेल ने इसका एकमात्र कारण ज्युक्स तथा उसकी स्त्री, जो एक भ्रष्ट परिवार की थी, उसको मानकर वंशानुक्रम के महत्व को व्यक्त किया है किन्तु यहाँ भी हमें वातावरण की अवहेलना नहीं करनी चाहिये। यदि वातावरण अनुकूल और सम्पन्न रहता तो ज्युक्स परिवार की यह अवगति नहीं देखने में आई होती।

विंशिप ने आनुवंशिकता के महत्व को अभिव्यक्त करने के लिये एडवर्ड परिवार का अध्ययन किया। रिचार्ड एडवर्ड ने एलिजाबेथ नामक बुद्धिमती महिला से ब्याह किया और बाद में एक साधारण स्त्री से भी उसने शादी की। पहली स्त्री से उत्पन्न अधिकांश व्यक्ति प्रतिष्ठित पदों को सुशोभित किये किन्तु दूसरी स्त्री से उत्पन्न लोगों में कोई भी वैसा नहीं हो सका। इसी आधार पर विंशिप का कहना है कि बाल-विकास में वंशानुक्रम का महत्वपूर्ण हाथ रहता है ; किन्तु इस स्थल पर भी हमें वातावरण के महत्व को भूलना नहीं है। यह भिन्नता दो स्त्रियों से उत्पन्न संतानों के वातावरण की भिन्नता का भी परिणाम हो सकता है। ऊड्स ने भी ६७१ राजकीय परिवारों का अध्ययन किया और वंशानुक्रम के ही महत्व को पाया जिसके विशेष वर्णन की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है।

उपर्युक्त अन्वेषणों के अतिरिक्त भी अनेक विद्वानों ने जुड़वे बच्चे (Twins) का अध्ययन करके आनुवंशिकता के महत्व को प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इस दिशा में भी सर्व प्रथम गाल्टन का प्रयत्न स्तुत्य है। उन्होने अस्सी जुड़वे बच्चों का अध्ययन माता-पिता, शिक्षक, मित्र तथा अन्य साधनों की सहायता से किया और अन्त मे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि समान जुड़वे बच्चों की मानसिक योग्यता और अन्य विशेषताएँ असमान

जुड़वे बच्चों या भाई-बहनों की अपेक्षा अत्यधिक समान स्वरूप की होती हैं। कहने का सारांश यह है कि जितनी समानता विभिन्न पहलुओं में जुड़वे बच्चे में होती है उतनी भाई-बहनो या असमान जुडवे बच्चों में नहीं होती। इससे यह स्पष्ट है कि बच्चो की मौलिक योग्यताओं का पूर्ण श्रेय वंशानुक्रम को ही है।

थार्नडाइक ने भी १९०५ ई० में पचास जुडवे बच्चो का अध्ययन उनकी मानसिक समानता जानने के लिए छः प्रकार के मानसिक परीक्षणों (Mental Tests) द्वारा किया। उसी दृष्टिकोण और उन्हीं परीक्षणों द्वारा उसने भाई-बहनो की मानसिक शक्तियों का अध्ययन किया। बाद में उसने उन जुड़वे बच्चो को दो भागो में विभाजित कर दिया। पहली श्रेणी में नौ वर्ष से ग्यारह वर्ष के बच्चे थे और दूसरी में बारह से चौदह तक की अवस्था के थे। परीक्षण करने पर दूसरी श्रेणी के बच्चों की मानसिक शक्तियों मे पहली श्रेणी की अपेक्षा अधिक समता नहीं थी। इसलिये थार्नडाइक का कहना है कि यदि इन शक्तियो पर वातावरण का प्रभाव होता तो दूसरी श्रेणी के बच्चो में अधिक समानता रहती किन्तु ऐसा नहीं था। अतएव आनुवंशिकता की ही प्रधानता बच्चो की मूल शक्तियो के लिये स्वीकार करना आवश्यक और उचित है। इसी तरह और भी कई मनोवैज्ञानिको ने इस सम्बन्ध मे जुडवे बच्चो का अध्ययन किया है और सभी का यही निष्कर्ष है कि बालकों की विभिन्न मूल शक्तियो का श्रेय वंशानुक्रम को ही है। पर यहाँ भी हमें यह याद रखना होगा कि होलजिङ्गर ने अपने अध्ययन से यह प्रमाणित कर दिया है कि जुड़वे बच्चो की समानता और असमानता मे वातावरण और वंशानुक्रम का बराबर हाथ रहता है। इतना ही नहीं, बल्कि उसका तो यहाँ तक कहना है कि वातावरण आनुवंशिक्ता के प्रभाव को समाप्त भी कर देता है। ब्लाट्ज और उसके अनुयायियों का भी यही कहना है। न्युमैन ने जुड़वे बच्चों को अलग-अलग विभिन्न वातावरण में रखकर आनुवंशिकता पर जोर देने वाले मनोवैज्ञानिको के दृष्टिकोण को भ्रामक सिद्ध कर दिया है। उसने जब दो जुड़वे बच्चों को अलग-अलग रक्खा तो बहुत दिनों के बाद जब उनकी परीक्षा की गई तो ज्ञात हुआ कि यद्यपि वे दोनों बच्चे संवेगात्मक जीवन मे समान थे तथापि उनमें शिक्षा और बुद्धि में अत्यधिक अन्तर था। इसी तरह और भी कई मनोवैज्ञानिकों के अन्वेषणों से वंशानुक्रम का अकाट्य महत्व परिलक्षित नहीं होता। कुर्टी का भी दृष्टिकोण है कि आनुवंशिकता का महत्व वातावरण के सामने

समाप्त हो जाता है। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि जिन मनोवैज्ञानिकों ने बाल-विकास में एक मात्र महत्व वंशानुक्रम को दिया है उनका ऐसा कहना नितांत दोषपूर्ण है क्योंकि इसमें सत्यता होते हुये भी हम वातावरण की उपेक्षा नहीं कर सकते।

३. वातावरण तथा उसका महत्त्व

(१) वातावरणः—हम ऊपर आनुवंशिकता के पक्ष में विभिन्न मनोवैज्ञानिको के अन्वेषणो का अध्ययन कर चुके हैं और इस पर भी प्रकाश डाल चुके है कि उनके विपक्षी मनोवैज्ञानिको ने क्योंकर उनके निष्कर्ष को खंडित किया है। यहाँ हम वातावरण के पक्ष में दिये गये प्रमाणों का उल्लेख करेंगे ओर यह देखेंगे कि उनमें कहाँ तक सत्यता है किन्तु इसके पहले वातावरण की व्याख्या कर देना आवश्यक है।

साधारणतः लोगों का ऐसा दृष्टिकोण है कि व्यक्ति के अतिरिक्त जो कुछ वाह्य विश्व मे वर्त्तमान है, वही वातावरण है। इसके अनुसार जन्मोपरांत ही जीव (Organism) वातावरण में आता है किन्तु यह विचार पूर्णतः भ्रामक है। वस्तुतः गर्भ के अन्दर भी जीव अपने वातावरण से घिरा रहता है और जन्म लेने के बाद तो कोई बात ही नही क्योंकि उस समय उसका वातावरण बहुत ही प्रशस्त हो जाता है। माता के गर्भ में शिशु अपने से अतिरिक्त जो होता है उस वातावरण से घिरा रहता है परन्तु उसकी सीमा अत्यन्त सीमित रहती है। इस प्रकार हम देखते है कि वातवरण दो प्रकार का होता है—आन्तरिक (Internal) और बाह्य (External)। जन्म के पहले जीव आन्तरिक वातावरण से घिरा रहता है और जन्मोपरान्त बाह्य वातावरण से। रक्त-संचार (Circulation of Blood), पाक-क्रिया (Metabolism), आभ्यन्तर रसस्राव (Secretion of glands) आदि आन्तरिक और पेड़-पौधे, समाज आदि बाह्य वातावरण के अन्दर आते हैं। इसलिये हम यह कह सकते हैं कि जीव के अतिरिक्त जन्म के पूर्व या बाद में जो कुछ भी विद्यमान रहता है और जिससे वह घिरा रहता है उसे वातावरण कहते हैं।

(२) वातावरण का महत्वः—वातावरण के महत्व को प्रदर्शित करने के लिये वातावरणवादियों (Environmentalists) का प्रयास भी कम महत्व का नहीं है। बाल-विकास में इसका क्या हाथ है, इसको व्यक्त करने के लिये अपने पक्ष में उन लोगों ने अकाट्य प्रमाणों को उपस्थित किया

है। गर्भस्थ शिशुओं (Fetus) पर आन्तरिक वातावरण के प्रभाव को देखने के लिये कई कारणोंवश मनुष्य पर तो प्रयोग नहीं हो सका है किन्तु छोटे-छोटे जानवरो पर प्रयोग किया गया है। उन प्रयोगात्मक परिणामों से बाल-विकास में आन्तरिक वातावरण का जो हाथ रहता है उसे दिखलाया गया है। उन अन्वेषणों का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि माता के खाने, पीने, अन्तस्थ ग्रन्थियों के स्राव आदि का असर गर्भस्थ शिशु के विकास पर अत्यधिक पड़ता है।

वातावरण के पक्ष को पुष्ट करते हुये वातावरणवादी फ्रांस के एक बच्चे की घटना का उल्लेख करते हैं जो अपने शैशवकाल में ही दुर्भाग्यवश मनुष्यों के समाज से अलग होकर जंगली जानवरों के समाज में पड़ गया था। जब किसी तरह बहुत वर्षों बाद वह पुनः समाज में लाया गया तो उस समय उसमें सभी व्यवहार जंगली जानवरों की ही तरह थे। उसकी वाणी शक्ति अवरुद्ध हो गई थी, इसलिये वह ध्वनिमात्र ही करता था। किसी तरह उसकी भाषा में स्पष्टता नहीं दृष्टिगोचर होती थी। जानवरों की तरह वह नंगा रहना पसन्द करता था इसलिये कपड़ों से शरीर ढकने की उसकी इच्छा नहीं होती थी। दौड़ने, कच्चा मांस खाने और अन्धेरे में देखने आदि की सभी क्रियायें जानवरों के ही समान होती थीं। इसलिये मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बच्चे में ये सभी विशेषतायें उसके वातावरण के ही फलस्वरूप थीं। यदि वह सामाजिक वातावरण में पालित-पोषित हुआ होता तो उसमें जानवरों के व्यापार परिलक्षित नही होते। अतएव यह निर्विवाद है कि वातावरण के अनुरूप ही हमलोगों की विभिन्न शक्तियों का विकास होता है और यही सब कुछ है।

इस दिशा मे दूसरा अकाट्य प्रमाण उन दो लड़कियो का दिया जाता है जो आज से कुछ वर्षों पहले भेड़िए की कन्दरा मे पाई गई थीं। पहली बालिक जिसकी उम्र चार वर्ष की थी थोड़े दिनों के बाद मर गई किन्तु दूसरी लड़की जिसकी अवस्था आठ वर्ष के लगभग थी और जिसका नाम कमला था बहुत दिनों तक जीवित रही। वह बालिका भेड़िए की तरह अपने हाथ-पैरों के बल चलती थी और उसी की भाषा बोलती थी। भोजन भी कच्चा मांस ही पसन्द करती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि उसका स्वरूप आदमी का था किन्तु उसकी सभी क्रियाये भेड़िये के ही समान थी। बाद मे उसे बहुत कुछ ट्रेनिंग दी गई किन्तु उसमें अधिक सुधार नही हो सका। इसलिये इस पक्ष के विद्वानों का कहना है कि शैशवा-

वस्था (Infancy) में बच्चा जैसे वातावरण में पड जाता है वैसे ही उसकी शक्तियों का भी विकास होता है। बाद में वातावरण के प्रारम्भिक असर को हटाना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव भी हो जाता है। इसलिये यदि हम यह कहें कि वातावरण का ही असर बाल-विकास में अत्यधिक है और वंशानुक्रम का असर नगण्य है तो यह कहना कोई अत्युक्ति का बोधक नहीं होगा।

जिस प्रकार वंशानुक्रमवादी मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न महान पुरुषों के जीवन-इतिहास का अध्ययन करके यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी महानता उनके महान परिवार और परम्परा के कारण थी उसी प्रकार इस पक्ष में भी कितने प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। एक फ्रांसीसी विद्वान ने बडे-बड़े लोगो के जीवन का अध्ययन करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उन्हें समाज में जो प्रतिष्ठा और उच्च पद मिला वह उनके वातावरण का प्रसाद था, वंशानुक्रम का नहीं। वे ऐसे समाज में पालित-पोषित हुये थे जहाँ व्यक्तित्व के विकास के लिये सभी आवश्यक साधन मौजूद होने के कारण उन्हें किसी तरह की कठिनाई का सामना नहीं करना पडा। यदि वातावरण उनके अनुकूल न रहा होता तो वे कदापि जीवन में इतना महान बनने में सफल मनोरथ न हुये रहते।

इस पक्ष की पुष्टि में इसी तरह का दूसरा प्रमाण मरे द्वीप के निवासियों का दिया गया है जो प्रारम्भ में बहुत पिछडे हुये थे और उनकी भाषा इतनी दरिद्र और दयनीय थी कि छः के बाद लिखने के अंक ही नही थे। उनका जीवन पूर्णतः बर्बर था किन्तु जब उस द्वीप पर सभ्य जातियो का अधिकार हो गया तो उन्हीं मरे द्वीपवासियो में से बहुत बड़े-बड़े गणित के विद्वान हुये। उनका यह उत्कर्ष इस बात का साक्षी है कि वातावरण और शिक्षा का असर व्यक्ति पर अमिट पडता है। उपर्युक्त कथन की सत्यता हमें भारतवर्ष की पिछडी जातियो के अध्ययन से भी प्रमाणित होती है। प्रायः लोगों का ऐसा विश्वास सा हो गया था कि शूद्रों और अन्य आदिवासियों मे बौद्धिक योग्यता (Intellectual ability) नहीं होती, इसलिये वे उत्तरदायित्व-पूर्ण कार्य-भार सँभालने में पूर्णतः असमर्थ हैं। किन्तु विकास के इस युग मे यह विश्वास दोषपूर्ण सिद्ध हो चुका है। आज भारतवर्ष में शिक्षा और समाज के फलस्वरूप इन जातियों में ऐसे-ऐसे कानून और राजनीति विशारद मौजूद है जो विश्व के बड़े-बड़े महापुरुषों के दाँत खट्टे कर देते है। यदि उन्हे समुचित वातावरण और शिक्षा की सुविधा न मिली होती तो वे कदापि उन्नति के इस

शिखर पर पहुँचने में समर्थ नहीं हुये होते। अभी हाल में ही कुछ दिन पहले भारतीय मनोवैज्ञानिकों ने उत्तर प्रदेश में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों में बौद्धिक भिन्नता देखने के लिये जो प्रयोग किया था उससे यही विदित हुआ कि बौद्धिक भिन्नता ब्राह्मणो और शूद्रो मे नगण्य है। अतएव बुद्धि मे जातीय भेद नहीं होता और इन दो जातियों में जो थोड़ा सा बौद्धिक अन्तर दीख पड़ा था वह जातीय-भिन्नता के कारण नहीं अपितु वातावरण की भिन्नता के कारण था। उच्च जातियों को अब तक वातावरण सम्बन्धी जो सुविधाएँ मिली हुई हैं वह पिछड़ी जातियों को नहीं जिसके फलस्वरूप वे बौद्धिक कार्यों मे पिछडी हुई हैं। किन्तु जिन व्यक्तियों को सुन्दर साधन प्राप्त है वे उच्च जाति के व्यक्तियो से किसी अंश में भी कम नहीं हैं। भारत सरकार के प्रयत्न से वर्त्तमान में पिछड़ी जातियों का जो बौद्धिक विकास देखने में आ रहा है वह किसी से छिपा हुआ नहीं है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने वातावरण जनित प्रभाव को बच्चो पर देखने के लिये कई प्रकार का अध्ययन किया है। प्रेसी और थामस ने ३२१ ग्रामीण और नागरिक बच्चों की बुद्धि का अध्ययन किया जिससे यह निर्विवाद है कि नागरिक बच्चे ग्रामीण बच्चों की अपेक्षा बुद्धि में श्रेष्ठ थे। थामसन का अध्ययन भी उपर्युक्त पक्ष को ही प्रतिपदित करता है। बुक ने इण्डियना में जो अन्वेषण इस दिशा से किया उसे भी नागरिक बच्चों मे ग्रामीणों की अपेक्षा अधिक बुद्धि दिखलाई पडी। बाल्डविन, फिलमोर और हेडले ने जो विभिन्न अवस्था के बच्चों का तुलनात्मक (Comparative) अध्ययन किया उससे यह स्पष्ट है कि ग्रामीण और नागरिक बच्चो मे उनकी शैशवावस्था में बुद्ध्यात्मक अन्तर नहीं था किन्तु उनकी अवस्था ज्यो-ज्यों बढती गई त्यो-त्यो उनमें अधिक अन्तर दिखाई पड़ता गया।

गार्डन ने नाविक तथा अन्य बर्बर जातियो के बच्चों का बौद्धिक अध्ययन किया। ये ऐसी जातियाँ थीं जिन्हे शिक्षा की कोई भी सुविधा नहीं थी। बच्चे समाज से अलग रहकर अपना जीवन नावों पर व्यतीत करते थे। बुद्धि परीक्षा करने पर ज्ञात हुआ कि छः वर्ष से नीचे वाले बच्चों की बुद्धि उपलब्धि (I. Q.) ९० और १०० के अन्तर्गत थी किन्तु नौ वर्ष से अधिक उम्र वाले बच्चों की बुद्धि उपलब्धि का मध्यमान (Average) केवल सत्तर था। इससे यह सिद्ध होता है कि ज्यो-ज्यो बच्चो की अवस्था बढती गई त्यो-त्यो वातावरण की बंजरता (Barrenness) के कारण बुद्धि घटती गई। स्टाउड का अध्ययन भी इसी बात का साक्षी है कि अवस्था-वृद्धि के

साथ-साथ ग्रामीण बच्चों की अवनति होती गई और नागरिक बच्चो की बुद्धि बढती गई। शेरमन तथा हेनरी का भी अपने अन्वेषणों के आधार पर यही कहना है कि पाँच छः वर्ष तक दो वातावरण में रहने वाले बच्चो की बुद्धि-उपलब्धि में अन्तर पड जाता है। उपर्युक्त सभी अध्ययनो का यही सारांश है कि बौद्धिक योग्यता का श्रेय वंशानुक्रम को नहीं अपितु वातावरण को है।

आयोवा विश्वविद्यालय के कितने अन्वेषकों ने अनाथालय के बच्चो के बौद्धिक विकास का अध्ययन किया है। उन बच्चों को दो वर्गों मे विभाजित कर दिया गया। एक वर्ग को खेलने, कूदने और प्रारम्भिक शिक्षा की सुविधाएँ दी गई किन्तु दूसरे वर्ग को इन सुविधाओं से वंचित रक्खा गया। जब उनकी बुद्धि की परीक्षा ली गई तो देखा गया की जिन बच्चो को सुविधाएँ दी गई थी वे दूसरे वर्ग के बच्चो से बुद्धि मे अत्यधिक श्रेष्ठ थे। यद्यपि इस अध्ययन का कुछ मनोवैज्ञानिकों ने खंडन किया है किन्तु उनका खंडन उचित नही है।

शिकागो में भी मनोविज्ञान वेत्ताओं ने ३४ बच्चो को दो प्रकार के वातावरण में रखकर उनकी बुद्धि की जाँच की है। उनके अन्वेषण से यही प्रमाणित है कि जिनको सुविधाएँ समुचित रूप से दी गई थीं उनका बुद्धि-विकास सुविधारहित बच्चो की अपेक्षा सुन्दर रूप से हुआ और फलतः दोनों प्रकार के बच्चों मे भी बौद्धिक अन्तर पड़ गया। स्टैनफोर्ड विश्व विद्यालय का अध्ययन भी उपर्युक्त दृष्टिकोण को ही प्रतिपादित करता है जिस पर विशेष प्रकार से प्रकाश डालना यहाँ आवश्यक नही है। इसी प्रकार और भी कितने विद्वानो ने अमरीका के विभिन्न अंचलों के बच्चो की बुद्धि का अध्ययन करके बुद्धि-विकास में शिक्षा और वातावरण के महत्व को प्रदर्शित किया है।

अन्त में हम जुड़वे बच्चो के सम्बन्ध में वातावरण का उल्लेख करना आवश्यक समझते है। जिस तरह वंशानुक्रम के पक्ष को पुष्ट करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने जुड़वे बच्चों का अध्ययन किया है उसी प्रकार वातावरणवादियो ने भी अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये अनेको जुड़वे बच्चो का अध्ययन किया है। उन लोगों ने, जैसा कि ऊपर भी स्थल विशेष पर प्रकाश डाला जा चुका है, जुडवे बच्चों को भिन्न-भिन्न वातावरण में रखकर वातावरण जनित बुद्धि-भेद को अच्छी तरह दिखला दिया है। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है इसलिये यहाँ पुनरावृत्ति की आवश्यकता नहीं।

इसी प्रकार और भी कितने प्रमाण वातावरण के पक्ष मे विद्वानों द्वारा दिये गये हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ संभव नहीं है।

अब एक निष्कर्ष पर पहुँचने के लिये हमें यह ध्यान में रखना होगा कि दोनों पक्षों के अनुयायियों ने अपने-अपने पक्ष को पुष्ट करने और दूसरे पक्ष की अवहेलना करने का प्रयास किया है। किन्तु यदि गंभीर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दोनों पक्षों में से एक भी न पूर्णतः दोषपूर्ण है न पूर्णतः संतोषप्रद ही। वस्तुतः सत्यता दोनों पक्षों मे है; इसलिये हम यहाँ कह सकते हैं कि न तो वातावरण पर ही बाल-विकास पूर्णतः निर्भर करता है और न वंशानुक्रम पर ही बल्कि इसका श्रेय दोनों को है। बाल-विकास के लिये वातावरण उतना ही महत्व का है जितना कि वंशानुक्रम। किसी एक के अभाव में बालक का समुचित विकास होना कठिन ही नहीं अपितु असंभव है। अतएव इन दोनों अंगों में से किसी एक अंग की भी उपेक्षा समुचित नहीं। जिस प्रकार सुन्दर से सुन्दर बीज को उपयुक्त मिट्टी, खाद और पानी की आवश्यकता होती है उसी तरह सुन्दर से सुन्दर वंशानुक्रम के लिये भी समुचित वातावरण की आवश्यकता पडती है। अतएव माता-पिता और शिक्षकों का परम कर्त्तव्य है कि बच्चों के समुचित विकास के दोनों अंगों को समान दृष्टि से देखें।

४. आनुवंशिकता के नियम (Laws of Heredity)

अभी तक हम बाल-विकास में आनुवंशिकता और वातावरण के महत्व का उल्लेख करते रहे हैं। यहाँ आनुवंशिकता के विभिन्न प्रमुख नियमों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालकर इस अध्याय को समाप्त किया जायेगा।

(१) कीटाणु की निरंतरा (Continuity of Germplasm)

कीटाणु की निरन्तरता का मुख्य सार यही है कि सन्तान अपने माता-पिता से उन्हीं विशेषताओं को प्राप्त करती है जो उन्हें अपने पूर्व-पुरुषों से मिली रहती है। माता-पिता के उन गुणों को बच्चे प्राप्त नहीं करते जिन्हें कि वे अपने जीवन में परिश्रम और शिक्षा के द्वारा अर्जित करते हैं। इस नियम की सत्यता को प्रमाणित करने के लिये वाइजमैन नामक विद्वान ने चूहों पर अपना प्रयोग किया। प्रयोग किये जाने वाले चूहों की उसने पूँछें काट दी किन्तु जब उन चूहों की सन्तान उत्पन्न हुई तो उनकी पूँछें पूर्ववत् सम्पूर्ण थीं। इसी तरह कई पीढ़ियों तक चूहों की पूँछें काटी जाती रहीं पर उनकी

सन्तानों को बराबर पूरी पूछें जमती गई। इस प्रयोग से यह निष्कर्ष निकला कि वस्तुतः बालकों को माता-पिता के अर्जित गुणों की प्राप्ति वंशानुक्रम से नहीं होती बल्कि शिक्षा के द्वारा होती है। हम इस नियम की सत्यता अपने व्यावहारिक जीवन में भी देखते है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि विद्वान माता-पिता के बच्चे मूर्ख, लम्पट आदि और जुआरी माता-पिता के लडके बहुत ही सच्चरित्र औह सज्जन होते है। इसी तरह यदि किसी कारणवश माता-पिता का अंग-भंग हो जाता है तो वह अंग-भंगता बच्चों में देखने में नही आती। अतएव माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि इस नियम को ध्यान मे रखते हुये बच्चों की, प्रारम्भ से ही उनके उचित विकास के लिये, समुचित शिक्षा का प्रबन्ध करें।

(२) भेद-उत्पत्ति का नियम (Law of Variation)

भेद-उत्पत्ति का नियम उपर्युक्त नियम से भिन्न है। यह नियम किसी जाति की भिन्नता की व्याख्या करने के लिये प्रतिपादित किया गया है। यह बात पाठकों से छिपी हुई नही है कि जहाँ माता-पिता के अनुरूप संतान मे विशेषतायें पाई जाती है वहीं आगे चलकर उस वंश के अन्य लोगों में उसका परिवर्तन भी हो जाता है। इस परिवर्तन के सम्बन्ध में विभिन्न विचारधाराएँ हैं। डार्विन का कहना है कि प्राणी मे यह परिवर्तन सहसा हो जाता है। किन्तु लेमार्क इस परिवर्तन की व्याख्या प्राणी की इच्छा के आधार पर करता है। वह अपने पक्ष को पुष्ट करने के लिये यह कहता है कि पहले अफ्रीकावासी जीराफ की गर्दन लम्बी नही थी किन्तु जब पेड़ से पत्तियो को तोड़ने में वह असमर्थ हुआ तो उसकी इच्छा के कारण उसकी गर्दन लम्बी हो गई। तभी से सभी जीराफों की गर्दन लम्बी होने लगी। किन्तु अभी तक इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है कि अर्जित गुणों का वितरण संतान में होता है कि नही। जैसा कि पहले नियम में कहा जा चुका है, वाइजमैन इस मत का खंडन प्रयोगात्मक परिणामो के आधार पर करता है। लेकिन मेकडुगल तथा उसके अन्य अनुयायी इसका समर्थन करते हैं। इसको सत्य प्रमाणित करने के लिये उसने चूहो पर प्रयोग किया। चूहों को उसने पानी में रक्खा। पानी से निकलने के लिये दो मार्ग थे। एक अन्धकारमय और दूसरा प्रकाशमय, किन्तु प्रकाशित पथ से आने पर चूहों को चोट लगती थी। इसलिये पहली पीढी के चूहे १६५ बार गलतियाँ करके उचित मार्ग से जाना सीख सके। परन्तु जब यही प्रयोग तेईसवी पीढ़ी के चूहों पर किया गया तो देखा गया कि इस बार वे सिर्फ २५ बार

गलतियाँ करने के बाद उचित पथ से जाना सीख सके। इसी तरह के और भी कई प्रयोगो के आधार पर कुछ विद्वानों का कहना है कि अर्जित गुणों का वितरण भी सन्तानो में होता है। इसलिये जो गुण माता-पिता अपने जीवन में अर्जित करते हैं वे भी उनके बच्चों में पाये जाते है। अतएव शिक्षकों को बच्चों को वही शिक्षा देना उचित है जिससे कि वे अधिक लाभान्वित हो सकें।

(३) शुद्ध जाति की अमरता का नियम

जॉन मेराडल ने अपने बगीचे में दो प्रकार की मटरो पर प्रयोग किया और इस नियम का प्रतिपादन किया। उसका कहना है कि प्रकृति वर्णसंकरो की वृद्धि नहीं चाहती है और यदि किसी कारणवश किसी वंश में वर्णसंकरता आ जाती है तो कालक्रम मे उसका लोप भी हो जाता है। अन्ततोगत्वा शुद्ध सन्तान ही रह जाती है। इसकी पुष्टि के लिये मेण्डल ने दो प्रकार की मटरो से एक तीसरी प्रकार की वर्णसंकर मटर को उत्पन्न किया। पुनः इसको बोने पर आधे बीज शुद्ध मटर के हुये और आधे वर्णसंकर के हुये। बार बार ऐसा करने से वर्णसंकर मटरो की संख्या कम हो गई और शुद्ध मटरो की ही प्रधानता रही। यही नियम जानवरों पर प्रयोग करके भी पाया गया। इसकी सत्यता उस समय देखने मे आती है जब एक श्यामवर्ण और दूसरा गौरवर्ण का पक्ष सन्तानोत्पत्ति में काम करता है और परिणामतः बच्चे का वर्ण दोनों के सम्मिश्रण के समान रहता है। बाद मे उसका वर्ण इस तरह का हो जाता है कि उसके विभाजन करने में असमर्थ हो जाना पड़ता है। यदि हम इसके गुण-दोषों पर विचार करें तो मालूम होगा कि यद्यपि यह नियम कई स्थलो पर अक्षरशः लागू होता है किन्तु कई जगहों पर इसकी सत्यता नहीं दिखलाई पड़ती है। यहाँ इस नियम को और भी स्पष्ट कर देने के लिये मेण्डल के प्रयोग का नमूना दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

ऊपर के चित्र से यह स्पष्ट है कि वर्णसंकरो के बार बार बोने से उनकी संख्या क्योंकर क्रमश; न्यून होती जाती है।
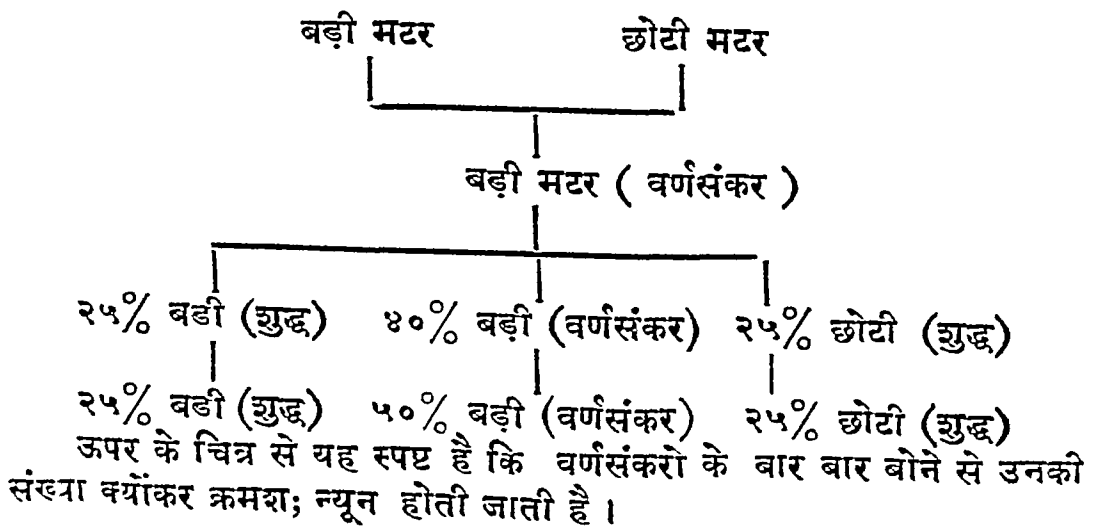
तीसरा अध्याय

नवजात शिशु तथा उसका ज्ञानात्मक और क्रियात्मक विकास

(Neonate & its Sensory & Motor development)

१. नवजात शिशु (Neonate)

जब बच्चा उत्पन्न होता है तो वह उस समय पूर्ण शक्ति और क्रिया-विहीन नहीं रहता। हाँ, उसकी विभिन्न शक्तियाँ और क्रियाएँ बहुत ही सीमित होने के कारण अल्पसंख्यक होती हैं। यों तो विभिन्न अन्वेषकों के द्वारा यह प्रमाणित कर दिया गया है कि गर्भस्थ शिशु में भी कई प्रकार की क्रियायें होती हैं किन्तु उन क्रियाओं की संख्या में वृद्धि जन्म के पश्चात होती है। गर्भ मे शिशु का वातावरण अत्यन्त सीमित रहता है किन्तु जन्म के बाद उसे एक असीमित वातावरण का सामना करना पड़ता है। इसलिए उसे कई प्रकार की अभिनव क्रियायें सीखनी पड़ती हैं। जन्म के समय वह पूर्णतः असहाय रहता है अतएव उसे अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी माता पर निर्भर करना पड़ता है। किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था-वृद्धि होती जाती है त्यों-त्यों वह अपने ऊपर निर्भर होना सीखता जाता है।

यहाँ नवजात शिशु की विभिन्न शक्तियों पर प्रकाश डालने के लिए यह स्पष्ट कर देना जरूरी है कि इस सम्बन्ध मे कई विचारधारायें हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि शिशु और सयाने की प्रतिक्रियाओं में कोई अन्तर नहीं होता क्योंकि वह सयाने का ही प्रतीक होता है। इसीलिए नवजात शिशु में सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं की योग्यता अपूर्ण रूप से विद्यमान रहती है किन्तु यह विचार-धारा कई कारणों से अमान्य है। दूसरे सिद्धान्त के अनुसार नवजात शिशु सहज क्रियाओं का पुंज मात्र है, इसलिए उसमें सहज और विषम (Simple and Complex Reflex actions) क्रियाओं की ही क्षमता रहती है। परन्तु, व्यवहारवादियों का यह दृष्टिकोण भी खण्डित कर दिया गया है। इसी प्रकार तीसरे पक्ष के अनुसार शिशुओं में सर्व प्रथम सामान्य व्यापार (Mass-activity)

ही होता है और उसमें विशिष्टता बाद में क्रमशः आती है। यही सिद्धान्त बहुसंख्यकों के लिए मान्य है। इसलिए यहाँ नवजात शिशुओं की विभिन्न प्रतिक्रियाओं की योग्यता का उल्लेख दो श्रेणियों मे किया जायगा। पहले उसकी ज्ञानात्मक शक्तियों (Sensory capacities) पर प्रकाश डाला जायगा, बाद मे उसकी सहज क्रियाओं (Reflex-actions) तथा अन्य क्रियात्मक शक्तियों (Motor-capacities) का उल्लेख किया जायगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि इस सम्बन्ध में जो भी प्रयोग किये गये हैं उनकी विभिन्न पद्धतियाँ है, इसलिये उनके निर्णयों में भी अन्तर है किन्तु, हम यथासाध्य प्रमाणित प्रयोगों के आधार पर उनकी योग्यताओं का उल्लेख करेगें।

२. ज्ञानात्मक योग्यता (Sensory capacity)

नवजात शिशु की ज्ञानात्मक क्षमता की परीक्षा विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने की है किन्तु सब मे एकता नहीं है। इसका प्रधान कारण यही मालूम होता है कि जन्म के समय बच्चों को अत्यधिक कष्ट होता है जिसका प्रभाव कई घंटों तक रहता है। कुछ बच्चे उस क्षतिसे शीघ्र ही निर्मुक्त हो जाते हैं और कुछ कई घंटों के बाद निर्मुक्त होते है। इसलिए जिन प्रयोगों से किसी योग्यता विशेष की जानकारी नहीं हो सकी है उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि बच्चे मे उसकी योग्यता थी ही नहीं, बल्कि यह समझना विशेष उचित जँचता है कि असामान्य अवस्था के कारण बच्चे में वह प्रतिक्रिया परिलक्षित नही हुई। अब यहाँ क्रमशः एक एक ज्ञानेन्द्रियों से आवद्ध योग्यता पर प्रकाश डाला जायगा।

(१) दृष्टि-संवेदना (Visual Sensation):—जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है गर्भ में बच्चे कई तरह की प्रतिक्रिया करने लगते है किन्तु, जन्म होने पर उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ गर्भ की अपेक्षा अधिक परिपक्व और सबल हो जाती है जिनसे विभिन्न प्रकार का ज्ञान उन्हें होता है।

जन्मोपरान्त सर्वप्रथम बच्चे को दृष्टि-संवेदना (Visual sensation) होती है। इसलिए प्रकाश और अन्धेरे में उसे भिन्नता मालूम होती है। लेकिन, अनुभव न रहने के कारण वह किसी पदार्थ को देखने में असमर्थ होता है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि बच्चा प्रकाश का अनुभव मात्र करता है। प्रेयर (Preyer) का बच्चा सामान्य प्रकाश में आनन्द, कड़े प्रकाश में कष्ट और अन्धेरे में बहुत कम आनन्द का अनुभव करते हुए पाया

गया। पहले ही दिन प्रकाश की न्यूनता में उसकी मुखाकृति परिवर्तित हो गयी और ग्यारहवें दिन प्रकाश को हटा लेने पर वह रोने लगा। अत्यधिक प्रखर प्रकाश में सोते समय उसे तकलीफ मालूम हुई और बेचैन होकर वह जग गया। जगने पर कड़ी रोशनी दिखाई गई तो उसने आँखें बन्द करलीं और मस्तक को घुमा लिया। प्रेयर (Preyer) का कहना है कि पहले-पहल बच्चे को संवेदना का ही अनुभव होता है, प्रत्यक्षीकरण (Perception) का नही। वह किसी वस्तु पर अपनी दृष्टि स्थिर नहीं कर सकता क्योंकि उसमें नियंत्रण की योग्यता नहीं रहती। नौ दिन तक उसकी ऐसी ही अवस्था रहती है, इसलिए वह रिक्त स्थान की ओर ताकता है। इसके बाद वह चमकीले पदार्थों पर अपनी दृष्टि गड़ाने मे समर्थ होता है। एक बच्चा ग्यारह दिन की अवस्था में ऐसा करता पाया गया। किन्तु, दूसरा बच्चा चौदह दिन की अवस्था में ऐसा कर सका। एक बच्चा तो दूसरे ही सप्ताह में प्रकाश का पीछा करते पाया गया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि तीन चार दिन का बच्चा प्रकाश और अन्धेरे को समझता है किन्तु, रंग-भेद नहीं समझ पाता है। यह ज्ञान क्रमशः होता है। एक दस दिन की बच्ची माता के रंगीन वस्त्रों को देखकर बहुत प्रसन्नचित्त दृष्टिगोचर हुई।

इरविन (Irwin), वेस (Weiss), रेडफील्ड (Redfield) प्रभृति विद्वानों की भी खोजों से यह स्पष्ट है कि बच्चे अन्धकार में रोते और प्रकाश में शान्त रहते हैं। सात दिन से नौ दिन के बच्चे पर प्रयोग करके स्मिथ (Smith) ने यह व्यक्त किया है कि रंगों को दिखलाने से बच्चे रोना बन्द कर देते हैं। जो रंग जितना अधिक मनोहारी होता है वह उतना ही अधिक उसे प्रभावित करता है। बीसले (Beasley) का प्रयोग इस बात का साक्षी है कि बारह दिन के बच्चे दृष्टि-संवेदना से प्रभावित ही नहीं होते बल्कि उसपर अपनी आँख गड़ाने मे बहुत प्रवीणता दिखलाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि इस समय की नेत्र-गति बहुत ही आदिमावस्था की रहती है जिसमें विशेष रूपेण तारतम्य नहीं रहता। शेरमन (Sherman) ने ८८ बच्चो पर जिनमें से ६८ की अवस्था २४ घंटों के ऊपर और बाकी की अवस्था उससे कम थी इस सम्बन्ध मे जो प्रयोग किया उसके आधार पर उसका कहना है कि २४ घण्टे की अवस्था से कम बच्चो के सहनियम (Co-ordination) और स्थिरता मे अधिक अशुद्धियाँ होती हैं, किन्तु इससे ऊपर की अवस्था वालो में ये गलतियाँ नही होती हैं। अब विभिन्न अन्वेषणों को ध्यान में रखते हुए यही कह सकते हैं कि नवजात शिशु

(Neonate) में प्रकाश के अन्तरों के प्रति प्रतिक्रिया करने की योग्यता मौजूद रहती है किन्तु, यह क्षमता कितनी विकसित रहती है इसको निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता।

(२) **ध्वनि-संवेदना** (Auditory Sensation):—नवजात शिशु के ध्वनि-ज्ञान पर प्रकाश डालने के पहले यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक न होगा कि जिन विद्वानों ने इस दिशा में प्रयोग किया है उनमें मतैक्य नहीं है। किन्तु, इसमें सभी एक मत हैं कि जन्म के समय आँख जितनी परिपक्व रहती है, कान उतना ध्वनि-उत्तेजना के लिए परिपक्व नहीं रहता, इसलिए प्रयोग परिणामों में भिन्नता है। नवजात शिशु जन्मोपरान्त ध्वनि की प्रतिक्रिया करता है कि नहीं इसमें मतभेद है। कुछ विद्वानों की धारणा है कि जन्म लेने के बाद कई घंटों तक बच्चे किसी प्रकार का शब्द सुनने में असमर्थ रहते है, किन्तु कुछ ही दिनों के अन्दर बहु संख्यक बच्चे आकस्मिक ध्वनि, सीटी आदि की प्रतिक्रिया करते है जिनमे आँख का घुमाना, बन्द करना, रोना बन्द कर देना, शरीर घुमाना, हाथ पैर चलाने आदि की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। ब्रायन (Bryan) का अपने प्रयोगों के आधार पर कहना है कि दो दिन के बच्चे नहीं सुनते हैं किन्तु, तीसरे दिन बहुत से बच्चे कड़े शब्द को सुनने लगते हैं और दसवें दिन आवाज को समझने लगते हैं। जो बच्चे नहीं सुनते हैं—सम्भवतः उनके ध्वनि-यन्त्र में कुछ दोष रहता हैं। स्टब्स (Stubbs) उपर्युक्त मत से सहमत नहीं हैं। उसका कहना है कि ध्वनि-यन्त्र का दोष न सुनने का कारण नहीं होता, बल्कि उत्तेजना (Stimulus) की सबलता (Intensity) सत्ताकाल (Duration) आदि इसके कारण होते हैं। इसकी पुष्टि विभिन्न प्रयोगों-द्वारा की गयी है। तीन दिन से ६ दिन के बच्चे को ध्वनि से अभियोजित (Adjusted) करके आल्ड्रेट और मार्क्विस (Marquiss) ने भी उनकी ध्वनि-योग्यता का समर्थन किया है। टालबॉट महोदया ने एक शिशु को जिसकी अवस्था केवल तीन घंटे की थी, ध्वनि से संक्षुब्ध होते पाया किन्तु, सिगिसमण्ड को शब्द सुनने के चिन्ह कई दिनों के बाद मिले। जब कुसमाल ने बच्चो पर, जिनकी अवस्था एक दिन की थी, प्रयोग किया तो उसे किसी शिशु में ध्वनि के प्रति किसी प्रकार की प्रतिक्रिया परिलक्षित नहीं हुई। गंजमर ने एक से दो दिन के बच्चो पर जब प्रयोग किया तो उसे सभी बच्चों में

ध्वनि के प्रति की गयी प्रतिक्रियाएँ दृष्टिगोचर हुईं। डा० डिकेन को ६ घंटे में ही ध्वनि-ज्ञान से युक्त शिशु मिले। प्रेयर (Preyer), ब्रायन (Bryan) से सहमत नहीं है क्योंकि एक बच्चे में उसे तीसरे दिन और दूसरे में छठें दिन भी ध्वनिज्ञान के लक्षण नहीं मिल सके किन्तु सली (Sully), बाल्डविन (Baldwin) को शब्द कहने पर मस्तक घुमाते हुए बच्चे मिले। इस प्रकार हम देखते हैं कि जितने भी प्रयोगात्मक प्रमाण उपस्थित है उन सब में भिन्नता है। इसलिए उपर्युक्त प्रयोगो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि पहले घण्टो में बच्चा कुछ भी नहीं सुनता है, किन्तु छठे घण्टे से लेकर तीसरे सप्ताह तक सभी बच्चे सुनने लगते है। यह भिन्नता बच्चो की शारीरिक बनावट और स्वास्थ्य के कारण होती है। अगर कोई बच्चा इस अवधि के बाद भी नहीं सुनता है तो उसे वहरा समझना चाहिए। शब्द से बच्चे कोई विशिष्ट प्रतिक्रिया नहीं करते वल्कि इनका सम्पूर्ण शरीर प्रकम्पित हो जाता है।

(३) स्वाद-संवेदना (Sensation of Taste):—नवजात शिशु (Neonate) के स्वाद (taste) ज्ञान की परीक्षा के लिए विभिन्न पद्धतियों का आश्रय लिया गया है। उन सभी परिक्षणों से यह निर्विवाद है कि उनमें स्वाद-भिन्नता (Taste difference) को समझने की योग्यता मौजूद रहती है। कुसमाल ने बीस बच्चों पर जिनकी अवस्था एक दिन की थी चीनी और कुनैन के रस के साथ प्रयोग किया। जब चीनी का रस उनके मुँह में डाला जाता था तो वे अपना मुँह वन्द करके उसे निगलने लगते थे किन्तु, कुनैन का रस देने पर उनका मुँह खुल जाता था, आँखें वन्द हो जाती थीं; लार गिरने लगता था और बच्चे उसे उग-लने की कोशिश करते थे। फेण्टन (Fenton) ने एक ६ दिन के बच्चे को जब अण्डी का तेल दिया तो उसने निषेधात्मक (Negative) प्रतिक्रिया प्रदर्शित की किन्तु, शिन (Shinn) को अपने प्रयोगो में बच्चे के स्वाद-ज्ञान के कोई भी लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हुए। जेनसेन (Jensen) ने खट्टे, मीठे, कड़वे और नमकीन द्रवो के साथ जो प्रयोग बच्चो पर किया उससे यह स्पष्ट है कि मीठे, खट्टे और कड़वे फलों को चूसने की प्रतिक्रिया मे कोई अन्तर नही मिला। हॉ, नमकीन द्रव की प्रतिक्रिया मे कुछ असाधारण अन्तर अवश्य ही परिलक्षित हुआ। इस तरह हम देखते है कि (Jensen) जेनसेन का प्रयोग कुसमाल के प्रयोग परिणाम का पूर्णतः प्रतिपादन

नहीं करता। गंजमर ने पच्चीस बच्चों पर कुसमाल की ही तरह प्रयोग किया और उसे भी कुसमाल की तरह प्रतिक्रियाएँ बच्चों में दृष्टिगोचर हुई। हाँ, इतना अवश्य था कि जिस द्रव की प्रतिक्रिया एक शिशु ने निषेधात्मक (Negative) की उसी की दूसरे ने धनात्मक प्रतिक्रिया (Positive response) की। क्रोनर, फेहलिंग प्रभृति विद्वान भी इस तथ्य का समर्थन करते है। प्रेयर (Preyer) का भी यही कहना है कि उनकी प्रतिक्रियाएँ वैयक्तिक भिन्नता (Individual difference) के कारण जैसी भी हों, किन्तु इतना अवश्य है कि बच्चों में स्वाद-ज्ञान की क्षमता रहती है। स्वय उसका एक दिन का बच्चा चीनी चाटने लगा था, किन्तु अन्य चीजों को नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिन (Shinn) को छोड़ कर प्रायः सभी अन्वेषकों को बच्चे मे स्वाद-ज्ञान (Taste-Sense) की प्रतिक्रिया मिली है। सम्भव है कि किसी कारण-विशेष से शिन को नवजात (Neonate) शिशु में स्वाद प्रतिक्रिया दृष्टिगोचर न हुई हो। अतएव, हम यही कह सकते हैं कि नवजात शिशुओं में खट्टा, मीठा, कड़वा और नमकीन स्वादों का अनुभव करने की योग्यता रहती है।

(४) घ्राण-संवेदना (Olfactory sensation):—नवजात (Neonate) शिशु के घ्राणज्ञान (Olfactory sense) के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है क्योंकि कुछ लोगो का ऐसा कथन है कि जन्म के समय उनकी घ्राणेन्द्रिय परिपक्व रहती है किन्तु, कुछ लोग इससे सहमत नहीं हैं। इसलिए यहाँ हम कुछ प्रयोगों का उल्लेख करके अपना विचार प्रगट करेंगे। टेलर (Taylor), जोन्स (Jones), प्रैट (Pratt), नेलसन (Nelson) प्रभृति विद्वानों ने नवजात बच्चो पर विभिन्न प्रकार के गन्धो के साथ जो प्रयोग किया है उनके आधार पर उनका मत है कि गन्धों के द्वारा उत्तेजित करने पर गन्ध के कारण नहीं, अपितु स्पर्श के कारण बच्चों में विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुईं। डीशर (Disher) ने कई प्रकार के गन्धों को बच्चों की नाकों में डाला जिसके कारण उनमें कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित हुईं। इसलिए उसका कहना है कि बच्चों को गन्ध ज्ञान अवश्य रहता है, किन्तु यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि वे विभिन्न प्रकार के गन्धों के अन्तर को जनते हैं कि नहीं। दूसरे प्रयोगात्मक प्रमाणों द्वारा भी डीशर (Disher) के कथन का खण्डन किया गया है। स्टर्न ने (Stern) जब रोते हुए बच्चों को दूध या अन्य सुगन्धों से

उत्तेजित किया तो रोते हुए बच्चे चुप हो गये। इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि विभिन्न मनोवैज्ञानिकों का इस सम्बन्ध में एक मत नहीं है, किन्तु इन्हीं प्रयोगों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि जन्मोपरान्त ही बच्चों में घ्राण-संवेदना की योग्यता विद्यमान रहती है, भले ही उन्हें गन्ध-भेद का ज्ञान न हो।

(५) त्वक-संवेदना (Cutaneous Sensation):—त्वक संवेदना के अन्तर्गत शीतोष्ण (Thermal), पीडा तथा स्पर्श संवेदनाओ की परिगणना होती है। जहाँ तक शीतोष्ण संवेदनाओं का प्रश्न है उनके सम्बन्ध में यही कहा जा सकता कि नवजात (Neonate) शिशु को इसका ज्ञान जन्मोपरान्त होने लगता है। प्रेयर (Preyer) ने जब एक दिन के शिशु को गर्म पानी से नहलाया तो उसे अच्छा मालूम हुआ, किन्तु जब उसी को ठण्डे पानी से नहलाया गया तो उसकी प्रतिक्रियाएँ उसके कष्ट का द्योतक थीं। जेनसेन (Jensen) ने विभिन्न मात्रा में गर्म दूध को पिलाने में पीने की विभिन्न प्रतिक्रियाओं को देखा। जब एक से दस दिन के बच्चों की जीभ पर आठ अंश से तिरपन अंश गर्म पानी की बूंदों को रखा गया तो एक दिन के बच्चों मे अन्य बच्चों की अपेक्षा इसकी संवेदन-क्षमता अधिक थी। क्रडन (Crudden) और कोफ्का (Koffka) का भी अपने प्रयोगों के आधार पर यही कहना है कि नवजात (Neonate) शिशुओं मे शीतल और उष्ण जल की संवेदनशीलता (Sensitivity) की शक्ति विद्यमान रहती है। अतएव हम यही कह सकते हैं कि शीतोष्ण को अनुभव करने की क्षमता बच्चों में मौजूद रहती है।

अब स्पर्श और पीडा की संवेदनशीलता बच्चों में रहती है कि नहीं, इस पर प्रकाश डालने के लिए यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि जहाँ तक स्पर्श ज्ञान का सम्बन्ध है यह कहा जा सकता है कि इसकी योग्यता नवजात शिशु में वर्त्तमान रहती है। कुसमाल के प्रयोग से यह विदित होता है कि जब बच्चों की जिह्वा के ऊपरी अंश पर किसी चीज से स्पर्श किया गया तो उनमें चूसने की प्रतिक्रिया हुई किन्तु, उनके पृष्ठांश पर स्पर्श करने से किसी तरह की प्रतिक्रिया परिलक्षित नहीं हुई। ६ दिन की उम्र वाले बच्चे में जिह्वा-स्पर्श, चूसने की प्रतिक्रिया उत्पन्न करने में पर्याप्त था। कई बच्चों में तो जन्म के दिन भी स्पर्श की प्रतिक्रिया देखी गयी है। कहने का तात्पर्य यह है कि हम उनकी स्पर्श योग्यता को अस्वीकार नहीं कर सकते।

अभी तक जितने भी प्रयोगात्मक परिणाम उपस्थित हैं उनके आधार पर निश्चयात्मक रूप से यह कहना उचित प्रतीत होता है कि बच्चों में जन्मोपरान्त पीड़ा की संवेदना नहीं होती, किन्तु कुछ काल बाद ही वे पीड़ा का भी अनुभव करने लगते हैं। डीयरबार्न (Dearborn) का तो कहना है कि उन्यासी दिन तक बच्चों को पीड़ा का अनुभव नहीं होता किन्तु, डाकरे (Dockeray) और राइस (Rice) ने जो प्रयोग इस सम्बन्ध में किया उससे यह विदित होता है कि एक बार पीड़ा की उत्तेजना से उत्तेजित करने पर नवजात बच्चे ने किसी तरह की प्रतिक्रिया नहीं प्रदर्शित की, लेकिन पाँच घंटे बाद जब उन्होंने बच्चे को बार-बार उत्तेजित किया तो उसमें बेचैनी की प्रतिक्रिया देखी गयी। यद्यपि यह कहना बहुत कठिन है कि ऐसा क्यों हुआ, किन्तु इतना निर्विवाद है कि पीड़ा का ज्ञान बच्चों में स्पर्श ज्ञान के बहुत बाद होता है।

(६) अन्तरावयव संवेदना (Organic sensation):—आन्तरिक पीड़ा आदि को अन्तरावयव (Organic) संवेदना कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि नवजात शिशु भूख-प्यास का अनुभव करता है या नहीं ? इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करें तो यही कह सकते हैं कि जन्म के कुछ ही समय बाद उसमें भूख-प्यास अनुभव करने की शक्ति हो जाती है। कुसमाल तथा प्रेयर (Preyer) प्रभृत विद्वानों का कहना है कि बच्चे को जब भूख या प्यास लगती है तो वह अपने मस्तक को इधर से उधर करता है या रोता है अथवा चूसने की प्रतिक्रिया करता है। ये सभी प्रतिक्रियाएँ उसकी बेचैनी को प्रकट करती हैं। हाँ, तब इतना अवश्य है कि इस संवेदना को अनुभव करने के समय में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual difference) होती है। कुछ बच्चे चार-पाँच घण्टे बाद ही भूख-प्यास का अनुभव करते हैं और कुछ कई घण्टों के बाद इसका अनुभव करते हैं।

अबतक हम नवजात (Neonate) शिशु की विभिन्न ज्ञानात्मक शक्तियों (Sensory capacities) का उल्लेख करते रहे हैं इसलिए उनके सम्बन्ध में निष्कर्ष रूपमें यह कह देना अप्रासंगिक न होगा कि उनमें सभी प्रकार की ज्ञानात्मक शक्तियाँ दो सप्ताह के अन्दर परिलक्षित होती हैं किन्तु, सभी की क्षमता एक ही साथ नहीं होती। इसके अतिरिक्त वे शक्तियाँ उसी समय पूर्ण विकसित भी नहीं रहती बल्कि उनका विकास कालक्रमेण अनुभव (Experience) और अवस्था वृद्धि के साथ होता है जिसका उल्लेख आगे चलकर किया जाएगा।

३. क्रियात्मक योग्यता (Motor-capacity)

यों तो नवजात (Neonate) शिशु में कई प्रकार की क्रियात्मक योग्यताएँ विद्यमान रहती हैं किन्तु पहले हम उनकी सहज-क्रियाओं (Reflex actions) का संक्षिप्त वर्णन करेंगे, बाद में उनकी अन्य शक्तियों का उल्लेख किया जाएगा।

(१) **सहजक्रिया (Reflex action)**:—इसके पहले कि हम बच्चों की विभिन्न सहज क्रियाओं पर प्रकाश डालें; पाठकों को सहज क्रियाओं (Reflex actions) के स्वरूप और उसकी विशेषताओं से परिचित करा देना आवश्यक है। यदि इसकी व्याख्या परिभाषा द्वारा करें तो हम थोड़े शब्दों में यही कह सकते है कि किसी उत्तेजना से उत्तेजित होने पर उसके प्रतिकार के लिए जो तात्कालिक (immediate) स्नायविक (Muscular) अथवा ग्रंथिक (Glandular) प्रतिक्रया होती है उसे सहज-क्रिया (Reflex-action) कहते हैं। किसी उत्तेजना (Stimulus) के उपस्थित होते ही अविलम्ब सहज-क्रिया होती है। इसे हम अपने जीवन के अनुभव से नहीं सीखते है वल्कि इसकी योग्यता जन्मजात ((Inborn) होती है। पलक गिराना, आँसू गिराना, खाँसना आदि सहज-क्रियाएँ कहलाती हैं। कुछ सहज-क्रियाएँ वाहरी उत्तेजना के कारण होती है और कुछ मे बाहरी उत्तेजना (External-stimulus) काम नहीं करती बल्कि आन्तरिक उत्तेजना (Internal stimulus) काम करती है। पलक गिराने, छींकने, पैर झटकारने आदि की क्रियाएँ बाहरी उत्तेजना के कारण होती है किन्तु, खाँसने की सहज-क्रिया आन्तरिक उत्तेजना (Internal stimulus) के कारण होती है। यह क्रिया बहुत ही सरल स्वरूप की होती है जिसपर व्यक्ति का नियन्त्रण नही रहता; क्योंकि जिस समय यह क्रिया होती है उस समय इसका ज्ञान जीव (Organism) को नहीं रहता। किन्तु, बहुत-सी ऐसी सहज-क्रियाएँ है जिनकी चेतना, होने के बाद हो जाती है। छींकने, खाँसने-खुजलाने की क्रियाओं का ज्ञान बाद में हो जाता है किन्तु, पलक के घटने-बढने की क्रिया का ज्ञान जीव (Organism) को कदापि नहीं होता है। बहुत-सी सहजक्रियाएँ तो जीवन भर बनी रहती हैं किन्तु ऐसी भी कुछ क्रियाएँ होती हैं जो शैशवकाल में ही विलीन हो जाती हैं। इसमें एक प्रकार की एकरूपता (Uniformity) रहती है क्योंकि इसके होने का ढंग सदा एक ही रहता है। इसमें कहीं किसी प्रकार की तबदीली (Change) नहीं होती। कहने का अभिप्राय यह है कि किसी उत्तेजना विशेष से एक ही

प्रतिक्रिया विशेष होती है, दूसरी नहीं। पैर पर किसी कीड़ा के चढ़ने पर पैर झटकारने की ही सहज-क्रिया होती है, अन्य प्रकार की नहीं। इसकी तात्कालिकता भी अपनी एक खास विशेषता है क्योंकि ज्योंही कोई उत्तेजना उपस्थित होती है त्योंही उसके अनुरूप विना किसी विलम्ब के कोई सहज-क्रिया होती है। ज्योंही कोई अपना हाथ किसी की आँखों के सामने जल्दी से करता है त्योंही पलक गिरने की सहज-क्रिया भी होती है, पर यह बहुत देर तक रहती नहीं है, बल्कि शीघ्र समाप्त हो जाती है। इसीलिए इसे क्षणिक स्वरूप (Transitary nature) का कहा जाता है। कोई चीज नाक में पड़ने पर छींकने की क्रिया होकर शीघ्र समाप्त हो जाती है, इतना ही नहीं, बल्कि यह इतनी सरल होती है कि इसमें किसी प्रकार की जटिलता का नाम तक नहीं रहता। 'इस सम्बन्ध में पहले ही हम व्यक्त कर चुके हैं कि एक उत्तेजना से एक ही स्वरूप की सहज-क्रिया कैसे होती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इसके लिए शरीर का कोई अङ्ग विशेष ही आवश्यक होता है, सारा शरीर नहीं। हम पहले ही देख चुके हैं कि छींकने की क्रिया या पलक गिराने की क्रिया नाक या आँख से ही होती है अन्य अंगों से नहीं। इसलिए मनोवैज्ञानिको ने इसे स्थानीय (Local) कहा है। अन्त में इसके सम्बन्ध में इतना कह कर इसकी व्याख्या समाप्त करेगें कि यह अनर्जित (unlearnt) तथा अनियंत्रित (uncontrolled) है क्योंकि इसकी योग्यता हममें जन्मजात होती है। इसे अनुभव से सीखा नहीं जाता। जब बच्चा उत्पन्न होता है तो उसके कुछ ही देर बाद कई प्रकार की सहज-क्रियाएँ करने लगता है। इसे अनियंत्रित इसलिए कहा जाता है कि इसे कोई रोक नहीं सकता क्योंकि यह विचार-विहीन होती है। सहज-क्रिया को हम कभी रोकने में समर्थ नहीं होते।

(२) सहज-क्रियाओं के प्रकार (Types of Reflexes)

नवजात (Neonate) शिशु से कई प्रकार की सहज-क्रियाएँ परिलक्षित होती हैं किन्तु, यहाँ हम कुछ प्रमुख सहज क्रियाओ का उल्लेख करेगें।

(क) पलक-प्रत्यावर्त्तन (Pupilary Reflex):—पलक प्रत्यावर्त्तन सभी सामान्य मनुष्यो मे पाया जाता है। इसी के बदौलत मनुष्य अपनी आँख को अंधकार और प्रकाश में अभियोजित (Adjusted) करने में समर्थ होता है। पुतली के घटने और बढने के व्यापार को ही पलक

प्रत्यावार्त्तन कहते हैं। कम प्रकाश में बच्चों की पुतलियाँ बढ़ जाती हैं और अधिक प्रकाश में छोटी हो जाती हैं। यों तो इस सहज-क्रिया की परीक्षा नव-जात शिशु में बहुत कठिनाई के साथ होती है किन्तु, शेरमन (Sherman) प्रभृति-विद्वानों के प्रयोग से स्पष्ट है कि यद्यपि जन्म के समय बच्चों में यह नहीं देखी ज़ाती किन्तु, दो घंटे के वाद ही यह क्रिया दृष्टिगोचर होती है। तैंतीस घण्टे के बच्चो में यह प्रतिक्रिया बहुत ही निश्चित और स्पष्टतः परिलक्षित हुई है। इस तरह हम देखते हैं कि इसका आविर्भाव जन्म के कुछ घण्टों के वाद होता है।

(ख) **स्नायु-प्रत्यावर्त्तन** (Tendon Reflex):—मांसपेशी से आवद्ध स्नायु के थपथपाने से उस मांसपेशी में जो संकुचन (Contraction) होता है उसे स्नायु सहज-क्रिया (Tendon Reflex) अथवा स्नायु-प्रत्यावर्त्तन कहते हैं। घुटना झटकारने की सहज-क्रिया तथा और कई क्रियाएँ इसके अन्तर्गत आती हैं जिनका वर्णन क्रमशः किया जायेगा। घुटना झटकारने की उत्तेजना घुटने की चक्की के ठीक नीचे उससे आवद्ध स्नायु के थपथपाने से मिलती है। यह प्रतिक्रिया जाँघ के सामने वाली मांसपेशी (Muscle) के संकुचन (Contraction) से होती है। इसी के सिलसिले में यदि किसी तरह की रुकावट नहीं रहती है तो पैर झटकारने की सहज-क्रिया होती है।

दूसरी सहज-क्रिया जिसकी परिगणना स्नायु-प्रत्यावर्त्तन (Tendon Reflexes) के अन्तर्गत होती है वह एचिल-स्नायु-सहज-क्रिया (Achilles Reflex) के नाम से प्रख्यात है जिसकी उत्पत्ति पैर की एड़ी के ठीक ऊपर स्थित एचिल-स्नायु के थपथपाने से होती है। इसी प्रकार द्विमूल (Bicep-Reflex) तथा त्रिमूल (Tricep-Reflex) सहज-क्रियाएँ भी होती हैं। द्विमूल सहज-क्रिया जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है द्विमूल (Biceps) नामक मांसपेशी (Muscles) के संकुचन (Contraction) से होती है। यह संकुचन केहुनी के जोड़ के सामने के स्नायु के थपथपाने से होती है। त्रिमूल स्नायु-सहज-क्रिया (Tricep-Reflex) की उत्पत्ति त्रिमूल मांसपेशी के संकुचन से होती है जो केहुनी के ठीक पीछे उसके ऊपरी भाग में स्थित स्नायु के थपथपाने से होती है।

यद्यपि डीवी (Dewey) प्रभृति विद्वानो ने स्नायु-प्रत्यावर्त्तन (Tendon-Reflex) की सत्ता (Existence) सात महीने के गर्भस्थ

शिशु (Fetus) में भी मानी है किन्तु, अन्वेषण करने पर कई नवजात (Neonates) शिशुओं में यह प्रतिक्रिया नहीं पाई गयी है। इससे यह मालूम होता है कि यद्यपि गर्भस्थ शिशु (Fetus) में यह प्रतिक्रिया सम्भव है किन्तु, सभी नवजात शिशुओं में इसका होना आवश्यक नहीं है। यहाँ भी यह स्मरणीय है कि जन्म के समय इसका अभाव किसी शिशु-विशेष की असामान्यता के कारण नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसके अतिरिक्त और कई कारण हो सकते हैं।

(ग) धारण-प्रत्यावर्त्तन (Grasping Reflex):—धारण सहज-क्रिया का व्यापार सभी शिशुओं में जन्म से ही पाया जाता है। चार महीने तक यह व्यापार देखा जाता है, बाद में यह स्वतः विलीन हो जाता है। नवजात शिशु की हथेली पर हलका भार देने या उसके सामने कोई पकड़ने-वाली चीज को करने से उसमें पकड़ने की सहज-क्रिया होती है, किन्तु सभी अवस्थाओं में यह व्यापार परिलक्षित नहीं होता। भूख और रोने की स्थिति में शिशु का यह धारण-प्रत्यावर्त्तन (Grasping Reflex) आसानी से देखा जा सकता है, किन्तु उसकी सुषुप्तावस्था में ऐसा नहीं हो सकता। इस स्थल पर जे०बी० मार्गन (J.B. Morgan) द्वारा दिये गये एक असामान्य (Abnormal) बच्चे का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। वह ऐसे शिशु को व्यक्त करता है जो अनिश्चित काल तक यह व्यापार प्रदर्शित करता था, परन्तु ऐसा सभी सामान्य बच्चों में सम्भव नहीं है। हम किसी नवजात शिशु के सामने कोई नई चीज ले जाते हैं तो वह उसे जोरों से पकड़ लेता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि वह उसके सहारे मिनटों अपने भार को सँभाले रहता है। इसकी उपयोगिता मानवजाति में विशेष नहीं है, कारण यह है कि चार महीने के बाद बच्चों में यह व्यापार नहीं देखा जाता। इसकी अत्यधिक योग्यता वन्दरों में पायी जाती है।

(घ) पादतालिका-प्रत्यावर्त्तन (Plantar Reflex or Bibınski Reflex):—नवजात शिशु के तलवे को जब कोई सुहलाता या अन्य प्रकार से उत्तेजित करता है तो वह अपने अंगूठे को फैला देता है और अन्य उंगलियों का आकार पंखा की तरह हो जाता है। इस प्रतिक्रिया को मनोवैज्ञानिकों ने पादतालिका प्रत्यावर्त्तन (Plantar Reflex) के नाम से अभिव्यक्त किया है। यह सभी सामान्य शिशुओं में पाई जाती है। रीचार्ड्स (Richards) तथा इरविन (Irwin) ने इसमें कई प्रकार

के परिवर्त्तनों को प्रदर्शित किया है, किन्तु, अधिकांश मनोवैज्ञानिकों ने इस पर ध्यान नहीं दिया है। इसलिए बच्चे में अंगूठा प्रसरण के अतिरिक्त और भी कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ होती हैं। यही कारण है कि निश्चयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि तलवे के सुहलाए जाने पर शिशु में कौन-सी प्रतिक्रिया होगी। इस दशा में विभिन्न अवस्था के बच्चो के निरीक्षण से यह स्पष्ट है कि इसका विकास सामान्यीकरण से विशिष्टता की ओर होता है। दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि आरंभ में यह प्रत्यावर्त्तन सामान्य स्वरूप का होता है, बाद मे उसमे विशिष्टता आती है।

इसी तरह कपोल प्रत्यावर्त्तन (Cheek-Reflex) तथा अन्य सहज क्रियाएँ भी कालक्रम में उत्पन्न होती हैं किन्तु, उनपर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक नही है। नवजात शिशु मे उपर्युक्त सहज-क्रियाओं का ही प्राधान्य है।

(२) शिशु-जीवन में सहज क्रियाओं का महत्व
(Importance of Reflexes in Child's Life)

हम अभी ऊपर कह चुके है कि शिशु जीवन मे सहज-क्रियाओं का प्राधान्य और बाहुल्य रहता है। कुछ तो जन्म के समय मौजूद रहती हैं और कुछ बाद में समयानुकूल उपस्थित होती हैं और बाद में विलीन हो जाती हैं। कोरोनियस का प्रयोग इस बात का साक्षी है कि जिन व्यवहारों को बच्चे जन्मोपरान्त सीखते हैं उन्हें जानवर जन्म के पहले ही सहज-क्रियाओं के विकासक्रम में सीख लेते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सहज-क्रियाएँ बच्चों के विभिन्न व्यवहारो को सीखने के लिए आवश्यक है।

वाटसन (Watson) ने भी प्रयोग द्वारा यह प्रदर्शित कर दिया है कि बच्चे के शिक्षण, आदत, संवेग (Emotion) आदि के विकासों में सहज-क्रियाओ का प्रमुख हाथ रहता है। इसके अतिरिक्त ये क्रियाएँ उनके जीवन के लिए अत्योपयोगी हैं। पलक प्रत्यावर्त्तन (Pupilary Reflex) के प्रसाद से शिशु अपने को प्रकाश अथवा अन्धकार में अभियोजित करने मे समर्थ होता है। छींकने से हानिकर पदार्थ नाक से बाहर निकल जाता है। कहने का तात्पर्य है कि सहज-क्रियाएँ जीवन को सुरक्षित रखने में सहायक सिद्ध होती हैं। शिक्षा के दृष्टिकोण से भी इन प्रत्यावर्त्तनो का महत्व कम नहीं है। हम बच्चो की सहज-क्रियाओं को जानते है और उन्ही के आधार पर हम उनके भावी जीवन का निर्माण शिक्षा द्वारा करते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इनका महत्व बच्चों के जीवन में अत्यधिक है।

४. अन्य क्रियात्मक शक्तियाँ (Motor Capacities)

हम बच्चों की सहज-क्रियाओं का उल्लेख संक्षिप्ततः कर चुके हैं। यहाँ हम उनकी अन्य क्रियात्मक शक्तियों को नाम मात्र ही व्यक्त करेंगे क्योंकि आगे चलकर स्थल विशेष पर उनके विकास का वर्णन किया जाएगा।

जिन विद्वानों ने नवजात शिशुओं के व्यवहारों का अध्ययन किया है उन्होंने उनमें और भी कई प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं। यों तो जन्म के समय से ही उनमें साँस लेने, क्रन्दन, चूसने, मलमूत्र त्याग करने की क्रियाएँ देखी जाती हैं किंतु, कुछ जन्म के कुछ सेकेण्ड बाद और कुछ घंटो बाद देखने में आती हैं। इसमें व्यक्तिगत-भिन्नता (Individual difference) भी पाई जाती है। चौबीस घण्टो में बीस घण्टे प्रायः सोने मे ही व्यतीत होते है किन्तु, जागते समय उनमें अत्यधिक सक्रियता रहती है। हाथ, पैर, आँख, नाक में अनियमित गतियाँ (Random movements) होती हैं। सोने की हालत में भी उनमें पूर्णतः निष्क्रियता नहीं रहती है। हाथ-पैर को इधर-उधर घुमाना या फैलाना तो बच्चों का साधारण व्यापार है। बीस मिनट के बाद ही अधिकांश बच्चों मे छींकना, अश्रुस्राव, जँभाई लेना, माँ का दूध पीना, सर को घुमाना, अंगूठा चूसना आदि व्यापार देखने में आते हैं। दस दिनो के अन्तर्गत मस्तक को इधर-उधर संचालित करने, मुँह को भोजन के लिए खोलने, आँख को तरेरने, शरीर को कड़ा करने आदि क्रियाओं की शक्तियाँ देखी जाती है। यहाँ ब्रायन (Bryan) तथा ब्लाण्टन (Blanton) के प्रयोगों का आशय प्रकट कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्लाण्टन (Blanton) ने जब दस बच्चों को मुँह के बल सुला दिया तो देखने में आया कि उन्होने बीस मिनट के अन्दर ही अपने मस्तक को उठा लिया। ब्लाण्टन (Blanton) के बच्चे उसकी गोद में अपने सर को कुछ सेकण्ड तक उठा सकने में समर्थ हुए। इस काल में शिशुओं के हाथों को पकड़ने पर उनमें चलने की क्रिया भी देखने में आती है किन्तु, ऐसा बहुत ही कम होता है। प्रायः ये उपर्युक्त क्रियात्मक योग्यताएँ ही दो सप्ताहो तक बच्चे मे पाई जाती हैं किन्तु, हमे यह नहीं भूलना होगा कि किसी कारणवश इनमें से कई क्रियाएँ कुछ शिशु विशेषों मे प्रारंभ में नही भी पाई जा सकती है।

५. ज्ञानात्मक विकास (Sensory development)

नवजात शिशु की ज्ञानात्मक क्षमता का उल्लेख पहले ही किया जा-

चुका है। इसलिए हम अब विभिन्न ज्ञानात्मक शक्तियों के क्रमिक विकास का उल्लेख उनके जन्म के दो सप्ताह बाद से करेंगे ; क्योंकि दो सप्ताह तक उनकी शक्तियों का उल्लेख उसीके अन्तर्गत हो चुका है। अब दृष्टि ज्ञान (Visual sense) के विकास का वर्णन करने के लिए हम लोगों को यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि देखने की दूसरी अवस्था वह है जिसमें बच्चा अपनी आँख को चमकीले पदार्थ पर स्थिर करता है। किन्तु, यह अवस्था कितने दिनों में आती है इस पर मनोवैज्ञानिको मे मतभेद है। पेरेज (Perez) का कहना है कि किसी प्रकाशमय पदार्थ पर तीन-चार मिनट तक शिशु एक महीने की अवस्था मे ऐसा करते पाया गया, किन्तु दूसरे मे यही व्यापार पाँचवें सप्ताह मे देखा गया। ऐसे बच्चों का भी उल्लेख मिलता है जिनमे यह शक्ति दो महीने की अवस्था मे भी नही देखी गयी। रेहलमन का कहना है कि बच्चा पाँचवें सप्ताह के अन्त मे पदार्थों पर अपनी दृष्टि लगा देता है किन्तु, सिगिसमण्ड के अनुसार शिशु तीन महीने के मध्य तक किसी वस्तु पर ध्यानपूर्वक देखने लगता है। इन विरोधी निरीक्षणात्मक परिणामो को ध्यान में रखकर फ्रेडरिक ट्रेसी (Fr. Tracy) का निष्कर्ष है कि यह योग्यता सामान्य बच्चों मे चार-पाँच सप्ताह के लगभग हो जाती है।

दृष्टिज्ञान की तीसरी अवस्था मे बच्चा चंचल चमकीले पदार्थ का पीछा करने लगता है किन्तु, यदि उसकी चंचलता में अत्यधिक तीव्रता आती है तो उसका पीछा करने में समर्थ नही होता। अन्वेपकों ने बच्चे में यह व्यापार पाँच से सात सप्ताह में देखा है। गंजमर के बच्चे ने चंचल चीजों का पीछा भी आँखों द्वारा किया, इसलिए उसका विश्वास है कि बच्चे गत्यात्मक चीजो पर भी अपनी दृष्टि इस अवस्था में लगाने मे समर्थ होते हैं। परन्तु काल्मन ने एक आठ वर्ष की लडकी में इस योग्यता को नहीं पाया, किन्तु, ऐसा उसकी किसी असामान्यता के कारण ही सम्भव है।

चौथी अवस्था में शिशु किसी निश्चित दिशा की ओर अपनी दृष्टि लगाने में समर्थ होता है। यह योग्यता उसमे तीन से पाँच महीने तक आ जाती है। ट्रेसी (Tracy) ने अपनी साइकोलॉजी ऑफ चाइल्डहुड (Psycholcgy of Childhood) में एक दस सप्ताह की लडकी का उल्लेख किया है जो पुकारे जाने पर उसी ओर अपनी आँखे फेरती पायी गयी थी। इसी तरह एक बारह सप्ताह के बच्चे ने शब्द सुनकर उसी ओर अपनी

नजर फेरकर आदमी को देखकर अपनी दृष्टि को स्थिर कर लिया। एक बच्चा चौदह सप्ताह में घड़ी के दोलक पर दृष्टिपात करते पाया गया। उन्नी-सवें सप्ताह में एक बच्चे को उड़ती हुई चिड़िया को देखते हुए पाया गया तथा पाँच महीने की अवस्था में वह उस चिड़िया को निश्चित रूप से देख सका।

नवजात शिशु में दूरस्थ पदार्थ देखने की योग्यता नहीं होती; किन्तु एक महीने पाँच दिन की उम्र में टायडमन (Tiedmann) के शिशु ने अपने से दूर स्थित पदार्थ को समझकर उसे लेने को हाथ बढाया। कुछ अन्वेषकों का विश्वास है कि बच्चे को दूरी का ज्ञान दो महीने की अवस्था में होता है किन्तु, बहुसंख्यकों का ऐसा दृष्टिकोण है कि पाँच महीने की उम्र से बच्चा दूरी को समझने लगता है। फिर भी इस दिशा में जितने और भी प्रयोग हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि एक और दो वर्ष की अवस्था में भी कुछ बच्चे दूरीज्ञान की गलती करते है। किन्तु, एक सात महीने की बालिका के निरीक्षण से ऐसा प्रतीत हुआ कि वह निकट और दूर के अर्थ को समझती थी।[१]

सर्वप्रथम बच्चों मे रंगभेद का ज्ञान नही रहता किन्तु, इसकी योग्यता उनमे क्रमशः विकसित होती है। यों तो जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है जन्म के तीन चार दिन बाद ही बच्चे प्रकाश और अन्धकार को समझने लगते हैं पर रंग-भिन्नता (Colour difference) की परीक्षा के लिए दो महीने से लेकर दो वर्ष तक के बच्चों पर जो प्रयोग किये गये हैं उनसे यह विदित होता है कि तीन महीने की अवस्था में बच्चे भूरे और रंग के अन्तर को समझने लगते हैं और दो वर्ष की अवस्था में चार लाल रंगों को जानने लगते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के प्रयोग इस बात के साक्षी है कि इस अवस्था के सभी बच्चे रंग की भिन्नता (Colour difference) को जानने मे समर्थ नही होते। सम्भव है उनमें यह अभाव प्रयोग पद्धति विशेष के कारण पाया गया हो। फिर इस दिशा मे पाठशाला के बच्चों (School Children) पर जो प्रयोग विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के द्वारा किये गये हैं उनसे भी यही प्रमाणित होता है कि सभी बच्चो को विभिन्न रंगों का ज्ञान नहीं रहता। इसलिए इसका ज्ञान पाठशालीय जीवन (School life) में शिक्षा द्वारा करना आवश्यक है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि यह रंग-भिन्नता की योग्यता सामान्य बच्चों में ही क्रमशः

विकसित होती है, रंगान्ध (Colour-blind) बच्चों में नहीं, किन्तु, ऐसे बच्चों की संख्या दो चार प्रतिशत ही होती है।

यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक न होगा कि प्रारम्भ में शिशु अपनी माँ को पहचानता है, तब पिता को। छः महीने का बच्चा माता-पिता तथा नवागन्तुक में भेद समझने लगता है किन्तु, डेढ़ वर्ष की अवस्था में भी बच्चे दर्पण में अपने को देखकर दूसरे ही बच्चे का बोध करते हैं और उसे पकड़ने की कोशिश करते हैं। दो वर्ष की अवस्था में उन्हें चित्रों की जानकारी नहीं के बराबर रहती है। सिगिसमण्ड का बालक दो वर्ष की अवस्था में भी चित्रित वृत्त को तस्वीर समझ रहा था तथा प्रेयर (Preyer) का बालक उससे भी अधिक अवस्था में अपनी पिता की प्रतिछाया को पिता कहकर पुकारता पाया गया। परन्तु बालकों के ज्यों-ज्यों अनुभव और बुद्धि का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनके दृष्टि-ज्ञान का कोष भरपूर और निर्दोष होता जाता है।

दृष्टि-ज्ञान के बाद ध्वनि-ज्ञान (Auditory Sense) का दूसरा स्थान है जिसके सम्बन्ध में स्थल-विशेष पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिए यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रारम्भ मे बच्चो की कर्णेन्द्रिय परिपक्व (Matured) नहीं रहती, इसलिए वे शब्द की दिशा को निश्चित (locate) करने में सफल नहीं होते। दस सप्ताह से लेकर सत्रह सप्ताह तक के बच्चे अपने कान को ध्वनि की दिशा की ओर लगाते हुए पाये गये हैं, किन्तु इस ज्ञान में व्यक्तिगत भिन्नता (Individual-difference) भी कम नहीं पाई जाती। एक चार महीने, दस दिन के बच्चे में ध्वनि-दिशा की ओर कान लगाते पाया गया। उसमें किसी तरह की गलती नहीं देखी गयी। पाँच महीने का एक बालक मोटर के शब्द से यह जानने में सफल था कि किस खिडकी को देखना उपयुक्त है। चौबीस सप्ताह के बच्चे में ध्वनि-दिशा को निश्चित (locate) करने मे गलतियाँ नहीं पाई गयीं। इन विभिन्न संघर्षात्मक परिणामों (Contradictory results) को ध्यान में रखते हुए यही कहा जा सकता है कि यह व्यक्तिगत-भिन्नता (Individual-difference) कर्ण-परिपक्वता (Maturity) पर निर्भर करती है। चार महीने में शिशु ध्वनि को समझने लगते हैं।

यों तो बच्चों में व्यक्तिगत भिन्नता पाई जाती है किन्तु, दो से चार महीने में वे नाद (Timbre) और स्वर (Tone) को समझने लगते हैं। अतएव हम यह कह सकते हैं कि चार महीने होते-होते बच्चे शब्द के अर्थ

को समझने के लायक हो जाते हैं। एक सोलह दिन का बच्चा माता की पुचकार पर रोना बन्द कर देता था और दो महीने की अवस्था में वह कुत्ते के भूकने और डाँटने के अर्थ को समझ सका। एक साढ़े तीन माह की लड़की को जब डाँटा जाता था तो वह उसे समझ जाती थी किन्तु, डाक्टर डेमी ने एक सौ बच्चों में से दो ही बच्चों को, जिनकी अवस्था साढ़े तीन महीने की थी, माता-पिता के शब्दों को समझते हुए पाया। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि ध्वनि-ज्ञान में यह अन्तर वंशानुक्रम (Heredity) और अनुभव (Experience) के कारण होता है। संगीत को समझने की शक्ति बच्चों में बहुत ही पहले से पाई जाती है किन्तु इसके लय को समझने की शक्ति बाद में आती है। एक ऐसे साढ़े पाँच महीने का बच्चा डा० ब्राउन (Dr. Brown) को दृष्टिगोचर हुआ जो माता के गाने पर प्रसन्नचित्त हो जाता था और चुप होने पर रोने लगता था। पियानो की ध्वनि उसे विह्वल कर देती थी। कहने का अभिप्राय यह है कि एक वर्ष के पहले ही बच्चे गाने-बजाने को समझने लगते हैं और उस समय उनमें स्नायविक गतियाँ (Muscular movements) भी परिलक्षित होती हैं। यदि वातावरण उपयुक्त रहा तो उनकी इस शक्ति में क्रमशः विकास होता है किन्तु, अनुपयुक्त (Unfavourable) वातावरण मिलने पर उनकी यह शक्ति विनष्ट हो जाती है। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षकों को ऐसा वातावरण उपस्थित करना आवश्यक है जिसमें बच्चों की शक्ति का विकास सुचारु रूप से हो सके।

स्थल-विशेष पर यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि नवजात (Neonate) शिशुओं में स्वाद-ज्ञान विद्यमान रहता है किन्तु, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि उनमें इसका विकास धीरे-धीरे अनुभव के द्वारा होता है। प्रेयर (Preyer) ने अपने छः महीने के शिशु को मा के दूध को रात में तिरस्कृत करते हुए देखा क्योंकि दिन में उसे ऐसा दूध दिया जाता था जो माता के दूध से अधिक मीठा होता था। उसके बाद उसका यह ज्ञान इतना विकसित हो गया कि चार-पाँच वर्ष की अवस्था में देख करके ही भोजन के स्वाद को वह समझ जाता था। किन्तु इस ज्ञान में भी व्यक्तिगत भिन्नता देखी जाती है। एक छः महीने की लड़की को दवा का रंग बदल कर पिलाया जा सका किन्तु, एक ढाई महीने की बच्ची ने अस्वादिष्ट दूध होने के कारण उसे पीने से इनकार कर दिया। कहने का अभिप्राय यह है कि इस ज्ञान की विवृद्धि शिक्षा और अनुभव से होती है। किन्तु, यहाँ पर यह

स्मरणीय है कि कुछ बच्चे मिट्टी, स्याही, खल्ली आदि खाने में अपनी अभिरुचि दिखलाते हैं। उफर एक ग्यारह वर्षीया बालिका के सम्बन्ध में व्यक्त करता है कि वह साबुन के गन्दे पानी को पीने की शौकीन थी। किन्तु, बच्चों के इस व्यापार को असामान्य ही समझना चाहिए और माता-पिता तथा शिक्षकों को ऐसी आदतों को दूर करने के लिए समुचित उपाय करना आवश्यक है।

गंध-ज्ञान (Olfactory Sense) का सम्बन्ध स्वाद-ज्ञान (Taste Sense) से बहुत ही घनिष्ठ है। हम पहले ही देख चुके हैं कि प्रारंभ में बच्चे विभिन्न गंधों की क्योंकर प्रतिक्रिया करते हैं। दूसरे महीने के प्रारंभ में उनमें गंध-भेद की योग्यता हो जाती है और एक वर्ष के भीतर ही इसकी क्षमता अत्यधिक हो जाती है। इसलिए वे सुगन्ध को स्वीकार करते हैं और दुर्गन्ध का तिरस्कार करने हैं; लेकिन ऐसा प्रतीत होता है कि सयानों की अपेक्षा गंध की पहचान उनमें कम होती है, क्योंकि अरुचिकर गंध भी उन्हें सयाने की तरह प्रभावित नही करते। उनमें गंध-अभियोजन व्यापार भी सयानों की अपेक्षा अधिक देखने में आता है। यही कारण है कि किसी गंध की निरन्तरता से उनकी गन्ध-शक्ति कुण्ठित-सी हो जाती है। यद्यपि गन्ध की विवेचना बच्चे करने मे समर्थ होते हैं किन्तु, उचित इन्द्रिय के व्यवहार की क्षमता उनमे दूसरे वर्ष मे भी पूर्ण रूपेण परिलक्षित नही होती, क्योकि बहुत से बच्चे सुगन्धित पुष्पो को अपने मुँह में रखने का प्रयास करते हैं। क्रमशः अभ्यास और अनुभव के कारण उनकी यह शक्ति विकसित हो जाती है, किन्तु हमें यह नही भूलना होगा कि गन्ध-ज्ञान मनुष्यो की अपेक्षा जानवरों को अच्छा रहता है।

त्वकज्ञान (Cutaneous Sense) का विकास भी क्रमिक होता है। जैसा कि हम पहले ही देख चुके हैं बच्चों के विभिन्न अंगो में स्पर्श-ज्ञान क्रमशः होता है। पहले जिह्वा और नासिकारंध्र (Nostril) तथा पपनी के अंश अधिक संवेदनशील (Sensitive) रहते हैं। बाद में जो अंग बाह्य विश्व में संघर्ष किया करते हैं उनकी संवेदनशीलता कुण्ठित हो जाती है किन्तु, जो अंश सुरक्षित रहते हैं वे अत्यधिक स्पर्श-ज्ञान-बोधक होते हैं। ज्यों-ज्यों बृहन्मस्तिष्क (Cerebrum) विकसित होता है त्यो-त्यों बच्चे की स्पर्शशीलता की भी विवृद्धि होती है। विभिन्न प्रयोगो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि कर्ण-छिद्र, अग्रबाहु, पैर

कन्धा, छाती, पेट, पीठ, तथा जाँघ के ऊपरी भाग में स्पर्श-ज्ञान का विकास क्रमशः एक वर्ष के भीतर हो जाता है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस ज्ञान का महत्व बच्चों के जीवन में अत्यधिक है क्योंकि अन्धे बच्चे भी स्पर्श-ज्ञान के सहारे विश्व-ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होते हैं।

जहाँतक शीतोष्ण ज्ञान (Thermal Sense) का सम्बन्ध है उसके विषय में यह कहा जा सकता है कि शिशु-जीवन में उसके लिए जो क्षमता विद्यमान रहती है वही बराबर नहीं रहती, अपितु उसमें कुछ अन्तर पड़ता है। जिह्वा और मुँह कोटर की शक्ति तो जीवन पर्यन्त समान ही रहती है किन्तु, अन्य भागों में उसकी क्षमता अभियोजन के कारण कुछ कम हो जाती है।

अब अन्तरावयव-ज्ञान (Organic Sense) का उल्लेख करते समय यह व्यक्त कर देना आवश्यक मालूम होता है कि प्रारम्भ में भूख लगने पर बच्चा थोड़ा-सा खाता है किन्तु, पाँच महीने का होते-होते; वह खाना अच्छी तरह खाने लगता है। दस महीने का होने पर वह खाने के लिए नहीं रोता है और उसका पेट भी कुछ बढ़ जाता है। डार्विन (Darwin) का कहना है कि बच्चा पैंतालिस दिन मे उस समय सुख-दुख का अनुभव करने लगता है जब कि उसके पेट में किसी तरह का उपद्रव हो जाता है या वह अस्वस्थता के कारण परिश्रान्त हो जाता है। शिशु सयाने की अपेक्षा अत्यधिक थकावट का अनुभव करता है इसलिए वह सोता है, ताकि उसकी थकावट दूर हो।

जीवन के प्रथम महीने में स्नायविक संवेदना (Muscular Sensation) का ज्ञान बच्चों को बहुत ही अस्पष्ट रहता है किन्तु, तीसरे महीने से उसमें स्पष्टता आने लगती है। इसी समय वे विभिन्न भारों की तुलना करना भी प्रारम्भ कर देते हैं जिसमें परिपक्वता (Maturity) बाद मे आती है। चार महीने के बच्चे को एक खिलौना को उठाने के कारण विह्वल होता देखा गया। छः महीने के लगभग बच्चे किसी चीज के उठाने, खींचने आदि में आनन्द का अनुभव करने लगते हैं। जब उनमें चलने की शक्ति हो जाती है तब उनका यह ज्ञान पूर्णतः विकसित हो जाता है।

६. क्रियात्मक विकास (Motor development)

(१) बाल्य-जीवन में क्रियात्मक विकास का महत्त्व (Importance of Motor development in child's life):—यह पहले

ही देख चुके हैं कि प्रारम्भ में बच्चों की अवस्था असहाय रहती है, इसलिए वे पूर्णतः अपने माता-पिता पर निर्भर करते हैं। किन्तु, कालक्रम में अवस्था वृद्धि के साथ उनमें तरह-तरह की ज्ञानात्मक और क्रियात्मक (Sensory & Motor) शक्तियों का आविर्भाव और विकास होता है जिनके प्रसाद से उन्हें आगे चलकर किसी के आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अब वे सभी काम स्वयं कर लेते हैं और अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति स्वयं करते हैं। वस्तुतः उनमें अगर क्रियात्मक योग्यताओं का विकास नहीं हो तो वे अपना जीवन कभी सफलतापूर्वक यापन करने में समर्थ न हों। इसी के चलते उनमें बौद्धिक और सामाजिक विकास होता है। संसार का ज्ञान विकास पर निर्भर करता है। हम लिखने-पढने ; गाने-बजाने आदि को भी अच्छी तरह जानते हैं कि ये क्रियाएँ हमारे जीवन के लिए कितनी आवश्यक और लाभप्रद हैं। हमारे शरीर का स्वास्थ्य भी इसी पर निर्भर करता है। यदि हममें इसकी योग्यता न होती तो हमारे शरीर के सारे अंग निष्क्रिय रहने के कारण बेकार बन जाते और उनमें पुष्टता कभी नहीं आती। हम थोड़े शब्दों में यही कह सकते हैं कि यदि बच्चे में क्रियात्मक योग्यताओं का विकास नहीं होता तो वे जीवन में कुछ भी करने में सफल नहीं होते और सदा असामाजिक ही बने रह जाते। हमारे अत्यधिक शिक्षण इसी पर निर्भर करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं बाल-जीवन के लिए क्रियात्मक विकास का अत्यधिक महत्व है किन्तु, इसके पहले कि हम इस पर प्रकाश डालें, यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि उनके क्रियात्मक विकास में भी एक क्रम और नियम होता है। पहले शरीर के ऊपरी भागों में क्रियात्मक योग्यताओं का विकास होता है, तत्पश्चात क्रमशः निम्नस्थ अवयवों में क्रियात्मक योग्यताएँ आविर्भूत और विकसित होती हैं। यहाँ हम कुछ प्रमुख क्रियात्मक क्षमताओं के विकास का संक्षिप्ततः उल्लेख करेंगे।

(अ) आसन (Sitting):—यह पहले ही व्यक्त किया जा चुका है कि शुरू में बच्चों की क्रियाएँ सामान्य स्वरूप (Mass activity) की होती हैं और उनके शरीर के सभी अङ्ग गतिशील रहते हैं। अवस्था वृद्धि के साथ उन सामान्य क्रियाओं से ही विशिष्ट प्रतिक्रियाएँ प्रस्फुटित होकर विकसित होती हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम उनके शारीरिक आसन पर विचार करेंगे। यों तो जितने मनोवैज्ञानिकों ने नवजात शिशु की विभिन्न क्रियात्मक शक्तियों का निरीक्षण विकासात्मक दृष्टिकोण (Developmental point of view) से किया है उन सब मे मतैक्य नहीहै। इसका कारण यही प्रतीत होता है कि

उनकी निरीक्षण पद्धति और निश्चित माध्यम की भिन्नता से ही ऐसा हुआ है। फिर भी गेसेल (Gessel), शर्ली (Shirley) बेली, (Bayley) थाम्पसन (Thompson), बुहलर (Buhler), मेकग्रॉ (McGraw) आदि मनोवैज्ञानिकों के आधार पर हम बच्चों के आसनिक विकास का उल्लेख करना अनुचित नहीं समझते।

जब बच्चा जन्म लेता है तो उस समय उसमें अपना सर उठाने की शक्ति नहीं रहती, इसलिए उसका नियन्त्रण करने में वह पूर्णतः असमर्थ रहता है। किन्तु, इसी अवस्था में उसमें इतनी शक्ति आ जाती है कि पेट के बल सुला देने पर अपने सर को थोड़ा-सा उठा लेता है और दो सप्ताह की अवस्था में उसका सर कुछ और अधिक उठने लगता है। परन्तु जब वही बच्चा तीन चार महीने का हो जाता है तब वह अपने सर को आसानी से उठाने लगता है। जब कभी उसे पुनः पेट के बल सुला दिया जाता है तब वह अपने शरीर के ऊपरी आधे भाग को जमीन से ऊपर उठाने लगता है। छः महीने के लगभग गोद में लेने पर अपने मस्तक को वह अच्छी तरह सीधा रखने लगता है। इस सम्बन्ध में गेसेल (Gessel) का कहना है कि शिशु में सर को नियंत्रित करने की योग्यता उसके शरीर पर नहीं, अपितु उसके नाडी मण्डल (Nervous system) की परिपक्वता पर निर्भर करती है, किन्तु इसमें मतभेद है।

चार महीने के पहले तो नहीं किन्तु, इस अवस्था में लगभग बीस प्रतिशत शिशु किसी आश्रय को लेकर बैठना शुरू कर देते हैं। किन्तु, छः महीने की अवस्था में किसी आश्रय को लेकर बैठने में समर्थ होनेवाले बच्चों की संख्या साठ प्रतिशत होती है। नौ महीने में प्रायः सभी सामान्य बच्चे स्वयं बिना किसी आश्रय के बैठने में सफल होते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि बैठने का व्यापार कभी कभी बहुत ही कम उम्र के बच्चों में भी देखा गया है परन्तु, ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

जहाँ तक खड़ा होने का प्रश्न है उसके सम्बन्ध में यह देखा जाता है कि आठ नौ महीने के बच्चे कभी-कभी हाथ का सहारा लेकर खड़े हो जाते हैं। बारह महीने की अवस्था में स्वस्थ बच्चे तो स्वयं खड़ा होना शुरू कर देते हैं किन्तु, रुग्ण बच्चों को बिना सहारे के उस समय भी खड़ा होना कठिन होता है। हाँ, अठारह महीना होते होते सभी सामान्य बच्चे बिना किसी आश्रय के खड़ा होने लगते हैं। आसनिक विकास (Postural development) के सम्बन्ध में शर्ली (Shirley) का कहना है कि पहले सोने पर बच्चे

अपना मस्तक उठाते हैं। पुनः वे कुछ क्षण के लिए किसी चीज का सहारा लिये बिना ही बैठने लगते हैं, उसके बाद उनको बैठने के लिए आश्रय की आवश्यकता नहीं पड़ती। चौथी अवस्था में वे कुर्सी या चारपाई को पकड़कर खड़ा होने लगते हैं जिसके बाद बराबर किसी चीज को पकड़ और खींच कर खड़ा होते हैं। अन्ततोगत्वा स्वयं खड़ा होने और खड़ा होने से बैठने का व्यापार स्वयं बिना किसी आश्रय के होने लगता है। यहाँ पाठकों को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बैठने और खड़ा होने में स्वास्थ्य और पुष्टिकर भोजन का अत्यधिक हाथ रहता है। जिन बच्चों का स्वास्थ्य अच्छा रहता है और जिन्हें पुष्टिकर भोजन मिलता है वे इन व्यापारों को समयानुकूल प्रदर्शित करते हैं किन्तु, रुग्ण और दरिद्र बच्चों का आसनिक विकास बहुत विलम्ब से होता है। अतएव, समुचित आसनिक विकास के लिए माता-पिता को स्वास्थ्य और भोजन पर ध्यान रखना आवश्यक है। बहुत से माता-पिता ऐसे देखने में आते हैं जो अपने बच्चे को अज्ञान और स्नेहवश बैठने और खड़ा होने का अवसर नहीं देते और निरन्तर उन्हें अपनी गोद में रखे रहते हैं। उनका ऐसा करना बच्चों की मानसिक-विकास-गति को अवरुद्ध कर देता है, इसलिए वे बहुत देर से बैठना और खड़ा होना सीखते हैं।

(ब) चलना (Locomotion):—चलने-फिरने का महत्व बच्चे के जीवन में अत्यधिक है। यदि इसकी शक्ति उसमें न रहती तो वह कभी सामाजिक प्राणी बनने में समर्थ नहीं होता और सदा मिट्टी की मूर्त्ति ही बना रहता।

अब हमें इस क्रिया के विकास का उल्लेख करने के लिए यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि सुला देने पर तीन-चार महीना का बच्चा अपने हाथ-पैर को संचालित करने लगता है। उसके इस संचालन व्यापार में काफी सहनियम (Co-ordination) रहता है। यों तो कुछ बच्चे छः महीने में ही रेंगने का व्यापार प्रदर्शित करने लगते हैं किन्तु, नौ महीने में अधिकांश शिशु ऐसा करते हैं। बारह महीने में सभी सामान्य बच्चे ऐसा करने में समर्थ होते हैं। इसी प्रकार कुछ शिशु नौ महीने में हाथ पकड़कर चलते हैं, परन्तु एक साल के अधिकांश बच्चे बिना आश्रय के चलने लगते हैं। अठारह महीने की उम्र में तो सभी बच्चे अच्छी तरह चलने लगते हैं। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि इस योग्यता में तीन अवस्थाएँ निहित रहती हैं। पहली अवस्था घसकने (Crawling) की होती है। इसमें बच्चा अपने

शरीर को जमीन से नहीं उठाता और अपने हाथ और पैर को घसीटता है। दूसरी अवस्था रेंगने (Creeping) की होती है जिसमें वह अपने हाथ और पैर को चलाता है किन्तु, उसका सर और उसकी छाती उठी रहती है। अन्तिम अवस्था चलने (Locomotion) की वह है जिसमें वह अपने पैर के बल चलता है किन्तु, यह आवश्यक नहीं है कि सभी बच्चों में यह क्रम और अवस्थाएँ पाई ही जाएँ। क्योंकि बहुत से बच्चे रेंगने और घसकने के पहले ही चलना शुरू कर देते हैं। यहाँ यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक न होगा कि इस विकास को कई अंग (Factors) प्रभावित करते हैं जिनपर स्थल-विशेष पर प्रकाश डाला जायगा।

कभी-कभी सीढ़ियों पर चढने की क्रिया बच्चों में चलने के पहले भी देखी जाती है क्योंकि वे घसकते-घसकते उसपर चढ जाते हैं। प्रारंभ में वे किसी सहारे सीढ़ी पर चढ़ते हैं। तीन वर्ष की अवस्था में वे इसमें निपुण हो जाते हैं और चार वर्ष का होते-होते किसी कठिनाई का अनुभव नहीं करते। किन्तु, इसमें व्यक्तिगत-भिन्नता होती है, क्योंकि छोटे कद और रुग्ण बच्चे इस समय भी ऐसा करने में समर्थ नहीं होते। पेड़ पर चढने (Climbing) की क्रिया बहुत बच्चों में पाठशालीय जीवन (School-stage) के पूर्व आरंभ हो जाती है जिसका पूर्ण विकास दस बारह वर्ष की अवस्था में होता है किन्तु, यह क्रिया उन्हीं बच्चों में विकसित होती है जिन्हें सुअवसर मिलता है। यही कारण है कि ग्रामीण बच्चे नागरिकों की अपेक्षा अच्छी तरह और अधिक संख्या में पेड़ों पर चढ़ते हैं। जहाँ तक दौड़ने का काम है जब वे चलना शुरू करते हैं उसी समय दौडने की भी कोशिश करते हैं किन्तु, उस समय उन्हें पूरी सफलता अपने प्रयास से नहीं मिलती है। चार-पाँच साल की अवस्था में वे खूब अच्छी तरह दौड़ने घूमने लगते हैं।

कूदने-फाँदने की क्रिया का आविर्भाव तो दो ही वर्ष में हो जाता है, किन्तु इसका विकास तीन-चार वर्ष की अवस्था में होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि पाठशाला के योग्य होते-होते वह दौडने, कूदने, नाचने आदि क्रियाओं में पूर्ण सफल हो जाता है।

(२) चलने की अवरुद्धता के विभिन्न कारण

हम ऊपर देख चुके हैं कि चलने, दौड़ने आदि क्रियाओं का विकास बच्चों में क्योंकर और कब होता है। इसलिए यहाँ हम उन अंगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जो उनकी इस गति को अवरुद्ध करते हैं।

साधारणतः अधिकांश सामान्य बच्चे बारह से चौदह महीने की उम्र में चलना शुरू कर देते हैं किन्तु, अठारह महीना होते-होते सभी सामान्य बच्चों में चलने की क्रिया देखी जाती है। कुछ बच्चे ऐसे भी होते हैं जिनमें मानसिक दुर्बलता के कारण बहुत दिनों के बाद चलने की शक्ति होती है किन्तु, विलम्ब से चलना केवल मानसिक दुर्बलता के कारण ही नहीं होता बल्कि इसके और भी कई कारण होते हैं।

चलने पर बच्चों के भोजन और शारीरिक बोझ का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। जिन बच्चों को दरिद्र भोजन मिलता है उनका शरीर शक्तिशाली नहीं होता। अतः उनके पैर इतने दुर्बल होते हैं कि वे उन्हें जमीन पर स्थिर करने और आगे-पीछे करने में असमर्थ होते हैं। परिणामतः बहुत दिनों बाद उनमें चलने की क्रिया का आविर्भाव होता है, किन्तु परिपक्वता बहुत देर से आती है।

बहुत से बच्चों का शारीरिक भार इतना अधिक होता है कि उनके निर्बल पैर उसे सँभालने में जल्दी समर्थ नहीं होते, इसलिए वे बहुत दिनों तक खड़ा नहीं होते। चलने के पहले खड़ा होना आवश्यक होता है, इसलिए खड़ा होने में विलम्ब के कारण चलने की क्रिया में भी विलम्ब हो जाता है।

अस्वस्थता भी चलने की गति को अवरुद्ध कर देती है। चलने के लिए शारीरिक अंगों (मुख्यतः पैरों) का सबल होना और उनको नियन्त्रित करने की शक्ति का होना आवश्यक है। किन्तु, जो बच्चा निरन्तर रुग्ण रहता है, उसके स्नायु और पुट्ठे आदि निर्बल ही बने रहते हैं जिनसे काम लेना कठिन हो जाता है। इसलिए रोगी बच्चे सामान्य बच्चों की अपेक्षा विलम्ब से चलते हैं।

चिकना और ठण्ढा कमरे का धरातल बच्चे के चलने में कम रुकावट नहीं डालता। चिकने धरातल पर उसका पैर नहीं टिकता, इसलिए वह चलने का ढंग जल्दी नहीं सीखता। इसी तरह शीतमय धरातल भी उसकी गति को अवरुद्ध करता है, क्योंकि ठंढक से वह बहुत डरता है और चलने का प्रयास नहीं करता। फलतः वह बहुत विलम्ब से चलना शुरू करता है।

कसे और अनावश्यक कपड़ों के कारण भी चलने में अवगति देखने में आती है, क्योंकि कसे और चुस्त कपड़े बच्चों को स्वतन्त्रतापूर्वक अपने अंगों को घुमाने नहीं देते। इसी तरह अनावश्यक और ढीले ढाले कपड़े भी चलने में बाधक होते हैं, क्योंकि बच्चे उन्हीं मे फँसकर गिरते हैं।

कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि मानसिक दुर्बलता विलम्ब से

चलने का कारण होती है और उनका यह दृष्टिकोण कुछ अंशों में ठीक भी है। बहुत से मानसिक दुर्बलता से पीड़ित बच्चे देर से चलना शुरू करते हैं, किन्तु, जितने बच्चे विलम्ब से चलना प्रारम्भ करते हैं वे सभी मानसिक दोषी नहीं होते। इसलिए केवल यही अंग बच्चे के चलने के विकास को प्रभावित नहीं करता।

कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई शिशु चलने के लिए खड़ा होता है और चलना शुरू करता है। उसी समय वह गिर जाता है जिसपर उसके माता-पिता उसपर हँसने लगते हैं। फलतः वह पुनः चलने की कोशिश भी नहीं करता है जिसके फलस्वरूप उसके चलने की गति में विकास बहुत विलम्ब से होता है। इस तरह हम देखते हैं कि संवेगात्मक अनुभव (Emotional experience) भी इसकी अवगति का कारण होता है।

बहुत से माता-पिता अपने बच्चे को इतना प्यार करते हैं कि वे निरंतर उसकी आवश्यकताओं को पूरा करते रहते हैं। उसे कभी अपनी गोद से अलग नहीं करते हैं और उसकी अनावश्यक परिचर्या में तल्लीन रहते हैं। इसलिए किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए उसे चलने-फिरने की इच्छा ही नहीं होती और परिणामतः अवसर के अभाव में वह देर से चलना शुरू करता है।

अबतक हम इन भिन्न-भिन्न अंगों पर प्रकाश डालते रहे हैं, इसलिए अब प्रश्न यह है कि इनका निदान क्या है? जहाँ तक भोजन और शारीरिक बोझ का सम्बन्ध है उनके विषय में माता-पिता को बच्चों को पौष्टिक भोजन और उनके स्वास्थ्य पर ध्यान देना आवश्यक है। अस्वस्थता को फटकने नहीं देने का उपाय करना श्रेयस्कर है। इसके लिए बच्चों को नियमित भोजन और चलने के लिए प्रोत्साहन अपेक्षित है। उनके चलने के लिए ऐसे कमरों का प्रबन्ध होना जरूरी है जो पैर को टिकाने में सहायक हों। अनावश्यक कपड़ों से बच्चों के अंग-प्रत्यंग को कस देना श्रेयस्कर नहीं। चलने के समय यदि बच्चे गिर जाएँ तो उन्हें हँसकर लज्जित करना लाभप्रद नहीं होता, बल्कि पुनः कोशिश करने के लिए प्रोत्साहित करना श्रेयस्कर होता है। अनावश्यक परिचर्या करना बच्चों के लिए कल्याण-कर नहीं, अपितु विभिन्न साधनों से उनमें चलने के लिए इच्छा उत्पन्न करना और प्रोत्साहित करना विशेष लाभप्रद होता है। इसलिए माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों का धर्म है कि उन अंगों (Factors) को यथासाध्य

दूर करने की कोशिश करें जो उनके बच्चों के चलने की गति को अवरुद्ध करने में सहायक होते हैं।

७. शारीरिक कौशल-विकास (Manual Skill development)

शिशुओं की अवस्था ज्यों-ज्यों विकसित होती है त्यों-त्यों उनमें खड़ा होने, चलने, दौड़ने आदि के अतिरिक्त अन्य प्रकार के कौशलों का विकास भी होता है। उनमें से हम यहाँ कुछ प्रमुख कौशलों पर क्रमशः संक्षिप्त रूप में प्रकाश डालेंगे।

(१) धारण (Prehension):—नवजात शिशु में धारण व्यापार प्रारम्भ से देखा जाता है किन्तु, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, यह सहज क्रिया के अन्तर्गत आता है, क्योंकि उस समय वे किसी चीज को इच्छानुसार नहीं पकड़ते। यह तो उनमें जन्मजात व्यापार होता है। परन्तु जो धारण व्यापार ऐच्छिक होता है उसकी शक्ति बच्चों में बाद में आती है। इसलिए पाठकों को इन दोनों व्यापारों को एक ही नहीं समझना चाहिए।

जिन मनोवैज्ञानिकों ने बच्चों की इस क्रिया का निरीक्षण किया है उनसे यह स्पष्ट है कि पहले-पहल बच्चा इस व्यापार का प्रदर्शन दूसरे-तीसरे महीने में करता है। कुछ लोगों का ऐसा दृष्टिकोण है कि इसका प्रारम्भ मुँह में अंगूठा डालने के रूप में होता है। कुछ शिशुओं में किसी चीज को मुँह में डालने की कोशिश करने का व्यापार छः सप्ताह से उन्नीसवें सप्ताह में भी देखने में आता है। चार महीने की उम्र में वे पकड़ी हुई चीजों पर अपनी आँख लगाते हैं। यद्यपि गति-संचालन (Movements) में प्रतिपक्षता नहीं रहती, किन्तु ऐसा देखा जाता है कि आठ से सोलह सप्ताह के बच्चे किसी चीज को पकड़ने के लिए प्रयास करते हैं।

किसी देखे हुए पदार्थ को पकड़ने की योग्यता का विकास छः महीने के पहले बहुसंख्यक बच्चों में नहीं होता। एक वर्ष की अवस्था में ये किसी पेन्सिल या कलम को पकड़ लेते हैं। ढाई वर्ष की अवस्था का होते-होते उनमें पदार्थ को पकड़ने की पूर्ण योग्यता हो जाती है। इस सम्बन्ध में हालवरसन (Halverson) और कास्टनर (Castner) के अन्वेषणों का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक न होगा, क्योंकि उनसे बच्चों के साधारण व्यापार विकास का ज्ञान और भी स्पष्ट हो जाएगा। उनके निरीक्षणों से यह स्पष्ट है कि जब छोटे-छोटे बच्चों के सामने घन (Cubes) रखे गये तो उनकी आँखें

उन पर नहीं गयीं। सोलह सप्ताह की अवस्था में वे उन्हें पाँच सेकेण्ड तक देख सके किन्तु, उन्होंने उन्हें स्पर्श नहीं किया। चौबीसवें सप्ताह में आधे के लगभग बच्चे उन्हें स्पर्श मात्र तक कर सके। अट्ठाईस से चालीस सप्ताह की अवस्था में उनके हाथ और आँख में इतना सह-नियम (Co-ordination) स्थापित हो चुका था कि किसी चीज तक पहुँचने का व्यापार कई अवस्थाओं से होकर गुजरता था और अन्ततोगत्वा चालीस सप्ताह का होने पर बच्चा आसानी से किसी पदार्थ तक पहुँच जाता था। इसी प्रकार धारण (Prehension) व्यापार विकास भी कई अवस्थाओं से होकर गुजरता है। सर्व प्रथम पूरी भुजा संचालित होती है, इसके बाद केहुनी, उँगलियाँ और कलाई में क्रमशः गतियाँ होती हैं। हालवरसन (Halverson) का निरीक्षण इस बात का साक्षी है कि बीस सप्ताह का बच्चा अपनी मुट्ठी में घन को न पकड़कर एक हाथ से अपने शरीर में या दूसरे हाथ में दबाता है। चौबीस सप्ताह में वह अपनी हथेली पर लेकर उँगलियों से ज्यों-त्यों पकड़ने लगता है। अट्ठाईसवें सप्ताह में वह उस चीज को उँगलियों से वृत्ताकार करके पकड़ लेता है और बत्तीसवें सप्ताह मे अंगूठे और अन्य उँगलियों के सह-नियम (Co-ordination) से पकड लेते हैं बावनवें सप्ताह में पूरी मुट्ठी बँधने लगती है। ढाई वर्ष होते-होते पेंसिल या कलम को पकड़ कर रेखाएँ खींचने लगता है। धारण व्यापार विकास इस अवस्था में परिपक्वता की ओर अग्रसर रहता है।

(२) फेंकना (Throwing):—यद्यपि फेंकने के सम्बन्ध में अधिक मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग नहीं किया है किन्तु, इतना निर्विवाद है कि इसके लिए बालक को एक आसन-विशेष में रखना आवश्यक है जिससे वह किसी चीज को अच्छी तरह पकड़ कर फेंक सके। गेसेल (Gessel) का कहना है कि छः महीने का बच्चा बैठे-बैठे गेंद को फेंकने लगता है और एक वर्ष की अवस्था में वह निश्चित दिशा में गेंद फेंकने लगता है। तेरह महीने के बच्चे में से चालीस प्रतिशत बच्चे एक दूसरे के साथ गेंद खेलने लगते हैं। दूसरे वर्ष में वह गेंद को एक निश्चित दिशा में तो फेंकता ही है साथ-साथ उसे बहुत दूर फेंकने में समर्थ होता है और इसी समय दूसरे द्वारा फेंके हुए गेंद को वह पकड़ने भी लगता है। यही कारण है कि इस अवस्था के बच्चे गेंद खेलने में अपनी रुचि अधिक लगाते हैं। हाँ, इस समय बच्चा गेंद को अपने दोनों हाथों से पकड़ता है, किन्तु ऐसा करने से उसे बराबर सफलता नहीं मिलती। कुमारी वाइल्ड के सात वर्ष तक की अवस्था वाले बच्चों पर किये गये प्रयोग से यह स्पष्ट है कि छः वर्ष तक बच्चे फेंकने में निपुण हो जाते हैं, उसके बाद उनके

इस कौशल में सूक्ष्मता और बारीकी मात्र आती है। इसी तरह उनमें लिखने का विकास दो वर्ष से चार-पाँच वर्ष की अवस्था में हो जाता है और वे अपने नाम को आसानी से सीख लेते हैं। अन्य प्रकार के कौशलों का विकास भी उनमें समयानुकूल हो जाता है, किन्तु यहाँ हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे।

८. ऐच्छिक गति की प्रतिपन्नता एवं शीघ्रता (Accuracy & speed of voluntary movements)

(१) गति की शीघ्रता (Speed of movement):—यों तो छोटे बच्चे की ऐच्छिक गतियों की शीघ्रता का ज्ञान होना कठिन है, किन्तु चार वर्ष की अवस्था से बच्चों की ऐच्छिक गति का ज्ञान थपथपाने या अन्य प्रयोगों के द्वारा किया जाता है। गुडएनफ (Goodenough) और टिंकर (Tinker) के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि पाँच वर्ष की अवस्था के बच्चे दस सेकण्ड में पन्द्रह से चालीस बार थपथपा सकते हैं। बचपन में इसकी चाल में अत्यधिक विकास होता है। विभिन्न प्रयोगों से यह विदित होता है कि ६ वर्ष की अवस्था में तीस सेकण्ड में एक सौ पन्द्रह बार थपथपाने की क्रिया होती है, किन्तु बारह वर्ष की अवस्था में उनकी संख्या एक सौ साठ हो जाती है, यह संख्या दायें हाथ से थपथपाने की है। किन्तु बायें हाथ से बारह वर्ष में एक सौ चालीस बार थपथपाने की क्रिया हो जाती है। हाँ, इसमें लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा श्रेष्ठ होती हैं। गेट्स (Gates) तथा स्काट के प्रयोगों से भी यही स्पष्ट होता है। पूर्व-पाठशालीय बच्चों (Pre-school-children) में क्रियात्मक विकास (Motor development) सुचारु रूप से हो जाता है। इसी अवस्था में सूक्ष्म तथा सहनियमित (Co-ordinated) ऐच्छिक (Voluntary) क्रियाओं का विकास होता है।

(२) गति की प्रतिपन्नता (Accuracy of movement):—बालकों की ऐच्छिक गति की प्रतिपन्नता (Accurancy) की जाँच कई मनोवैज्ञानिकों ने की है जिनमें वेलमैन (Wellman) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उसके प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि पूर्व-पाठशालीय बालकों (Pre-school children) में ऐच्छिक गति-प्रतिपन्नता (Accuracy of voluntary movement) अत्यधिक देखने में आती है।

तीन और छः वर्ष की गति-प्रतिपन्नता में दूने का अन्तर पड़ता है। ब्रायन (Bryan) के प्रयोग-परिणाम के आधार पर यह निस्संकोच कहा जा सकता है कि छः वर्ष की अवस्था से इसमें जो गलतियाँ होती हैं उसकी संख्या बारह वर्ष के बच्चों में आधी हो जाती है। इसमें छ-सात और आठ वर्ष की अवस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों में अधिक प्रतिपन्नता (Accuracy) दीख पड़ती है। यह विकासक्रम किशोरावस्था तक दिखलाई पड़ता है।

९. मूठ-शक्ति (Strength of grip)

बच्चे की मूठ-शक्ति के द्वारा भी उसके क्रियात्मक विकास का ज्ञान होता है, इसलिए मनोवैज्ञानिको ने उसकी इस शक्ति की भी जाँच की है। इसकी जाँच के लिए कई पद्धतियो (Methods) और यंत्रों (Instruments) का व्यवहार होता है किन्तु, यहाँ उनका उल्लेख वांछनीय नहीं। इसलिए इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि बच्चों की मूठ-शक्ति बारह वर्ष के पूर्व तक बढ़ती रहती है। मूठ-शक्ति की जानकारी जो प्राप्त की गयी है उससे विदित होता है कि सात वर्ष और बारह वर्ष की मूठ-शक्ति में दूने का अन्तर होता है और यही शक्ति बढ़कर सतरह वर्ष में सात वर्ष की अपेक्षा चौगुनी अधिक हो जाती है। लड़कियों की इस शक्ति में सात और बारह वर्ष में दूने का अंतर पड़ता है, किन्तु सतरह वर्ष में बारह वर्ष की अपेक्षा केवल पचास प्रतिशत ही मूठ-शक्ति की विवृद्धि होती है। इस दिशा में लड़के लड़कियों की अपेक्षा कुछ अंशो में श्रेष्ठ होते हैं। बालकों की यह शक्ति उनके भार और ऊँचाई की अपेक्षा सात वर्ष से बारह वर्ष तक और कभी-कभी बीस वर्ष तक भी आगे तीव्र गति से बढ़ती है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बच्चों की मूठ-शक्ति (Strength of grip) उनके वातावरण से अत्यधिक प्रभावित होती है। यहाँ यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक न होगा कि यद्यपि बच्चों की परिश्रान्ति को जानना बहुत कठिन है, किन्तु प्रयोगों से जो मालूम हो सका है उनके आधार पर कहा जा सकता है कि छः वर्ष से नौ वर्ष तक वे थकावट अनुभव करते हैं, किन्तु नौ से बारह वर्ष तक उनमें परिश्रान्ति के लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते।

१०. क्रियात्मक कौशल के प्रशिक्षण (Training) का सुझाव

अब तक हम बच्चों की विभिन्न क्रियात्मक शक्तियों के विकास का

उल्लेख करते आए हैं, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि उन्हें कौशल की शिक्षा क्योंकर दी जाए ? यहाँ हम विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के द्वारा व्यक्त किये गये सुझावों का संक्षिप्त उल्लेख करना जरूरी समझते हैं।

इस सम्बन्ध में पहली बात याद रखने योग्य यह है कि सभी नियमों का परिपालन सभी अवस्थाओं और स्थलों पर नहीं किया जा सकता क्योंकि उनकी उपादेयता सभी अवस्थाओं में समान नहीं है। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षक को परिस्थिति का अध्ययन और उसका विश्लेषणात्मक ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इसके बाद उन्हें जो उचित और उपयोगी नियम प्रतीत हो उसका उस परिस्थिति विशेष में उपयोग करें।

(१) कौशल प्रशिक्षण में बच्चे की शारीरिक परिपक्वता का ध्यान रखना आवश्यक है क्योंकि अपनी शक्ति के बाहर वह कोई क्रिया या कौशल नहीं सीख सकता। यदि हम छः महीने के बच्चे को ढेला फेंकना सिखलाना चाहें तो हमारा प्रयास विफल होगा। अतएव, परिपक्वता के अनुसार ही कौशल सिखलाना उचित है।

(२) बच्चों को क्रियाओं को करने के लिए स्वतः छोड़ देना श्रेयस्कर है क्योंकि अनावश्यक दबाव से उनमें कई प्रकार के क्रियात्मक दोष आ जाते हैं। स्वतंत्र क्रियाओं के अन्तर्गत ही किसी कौशल विशेष को सीखने के लिए निर्देशक रूप में प्रोत्साहित करना श्रेयस्कर है।

(३) किसी विषम (Complex) क्रिया को सिखलाने के लिए बच्चों की मांसपेशी समूह को नियंत्रित करना सीखने का अवसर देना उचित है, क्योंकि विषम (Complex) क्रिया के लिए इसका होना नितान्त आवश्यक है।

(४) पहले बच्चों का ध्यान क्रिया पर ही आकृष्ट करना आवश्यक है और जब वे समुचित क्रिया करना सीख जायँ तब उनका ध्यान उसके लक्ष्य की ओर आकृष्ट करना ठीक है। ऐसा करने में उनमें कौशल की शक्ति के साथ लक्ष्य प्राप्ति की भी योग्यता हो जाएगी, अतएव पहले क्रिया पर ही ध्यान दिलाना चाहिए।

(५) यदि संयोगवश किसी अनुचित क्रिया का अभ्यास हो जाए तो उसके स्थान में उचित नई क्रिया को सिखलाने का प्रयास करना उचित है। गलत क्रिया को छुड़ाने की कोशिश करना ठीक नहीं। नई क्रिया के सीखने पर अशुद्ध क्रिया स्वयं विलीन हो जायगी। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चे

की धनात्मक क्रिया पर जोर देना ठीक है, निषेधात्मक (Negative) पर नहीं।

(६) बच्चों की क्रियाओं पर किसी प्रकार का अनुचित दबाव ठीक नहीं होता, इसलिए उनकी स्वतंत्र क्रियाओं की दिशा को बदलना और मनोनुकूल कौशल सिखलाना ठीक है। क्रमशः जो क्रिया वे सीखते हैं वही टिकाऊ और फलदायक होती है।

इसी प्रकार कौशल प्रशिक्षण के कुछ और भी नियम व्यक्त किये जा सकते हैं, किन्तु उनके उल्लेख की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं।

चौथा अध्याय

भाषा-विकास (Language Development)

भाषा का स्थान मानव-जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसके प्रसाद से हम आज सभ्यता की उच्चतम चोटी पर हैं। पशुओं में इसकी योग्यता न होने के कारण वे अपने विचार (Thought) को दूसरों से पूर्णतः व्यक्त करने में असमर्थ हैं। किन्तु, मनुष्य जाति में भी भाषा आरम्भ से ही विद्यमान नहीं रहती, बल्कि उत्पन्न होने के बाद शारीरिक, मानसिक एवं सामाजिक (Social) विकास के साथ यह भी विकसित होती है। लेकिन, इसके पहले कि हम भाषा विकास पर प्रकाश डालें, इसका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि शब्दोच्चारण मे शरीर का कोई एक अंग विशेष काम नहीं करता, अपितु कई अंगो का उसमे हाथ रहता है। ज्यो-ज्यो उन अङ्गों मे परिपक्वता आती है त्यो-त्यो भाषा भी विकसित होती है। अतएव भाषा विकास के लिये उन अङ्गो का (गला, स्वरयन्त्र, फेफड़ा, जिह्वा आदि) जिनका हाथ इसमें रहता है परिपक्व होना आवश्यक है। इनकी शिथिलता से भाषा-विकास भी उचित रूपेण नही होता। यहाँ हम भाषा-विकास के क्रम पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

१. भाषा-विकास

(अ) नवजात शिशु की प्रथम क्रन्दन-ध्वनिः—जब बच्चा पैदा होता है तब उसमे क्रन्दन-ध्वनि करने की क्षमता रहती है, इसलिये इसके अतिरिक्त वह और किसी प्रकार की ध्वनि नही करता। इसका भी अर्थ वह कुछ नहीं समझता। जब वह जोरो से साँस लेता है तब उस समय भी उसके मुँह से कुछ ध्वनि (Sound) निकलती है, परन्तु उसका भी कोई विशेष अर्थ नहीं होता है। इसे सहजध्वनि (Reflex sound) के नाम से पुकारना उचित जँचता है। शर्ली महोदया का कथन है कि जब बच्चा भूख, प्यास, थकावट और जाडा अनुभव करता है तब भी वह क्रन्दन-ध्वनि करता है। किसी संवेगात्मक परिस्थिति से घिर जाने पर भी बच्चा चिल्लाता है। वह विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों की प्रतिक्रियाएँ विभिन्न प्रकार की क्रन्दन ध्वनियों से करता है, इसलिये उसकी विभिन्न ध्वनियों मे अन्तर पड़ता है।

उसका कहना है कि जब बच्चा दस सप्ताह के लगभग हो जाता है तब वह आराम का अनुभव न करने पर भी चिल्लाता ही है, किन्तु यदि इससे यह समझें कि बच्चा विभिन्न प्रकार की ध्वनियों के अन्तर को समझता है तो यह पूर्णतः दोषपूर्ण होगा, कारण वस्तुतः बच्चे को इसका ज्ञान नहीं रहता।

(ब) बलबलाना (Babbling):—बच्चे की सहजध्वनि से बल-बलाने की ध्वनि कुछ दिनों में निकलने लगती है, अर्थात् उसकी चिल्लाहट ही बलबलाने में परिवर्तित हो जाती है। यद्यपि इसकी ध्वनि पूर्णतः निरर्थक होती है, किन्तु वह उसी को दुहराता है। इस अवस्था का आविर्भाव दूसरे या तीसरे महीने में होता है और लगभग पन्द्रहवें महीने तक यह अवस्था बनी रहती है। पुनः यही बलबलाना शब्दोच्चारण में परिवर्तित होकर भाषा कहलाने लगता है। बाल स्वभाव के जानने वाले पण्डितों का ऐसा अनुमान है कि बच्चा इस ध्वनि को इसलिये दुहराता है कि उसे ऐसा करने में आनन्द मिलता है। और इससे बच्चे की वागेन्द्रिय (Larynx) परिपक्व होती है जिससे भविष्य में उसको बहुत लाभ पहुँचता है। कुछ मनोवैज्ञानिको के अनुसार यह बच्चे की वंशानुक्रम से प्राप्त प्रतिक्रिया है। इस सम्बन्ध में इसी प्रकार के और भी कई अनुमान किये गये हैं। यहाँ यह भी उल्लेख करना आवश्यक है कि यह बलबलाना कई तरह का होता है और अन्त मे इसी से मामा, दादा, नाना, पापा, आदि जैसे सार्थक शब्दों का भी आविर्भाव होता है। सबसे विचित्र बात तो यह है कि सभी देशों के बच्चे इन्ही शब्दों का उच्चारण प्रारम्भ में करते हैं। भाषा-भेद (Language difference) इसमें किसी तरह का अन्तर नही लाता है।

इसी अवस्था में बच्चा सयानों द्वारा बोले गये विभिन्न शब्दों के अर्थ को समझने लगता है और उसी के अनुरूप अपने को वातावरण में अभियोजित करता है। वह स्वतः शब्दों को बोलना नही सीखता, बल्कि उसका सीखना पूर्णतः अनुकरणात्मक (Imitative) होता है। उसके माता-पिता तथा अन्य संरक्षक जिन शब्दो को बोलते हैं वह उन्हीं का अनुकरण मात्र करता है और बाद मे उनके अर्थ को भी समझने लगता है। वह उनके पूरे वाक्य का न तो अनुकरण करता है और न उसे दुहराता ही है, बल्कि उसमे से किसी एक शब्द को ही चुनकर उसका इस्तेमाल करता है। वही एक शब्द उसको पूरे वाक्य का मतलब देता है।

कई मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से यह स्पष्ट है कि बच्चा सर्वप्रथम अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, आदि स्वर वर्णों (Vowels) का ही उच्चारण करता

है। तत्पश्चात वह व्यन्जन वर्णों (Consonants) को बोलता है जिन्हें वह आसानी से बोल सकता है। कठिनाई से बोले जाने वाले वर्णों का उच्चारण बाद में करता है।

जब उसकी वागेन्द्रिय कठिनता से उच्चारण किये जाने वाले व्यन्जन वर्णों के योग्य हो जाती है तो उन्हे भी वह बोलने लगता है। शर्ली के अनुसार स्वर वर्णों में पहले पहल बच्चा ए तथा उ को बोलना शुरू करता है। कुछ अन्वेषकों का कहना है कि व्यन्जन वर्णों में सर्वप्रथम म का ही उच्चारण होता है। सभी अक्षरों का उच्चारण बच्चा चार महीने में करने लगता है, किन्तु यह विवादग्रस्त है। इन वर्णों के उच्चारण से किसी प्रकार का अर्थ नहीं निकलता, इसलिये ये बच्चे और सयाने दोनो के लिये निरर्थक होते हैं। बाद में, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इनका परिवर्तित रूप बलबलाना हो जाता है।

(स) प्रथम शब्द :—बच्चा पहला बोधगम्य शब्द कब बोलता है, उसके सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिको में मतभेद है किन्तु, स्मिथ तथा शर्ली के के अनुसार बच्चा दसवें महीने मे ऐसा करता है। प्रयोगो के विभिन्न परिणामो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि चौवन सप्ताह का बच्चा दो शब्दो को बोल सकता है जिसकी संख्या ६६वे सप्ताह मे सात हो जाती है। अन्ततोगत्वा ८६वें सप्ताह के बाद शब्द संख्या बहुत बढ जाती है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि सर्वप्रथम बच्चा किस शब्द का उच्चारण करता है, किंतु इसका निश्चयात्मक रूप से उत्तर देना कठिन है; क्योंकि विचार करने पर मालूम होगा कि प्रथम उच्चरित शब्द नित्य-प्रति के जीवन में अनुभव किये जाने वाले पदार्थों का नाम रहता है। वह दादा, नाना, मामा आदि के स्वरूप का कोई भी शब्द हो सकता है। मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि ऐसे शब्दो के उच्चारण मे अनुकरण का हाथ रहता है। इस प्रथम उच्चरित शब्द को संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि के किसी एक श्रेणी में रखना समुचित प्रतीत नही होता; क्योंकि वह शब्द बच्चा कई अर्थों मे बोलता है। यदि वह दादा कहता है तो उसके दादा मात्र से माँ खिलाओ, सुलाओ या उठाओ हो सकता है। लेखक के एक विद्यार्थी की साठ सप्ताह की बालिका 'बाबू' शब्द से कई भावो को व्यक्त करती है। वर्त्तमान मे वह कई अवसरों पर इसी बाबू शब्द का प्रयोग करती है। प्रयोगात्मक प्रमाणो से यही सिद्ध है कि सभी बच्चे एक ही प्रकार के शब्दो का इस्तेमाल करते हैं, लेकिन बुद्धि विशेपता के कारण शब्द प्रकार में भी अन्तर दिखलायी देता है।

बच्चा का प्रथम शब्द कब उच्चरित होता है, इसके सम्बन्ध में मनोवज्ञानिकों में मतभेद है। शर्ली के मुताबिक साठवें सप्ताह में ऐसा होता है, किन्तु चौंतीस सप्ताह में भी बच्चा प्रथम शब्द बोलता पाया गया है। गेसेल और थाम्पसन के अनुसार अट्ठाईस सप्ताह और बावन सप्ताह के अन्तर्गत बच्चा पहले शब्द का प्रयोग करता है।

(द) शब्द-कोष वृद्धि (Vocabulary Development):—इसके बाद बच्चा अपनी भाषा में दो शब्दों को इस्तेमाल करना शुरू कर देता है। कुछ बच्चे तो अठारह महीने में ऐसा करते हैं और कुछ दो वर्ष की अवस्था में। विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक वर्ष का बच्चा तीन से कुछ कम शब्दो को जानता है। तीन वर्ष की अवस्था के बच्चे का शब्द-भण्डार नौ सौ शब्दों से कुछ कम होता है। उसके बाद शब्द-भण्डार की गति मे तीव्रता आ जाती है जिसके फलस्वरूप चार वर्ष का बच्चा पन्द्रह सौ, पाँच वर्ष का बच्चा दो हजार तथा छः वर्ष का बच्चा पच्चीस सौ शब्दो को जानता है। इसके बाद के शब्द भण्डार को निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है, किन्तु टरमन का कहना है कि आठ वर्ष का बच्चा छत्तीस सौ, दस वर्ष का चौवन सौ और ग्यारह वर्ष का बच्चा सात हजार दो सौ शब्दो को जानता है। कुछ मनोवैज्ञानिको का अनुमान इससे भी अधिक शब्द संख्या का है।

(य) शब्द-चयन तथा वाक्य-विकासः—जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, पहले पहल बच्चा संज्ञात्मक शब्दो को ही बोलता है जिन्हे कि वह अपने चारों ओर पाता है। प्रयोगात्मक प्रमाणो से यह स्पष्ट है कि दो वर्ष का बच्चा आधा से अधिक संज्ञा शब्द ही बोलता है। दो वर्ष से तीन वर्ष की अवस्था में बच्चा सर्वनाम का प्रयोग करने लगता है। पाँच-छः की उम्र में क्रियात्मक शब्दो की अधिकता हो जाती है और बाद में विशेषण, अव्यय आदि शब्दो की विवृद्धि होती है। वाक्य विकास पर ध्यान देने से पता चलता है कि जैसा ऊपर भी कारणवश कहा जा चुका है, पहले बच्चा एक शब्द के ही वाक्य को बोलता है। यह वाक्य प्रश्नात्मक, आदेशात्मक या साधारण कुछ भी हो सकता है। इस अवस्था को हम एकपदीय वाक्य (One worded sentence) कह सकते हैं। यह अवस्था बालकों के जीवन में बहुत महत्वपूर्ण होती है। इसके कुछ ही दिन पश्चात बच्चा दो शब्दो का वाक्य बोलने लगता है। जैसा कि हमलोगों को मालूम है, अठारह माह से चौबीस माह के अन्तर्गत बच्चा ऐसा करने में समर्थ हो

जाता है। तीन वर्षीय बच्चे अपने वाक्यों में अधिकतर सर्वनाम शब्दों का प्रयोग करते हैं। चार-पाँच की उम्र वाले बच्चे चारपायी, कलम, टेबुल, कुर्सी आदि शब्दों की व्याख्या करने लगते हैं। वाक्यों में शब्दों की संख्या का व्यवहार बच्चे की मानसिक योग्यता पर निर्भर करता है। इस अवस्था के वाक्यों में छः सात शब्द पाये जाते हैं। प्रारम्भ में बच्चे के वाक्य एवं शब्द दोनों सरल होते है, पुनः वे वाक्य यौगिक (Compound) वाक्यों में परिवर्तित होकर मिश्रित (Complex) वाक्यों का रूप धारण कर लेते हैं। अवस्था वृद्धि के साथ साथ उनके वाक्यो में कठिन शब्दों एवं मुहावरों की वृद्धि होती है और अन्त में दस ग्यारह वर्षीय बच्चे कठिन तथा लम्बे वाक्यों को बोलने लगते हैं।

२. संख्यात्मक (Quantitative) विकास

प्रायः ऐसा देखने में आता है कि दो वर्ष के बच्चे में परिमाण और संख्या की कुछ योग्यता विद्यमान रहती है। वह अपनी भाषा में अधिक, कम, थोडा, एक, बहुत आदि शब्दों का प्रयोग करता है। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि उसे एकवचन और बहुवचन का ज्ञान रहता है। तीसरे वर्ष मे वह गिनती गिनना शुरू कर देता है, किन्तु उसके गिनने में क्रम नहीं रहता। वह पाँच के बाद सात और सात के बाद छः आसानी से कह सकता है। यदि उसको पाँच आम गिनने को दे दिये जायँ तो सम्भव है वह चार को ही पाँच गिन ले। वह चार के बाद की संख्याओं का अर्थ भी नहीं समझता है। इसीलिये उससे ऐसी अशुद्धियाँ गिनने में हो जाती हैं। किन्तु, तीन चार महीने के बाद उसकी गलतियो में कमी पड़ने लगती है। इस अवस्था का बच्चा कितनी अच्छाई से गिन सकता है या उसके अर्थ को समझ सकता है, यह उसकी शिक्षा तथा मानसिक योग्यता पर निर्भर करता है। हाँ, शिक्षा का हाथ इसमें अधिक रहता है। चार वर्ष का बच्चा यो तो सौ तक कभी-कभी गिनने में समर्थ होता है, किन्तु उनके अर्थ को वह स्पष्ट नहीं जानता है। एक से दस तक की संख्याओं का बोध तो उसे अच्छी तरह रहता है, किन्तु उनसे अधिक संख्याओं के यथार्थ अर्थ को न जानकर वह यही समझता है कि इसका आशय अधिक से है। इस अवस्था में बच्चा किसी पदार्थ विशेष के विभिन्न अंगों को समझता है, किन्तु उसे उसके आधे तिहाई या चौथाई का ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार उसे किसी चीज की पूर्णता का ही ज्ञान रहता है, वह यह नहीं समझता कि इसके हिस्से भी हो सकते हैं। पाँचवें वर्ष का बच्चा चौथाई या दो तिहाई का अर्थ समझता है किन्तु उसकी

इस जानकारी का मतलब पूरे से कम का ही होता है, यथार्थ का नहीं। जब वह पाठशाला जाने की अवस्था में आ जाता है तब उसे इसका ज्ञान अच्छी तरह हो जाता है और स्कूल में जाकर उसका ज्ञान पूर्णता को प्राप्त हो जाता है।

३. भाषा-दोष (Speech Defects)

बच्चों में कई प्रकार के भाषा-दोष पाये जाते हैं, किन्तु यहाँ हम सब पर प्रकाश न डालकर तुतलाना (Stammering) पर ही प्रकाश डालेंगे; क्योंकि इसका कारण और स्वरूप पूर्णतः मनोवैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त भी यह दोष कई बच्चों में पाया जाता है। यदि हम इसके स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि यह दोष कई प्रकार से बच्चो की भाषा में लक्षित होता है। कभी-कभी बच्चा किसी शब्द को उच्चारण करने में बहुत देर के बाद समर्थ होता है तो कभी उसी को कई बार दुहराता है। किन्तु, अधिकतर किसी शब्द के पहले अक्षर को कई बार दुहराने के बाद तो वह पूरा शब्द बोलने में समर्थ होता है जैसे, द, द, द, द, दा, दा, क, क, क, क पड़ा आदि। बच्चा स्वर सहनियम के अभाव में किसी शब्द को भी अच्छी तरह बोलने में असमर्थ होता है।

अब यदि हम तुतलाने और हलकाने के कारण पर विचार करें तो मालूम होगा कि इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त विद्यमान हैं। थार्पे का कहना है कि बच्चे के तुतलाने में वागेन्द्रिय का ही हाथ नहीं रहता, बल्कि सारे शरीर का सहयोग रहता है! अतएव यह व्यक्तित्व के असंतुलन (Imbalance) के कारण होता है।

डनलप के अनुसार बच्चा जब ऐसी भाषा को सीखता है जो समाज में विहित नहीं समझी जाती है, तब वह उसे घर पर या अन्य लोगों के सामने बोलने में हिचकिचाता है और परिणामतः उसमें तुतलाने की आदत पड़ जाती है। इस प्रकार असामाजिक भाषा को अर्जित करना ही बच्चे के तुतलाने के कारण हैं।

ब्ल्यूमेल का सिद्धान्त है कि बच्चा जब किसी शब्द को अच्छी तरह समझने में असमर्थ होता है तब वह तुतलाता है। इसलिए सुने हुए शब्दों की स्मृति (Memory) जब नहीं रहती है और बच्चा उन्हे बोलना चाहता है तब ध्वन्यात्मक स्मृति-भ्रंशता (Auditory Amnesia) के कारण वह उन शब्दों को बोलने से तुतलाता है। यह सिद्धान्त तुतलाने की शब्द-प्रतिमा-सिद्धान्त के नाम से विख्यात है।

ट्रेभिस का मत है कि जो बच्चा तुतलाता है उसमें मस्तिष्क सम्बन्धी अव्यवस्था (Disturbances) पायी जाती है। मस्तिष्क के दोनों अर्द्ध भागों में इस तरह की गड़बडी रहती है कि उन दोनों में किसी एक की प्रधानता नहीं रहती, बल्कि दोनों ही एक दूसरे के समकक्ष रहते हैं। इसलिए नाड़ी-शक्ति के संचालन मे दोनों का बराबर हाथ रहने के कारण बच्चा तुतलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार नाड़ी-मण्डल की अव्यवस्था ही बच्चों के तुतलाने का एकमात्र कारण है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त अधिकांश मनोवैज्ञानिको का कहना है कि तुतलाना व्यापार उन्ही बच्चो में देखा जाता है जिनमें किसी तरह का मानसिक संघर्ष (Mental conflict) और संवेगात्मक गडबडी (Emotional distuıbance) पायी जाती है। जब बच्चे की शारीरिक आवश्यकताओं (Needs)—भूख, प्यास आदि की पूर्ति अच्छी तरह नहीं होती तब उसमें तुतलाने का व्यापार होता है। बच्चों मे स्वप्रस्थापन (Self assertion) की उत्कट इच्छा रहती है। इसलिए वे चाहते हैं कि सब लोग उनकी प्रशंसा करें अथवा उनकी प्रधानता स्वीकार करें। परन्तु जब वे इस इच्छा को संतृप्त करने में असमर्थ होते हैं तब वे इस व्यापार का प्रदर्शन करते है। कहने का अभिप्राय यह है कि घर तथा स्कूल की अवांछनीय अवस्था जिससे बच्चे में भय, चिन्ता और अनिच्छित भाव आदि उत्पन्न होते हैं उसके तुतलाने का कारण है।

प्रायः ऐसा भी देखने मे आता है कि एक ही परिवार के बहुत से लडके लडकियाँ अथवा अन्य व्यक्ति तुतलाते हैं। इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिको ने तुतलाने में वंशानुक्रम का असर प्रदर्शित करने का प्रयास किया है। इन कारणो के अतिरिक्त और भी कई कारण विभिन्न मनोवैज्ञानिकों द्वारा उपस्थित किये गये हैं, परन्तु यदि हम इस पर विचार करें तो मालूम होगा कि तुतलाना किसी एक कारणवश ही नहीं होता, बल्कि कई कारणों का हाथ इसमे रहता है, किन्तु पारिवारिक अवस्था की इसमें प्रधानता रहती है।

इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि बच्चों की संवेगात्मक गडबड़ी तथा मानसिक संघर्ष को दूर करने के लिए उन अंगो का निराकरण किया जाय जिनसे कि ये उत्पन्न होते हैं। उन्हे अन्य बच्चो के साथ रहने, बोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाय ताकि वे अपने विभिन्न प्रकार के संवेगो को नियंत्रित करना सीख सकें। बच्चों को परिस्थिति के अनुकूल अभियोजित करने की शिक्षा देना विशेष हितकर होता है। बच्चे के साथ

सयानों को सहानुभूति रखनी चाहिये और उन्हें अपमानित करने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। अधिक से अधिक बच्चों के साथ खेलने का अवसर देना विशेष हितकर होता है; क्योंकि सामूहिक जीवन (Group life) से बच्चे को अपनी सार्थकता मालूम होती है और वह सामाजिक व्यवहार प्रदर्शित करने की कोशिश करता है। उसके इस दोष पर ध्यान न देकर इसकी उपेक्षा करनी चाहिए ताकि बच्चा लज्जा का अनुभव न करे। उसे उच्च स्वर से पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करना अधिक लाभप्रद सिद्ध होता है। दूसरों के साथ वार्त्तालाप करने के लिए बच्चे में उत्साह भरना कम महत्व का नहीं है। आराम का भी ध्यान रखना ऐसे बच्चों के लिए श्रेयस्कर होता है। मातापिता तथा शिक्षक को इस वाणी दोष को दूर करने के लिए उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त किसी दक्ष चिकित्सक का आश्रय लेकर शारीरिक दोष को दूर करवाना चाहिए और उसमें किसी प्रकार का ऐसा भाव नहीं उत्पन्न होने देना चाहिये जिससे कि वह संवेगात्मक उपद्रव और मानसिक संघर्ष का शिकार बन सके।

४. भाषा-विकास को प्रभावित करनेवाले अंग

भाषाविकास कई अंगो से प्रभावित होता है, किन्तु यहाँ पर हम प्रमुख अंगों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

(१) शारीरिक स्वास्थ्य एवं परिपक्वताः—भाषा-विकास पर स्वास्थ्य तथा परिपक्वता का असर बहुत अधिक पड़ता है, जैसा कि हम लोग पहले ही देख चुके हैं। जैसे-जैसे आयु-वृद्धि के साथ-साथ शरीर परिपक्व होता है वैसे-वैसे बच्चों की भाषा में भी वृद्धि होती है। शारीरिक परिपक्वता के ही चलते स्वरयंत्र तथा अन्य अंग भाषा-विकास के लिए तत्पर हो जाते हैं और उनकी प्रौढ़ता के साथ-साथ भाषा भी विकसित होती जाती है। यही कारण है कि छोटे बच्चों का भाषा-विकास उस तरह का नहीं रहता जिस प्रकार कि परिपक्व बच्चों का।

स्वास्थ्य से भी भाषा-विकास प्रभावित होता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो बच्चा जितना हृष्ट-पुष्ट होता है वह उतना ही शीघ्र बोलना प्रारम्भ कर देता है। किन्तु, दूसरा रुग्ण बच्चा बहुत दिनों के बाद बोलना शुरू करता है। संयोगवश यदि स्वस्थ बच्चा भी रोगग्रस्त हो जाता है तब उसका भाषा-विकास कुछ दिनों के लिए अवरुद्ध हो जाता है और विकास

गति में पुनः तीव्रता उस समय तक नहीं आती जब तक कि वह फिर पूर्ण स्वस्थ नहीं हो जाता है। यहाँ इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक है कि स्वस्थ बच्चा का भाषा-विकास रोगग्रस्त बच्चे की अपेक्षा शीघ्रतर क्यों होता है? इसके उत्तर में दो संभावित कारण (Possible causes) व्यक्त किये जा सकते हैं। पहला कारण तो यह है कि रुग्ण बच्चे का शारीरिक विकास पूर्णरूपेण न होने के कारण स्वर-यंत्र प्रभृति अंग भी पूर्णतः विकसित नही होते। इसलिए भाषा भी अच्छी तरह विकसित नहीं होती है। दूसरा कारण यह है कि स्वस्थ बच्चा अधिक लोगों के सम्पर्क में रहने के कारण नये-नये शब्दों को सीखने का अवसर पाता है और उन्हे सीख लेता है, परन्तु रुग्ण बच्चा को यह सुविधा नहीं मिलती, अतएव उसका भाषा-विकास भी सुचारु रूप से नहीं होता है।

(२) शारीरिक गतिविधि (Physical activity):—इसके पहले कि हम शारीरिक क्रिया का प्रभाव भाषा-विकास पर प्रदर्शित करें, यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि हमारा शरीर-यंत्र इस प्रकार से बना हुआ है कि किसी तरह की क्रिया से सारा शरीर प्रभावित होता है। इसलिए किसी समय भी एक ही क्रिया की प्रधानता रहती है और अन्य क्रियाएँ गौण रहती हैं। अतएव जब एक क्रिया की योग्यता मे विवृद्धि होती है तो अन्य क्रियाओ को करने की योग्यता की विवृद्धि स्थगित हो जाती है। जब वह क्रिया सुचारु रूपसे सामान्यावस्था मे होने लगती है तब दूसरी क्रिया की योग्यता तीव्रगति से विकसित होने लगती है। जैसा कि हम लोग जानते हैं बोलना भी एक प्रकार की शारीरिक क्रिया है, अतः इसका विकास भी अन्य शारीरिक क्रियाओं से प्रभावित होता है। जब किसी अन्य शारीरिक क्रिया की प्रधानता रहती है तब भाषा-विकास उस समय के लिये अवरुद्ध हो जाता है और जब इसकी गति में तीव्रता आती है तब अन्य क्रियाये शिथिल पड़ जाती हैं। इसलिये शर्ली का यह कथन कि बच्चे मे जब अन्य शारीरिक क्रियाओं का प्राधान्य रहता है तब भाषा-गति मन्द हो जाती है, पूर्णतः सत्य है। प्रयोग करने पर भी यही देखा गया है कि जब बच्चा हाथ-पैर को चलाने आदि की क्रियाओं को अधिक मात्रा में करता है तो उसके भाषा-विकास में मन्दता आ जाती है और जब वे क्रियायें अभ्यस्त हो जाती हैं तो भाषा-विकास पुनः अपनी तीव्रगति का अनुसरण करने लगता है।

(३) बुद्धि (Intelligence):—बुद्धि और भाषा-विकास का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ है। जो बच्चा जितना ही बुद्धिमान होता है वह उतनी ही

जल्दी बोलना भी शुरू कर देता है। मन्द (Dull) बुद्धि, मध्यम बुद्धि तथा तीव्र-बुद्धिवालों पर अलग-अलग प्रयोग करने पर देखा गया है कि तीव्र-बुद्धि के बच्चे में बोलने का व्यापार अन्य दो प्रकार के बच्चों की अपेक्षा पहले हुआ। और मध्यम बुद्धिवाले बच्चे में भाषा-विकास मन्दबुद्धि वाले की अपेक्षा पहले हुआ। कहने का सारांश यह है कि मन्द बुद्धिवाला लडका सबसे बाद में बोलना शुरू किया। इसी प्रयोग की सत्यता पर कितने मनोवैज्ञानिक विश्वास कर बच्चो के भाषा-विकास का अध्ययन करके उनकी बुद्धि का अनुमान करते हैं। किन्तु टरमन का प्रयोग उपर्युक्त प्रयोग की सत्यता को खण्डित करता है, क्योंकि उसका कहना है कि बच्चे बोलना मन्द बुद्धि के ही कारण देर से नहीं शुरू करते, वल्कि अन्य कारणों से भी करते हैं। अतएव मन्द बुद्धि के ही कारण बच्चा देर से नहीं बोलता। किन्तु, यहाँ यह स्मरणीय है कि यद्यपि भाषा-विकास पर अन्य अंगो का भी प्रभाव पडता है, तथापि हम बुद्धि के महत्व की उपेक्षा नही कर सकते। वस्तुतः जो बच्चा बुद्धिमान होता है वह मन्द बुद्धिवाले बच्चे की अपेक्षा अपनी परिस्थिति को अच्छी तरह समझता है और उसके प्रति अपने भावों को भाषारूप मे मन्द-बुद्धि बच्चे की अपेक्षा पहले व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का होना स्वाभाविक है कि बुद्धि पर भाषा-विकास निर्भर करता है या भाषा-विकास बुद्धि-विकास पर निर्भर करता है ? इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से नहीं दिया जा सकता; क्योकि इस दिशा मे जितने भी प्रयोग हुए हैं उनके परिणामो में समानता नही पायी गयी है। इसलिए हम उत्तर स्वरूप यही कह सकते है कि ये दोनो एक दूसरे के सहायक हैं। थोड़े शब्दो में हम यही कह सकते हैं कि भाषा-विकास के साथ-साथ बुद्धि भी विकसित होती है।

(४) **लिंग-भेद** (Sex difference):—भाषा-विकास पर लिंग-भेद का प्रभाव देखने के लिए मनोवैज्ञानिको ने कई प्रयोग किये हैं। उनके प्रयोगात्मक परिणामो से यह स्पष्ट हो जाता है कि लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा पहले बोलना आरम्भ कर देती हैं। वे बालकों से वाक्य-रचना, स्मृति विस्तार (Memory span) शब्दकोष आदि मे श्रेष्ठ होती है। उनके लेखो का अध्ययन करने से पता चलता है कि वे विषम तथा लम्बे वाक्यो की रचना आसानी से कर सकती हैं जिन्हें कि उसी अवस्था के लडके करने मे असमर्थ होते हैं। जितने भी प्रयोग इस दिशा मे किये गये हैं वे सभी इसी तथ्य को व्यक्त करते हैं कि लडको की अपेक्षा लड़कियो में भाषा-विकास जल्दी होता है। मैकार्थी ने अठारह और चौबीस महीने के लड़के और लड़कियों के शब्दों

का अध्ययन किया तो उसे मालूम हुआ कि अठारह महीने के बच्चे जो कुछ बोलते थे उसमें से चौदह प्रतिशत लडको का और अडतीस प्रतिशत लडकियों का और चौबीस महीने के बच्चों में से ४९ प्रतिशत लडकों का और ७८ प्रतिशत लड़कियों का समझ में आता था। इस तरह हम देखते हैं कि भाषा-विकास को लिंग-भेद भी प्रभावित करता है।

(५) सामाजिक वातावरण (Social Environment):—सामाजिक परिस्थिति का भी प्रभाव भाषा-विकास पर कम नहीं पड़ता है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जो बच्चे संस्कृत एवं सम्पन्न परिवार मे उत्पन्न होते हैं वे दरिद्र एवं असंस्कृत परिवार मे जन्म लेनेवाले बच्चो की अपेक्षा पहले भाषा सीखते हैं। उनकी भाषा भी उन बच्चों की तुलना में श्रेष्ठ होती है। भाषाविकास और सामाजिक परिस्थिति का सम्बन्ध देखने के लिए छः प्रकार के वातावरण में उत्पन्न होनेवाले तीन वर्षीय बच्चो पर प्रयोग किये गये। पहली श्रेणी मे उन्ही बच्चों को रक्खा गया जो डाक्टर, प्रोफेसर वकील आदि के बच्चे थे। दूसरी श्रेणी में बच्चो के पिता व्यापारी, तीसरी श्रेणी में बच्चो के पिता क्लर्क, चौथी श्रेणी में पिता कारखानों के कारीगर, पाँचवीं श्रेणी में पिता बर्फ बेचनेवाले, दूधकी गाडी चलानेवाले आदि और छठीं श्रेणी में पिता मजदूर थे। प्रथम श्रेणी के बच्चो की वाक्य संख्या अन्तिम दो श्रेणियो के बच्चों की वाक्य संख्या की अपेक्षा दूनी थी। इसके अतिरिक्त और भी जितने प्रयोग किये गये उन सब में सामाजिक परिस्थिति का प्रभाव भाषा-विकास पर देखा गया।

इसके अतिरिक्त जुडवे बच्चों (Twins) का अध्ययन भी, सामाजिक वातावरण के असर को जो भाषाविकास पर पडता है, उसकी परिपुष्टि करता है। प्रायः बच्चो मे भाषा का आविर्भाव दूसरों के सम्पर्क में रहने और उनके अनुकरण करने से होता है। जो बच्चे अधिकांश अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के सम्पर्क में रहते हैं उनमें भाषा-विकास उन बच्चो की अपेक्षा पहले होता है जिन्हे कि श्रेष्ठजनों के सम्पर्क में रहने का अवसर नहीं मिलता। जो अपने से छोटे बच्चो के साथ रहते हैं वे अपने को उनसे श्रेष्ठ समझते हैं और नयी भाषा को सीखने की कोशिश नहीं करते। यही हालत जुडवे बच्चों की भी होती है। वे दोनो साथ-साथ खेलते, खाते-पीते तथा सोते हैं। वे अपने से सयानों के सम्पर्क में अधिकाधिक नहीं रहते, इसलिए उनमे कभी-कभी ऐसी भाषाओं का आविर्भाव होता है जिन्हें वे स्वयं बोलते और समझते हैं। अन्य बच्चे या सयाने उनकी भाषा को नही समझते। जब वे पुनः

सयानों के सम्पर्क में रहने लगते हैं तब उस रहस्यमयी भाषा को तिरस्कृत कर देते हैं। गुडएनफ ने जिन जुडवे बच्चों का अध्ययन किया उनमें भी ऐसी रहस्यमयी भाषा पायी गयी जिसे दूसरा व्यक्ति समझने में पूर्णतः असमर्थ था। डे का अध्ययन भी इस तथ्य को प्रतिपादित करता है। डेनिस ने मेकार्थी तथा डे के प्रदर्शित पथ का अनुसरण करते हुए कई प्रकार के बच्चों के भाषा-विकास का अध्ययन किया। उसके अध्ययन से यह और भी स्पष्ट है कि जुडवे बच्चों में भाषा-विकास उस द्रुतगति से नहीं होता जिस गति से कि उन बच्चों में होता है जो सयानों के सम्पर्क में रहते हैं।

(६) अनुकरणः—उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भाषा-विकास में अनुकरण का पर्याप्त हाथ रहता है। इसलिये हम इसे एक अंग कह सकते हैं। इसके संबंध में पहले भी कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिये यहाँ इतना व्यक्त कर देना पर्याप्त है कि बच्चों में अनुकरण करने की प्रवृत्ति नवें महीने से ही उत्पन्न हो जाती है। यही कारण है कि वे अपने आस-पास रहने वाले व्यक्तियो का अनुकरण करना शुरू कर देते हैं। उसके माता-पिता या अन्य संरक्षक जो बोलते हैं उन्हें बच्चा जब सुनता है तो अनुकरण प्रवृत्ति के सहारे बोलने की कोशिश करता है। यदि सयाने सुन्दर तथा परिमार्जित भाषा का प्रयोग करते हैं तो बच्चे भी वैसी ही भाषा अनुकरण से सीखते हैं और यदि उनकी भाषा रद्दी तथा रूखी-सूखी होती है तो बच्चे भी वैसी ही भाषा सीखते है। जुड़वे बच्चो के भाषा-विकास का अध्ययन भी इसी बात को प्रमाणित करता है कि भाषा-विकास मे अनुकरण का विशेष हाथ रहता है। यही कारण है कि गूँगे बच्चो में भाषा-विकास ठीक से नही होता। अनुकरण के कारण श्रेष्ठ समाज के बच्चो की भाषा निम्न समाज के बच्चो की भाषा से अच्छी होती है। अतएव माता-पिता तथा अन्य संरक्षको को बच्चों से हमेशा अच्छी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिये तथा बच्चों की भाषा की शिक्षण विधि पर विशेष ध्यान देना चाहिये।

५. भाषा अध्ययन-विधियाँ

(Methods of studying language development)

बच्चों की भाषा का अध्ययन कई दृष्टिकोण से किया जाता है। यदि भाषा का विकासात्मक अध्ययन किया जाता है तो उस समय प्रारम्भ से कुछ निश्चित काल तक बच्चों के भाषा का अध्ययन किया जाता है। इसे हम निरन्तर विधि (Continuous method) कह सकते हैं। भाषा-समृद्धि

की जानकारी करने के लिये निश्चित अवस्था के बच्चों के वाक्यों और शब्दों का अध्ययन एक निश्चित समय तक किया जाता है और उनमें भाषा का कितना बाहुल्य या अभाव है इसका ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसे हम सीमित प्रयुक्त शब्द परिगणना पद्धति (Limited method) के नाम से पुकारते हैं। बच्चों मे भाषा संबंधी अन्तरो को जानने के लिये प्रश्नावलि-पद्धति (Questionnaire method) काम में लायी जाती है। इस विधि से बच्चे के शब्द भंडार का भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अब हम इन पद्धतियों पर संक्षिप्ततः क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

(१) निरंतर विधिः—बच्चों में भाषा का विकास क्योंकर होता है इसे जानने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने इस विधि को अपनाया है। इसके द्वारा आरंभ से लेकर पाँच-छः वर्ष तक की अवस्था के भाषा विकास-क्रम का अध्ययन किया जाता है। प्रेयर और स्टर्न ने इस पद्धति का इस्तेमाल किया था, किंतु यह पद्धति कई कारणो से दोषपूर्ण है। पहला कारण यह है कि इसके द्वारा एक व्यक्ति एक ही बच्चे का अध्ययन कर सकता है अधिक का नही। इसलिये एक बच्चे के भाषा-विकास के क्रम को जान-कर किसी सामान्य नियम (General principle) का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता। एक ही बच्चे का एक ही मनोवैज्ञानिक के द्वारा कई वर्षों तक लगातार अध्ययन करना नीरस प्रतीत होता है। इसलिये इस विधि को अपनाने के लिये धैर्यशील होने की आवश्यकता है। सम्भवतः गेसेल के अति-रिक्त और किसी मनोवैज्ञानिक ने इस विधि को सफलतापूर्वक अभीतक नही अपनाया है। यद्यपि इस पद्धति में ये सब कठिनाइयाँ हैं, किंतु यदि इसके द्वारा भाषा-विकास-क्रम का अध्ययन किया जाय तो भाषा-विकास पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

(२) सीमित प्रयुक्त शब्द परिगणना पद्धतिः—किसी बच्चे-विशेष का शब्द-भण्डार कितना है इसकी जानकारी के लिये एक निश्चित समय तक उसके प्रयुक्त शब्दो का अध्ययन किया जाता है और बाद में उसके आधार पर उसके शब्द-भण्डार का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इस विधि से विभिन्न अवस्थाओं के बच्चो के शब्द ज्ञान अथवा भाषा-ज्ञान का भी पता लगाया जाता है। यह विधि पहली से बहुत ही सरल है और इसे कोई भी काम में ला सकता है। इसके द्वारा विभिन्न अवस्थाओ के बच्चों का शब्द-भण्डार आसानी से मालूम हो जाता है। इसको बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने अपनाया है। इसके द्वारा बच्चों का भाषा संबंधी तुलनात्मक (Comparative)

अध्ययन भी किया जा सकता है। विदेशों में बच्चों की भाषा की जानकारी के लिये इस विधि को लोग अधिकतर इस्तेमाल करते हैं, किंतु खेद का विषय है कि भारतीय पंडितो का ध्यान अभी तक इधर नहीं गया है। हाँ, ऐसी आशा की जाती है कि भारतीय सरकार इस ओर अपना ध्यान शीघ्र ही देगी और भारतवर्ष में भी इस पद्धति से लोग लाभान्वित होंगे।

(३) **प्रश्नावलि-पद्धतिः**—बच्चो के भाषा-विकास की जानकारी के लिये विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने प्रामाणिक प्रश्नों को बनाया है जिनके उत्तर के आधार पर बच्चों के भाषा-विकास पर प्रकाश पडता है। यह पद्धति अत्यन्त नई है और इसमें दिन प्रतिदिन उन्नति हो रही है। ये प्रश्न बुद्धि-मापक प्रश्नों के ही समान हैं और इनके निर्माताओं मे टरमन तथा मिस-स्मिथ के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन लोगो ने विभिन्न आयु के बच्चो के लिये विभिन्न माध्यम (Standard) के प्रश्न बनाये हैं और उन्हीं प्रश्नों का उत्तर विभिन्न बच्चो से लिया जाता है। उन बच्चो के उत्तरो को एकत्रित करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी बच्चा-विशेष का भाषा-विकास सामान्य रूप से हो रहा है या नहीं। इससे यह भी मालूम हो जाता है कि अमुक बच्चा का शब्द-भण्डार कितना है और वह अपनी अवस्थावाले अन्य बच्चों के समान है, पीछे है या आगे।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि प्रश्नावलियो का निर्माण बहुत सावधानी के साथ किया गया है, इसलिये इसके आधार पर भाषा की जानकारी बहुत अच्छी तरह हो जाती है। आजकल अधिकतर इस पद्धति का प्रयोग सभी मनोवैज्ञानिक करते हैं। परन्तु, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अभी तक भाषा अध्ययन की जितनी भी विधियाँ प्रचलित हुई है उन सभी में महत्वपूर्ण स्थान इस विधि का है। फिर भी, अभी तक कोई भी ऐसी विधि काम मे नही लायी जा सकी है जिससे कि भाषा-विकास की निरन्तरता पर पूर्णरूपेण प्रकाश पड़ सके। इसके अतिरिक्त भी भाषा-विकास के अध्ययन मे अभी तक एकरूपता (Uniformity) नही आ सकी है। यही कारण है कि अभी तक कई एक पहलुओ पर किये गये प्रयोगो के विभिन्न परिणाम प्राप्त हुए है, किन्तु आशा की जाती है कि इस दिशा मे शीघ्र ही ऐसी विधि का आविर्भाव होगा जिससे भाषा के सभी पहलुओं पर प्रकाश पड़ेगा।

६. भाषा की उपयोगिता

मानव-जीवन में भाषा का जो महत्व है उसे वर्णन करना कठिन है,

क्योंकि जीवन का कोई भी ऐसा पहलू नहीं है जहाँ प्रत्यक्षतः अथवा अप्रत्यक्षतः इसकी उपयोगिता न देखी जाती हो।

बच्चो के जीवन में जो इसकी उपयोगिता है उसको संक्षिप्ततः व्यक्त करने के लिये यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इसी के चलते हम बच्चे के प्रारम्भिक स्वरूप को जानने मे समर्थ होते हैं। आज सभी लोगो का यही विचार है कि बच्चे प्रारम्भ मे आत्मकेन्द्रित (Egocentric) होते है। यदि इस सम्बन्ध मे साधारण प्रश्न यह पूछा जाय कि बच्चो के आत्मकेन्द्रित होने का क्या प्रमाण है तब सभी यही कहेगे कि बच्चों की भाषा का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि वे सब कुछ अपने ही सम्बन्ध की करते या कहते हैं। यदि बच्चो मे भाषा का अभाव होता तो हम बच्चो के स्वरूप को जानने मे कदापि सफल नही होते।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है बच्चा भाषा के माध्यम से ही अपनी आवश्यकताओं को व्यक्त करता है। बच्चे मे ध्वनि का आविर्भाव उसकी शारीरिक आवश्यकताओ को व्यक्त करने के लिए ही होता है। यद्यपि बच्चे अन्य भावभंगियो से भी अपनी आवश्यकताओ को अपने संरक्षको से सूचित करते हैं, परन्तु जिस अच्छाई के साथ भाषा द्वारा ये अभिव्यक्त होती है उस अच्छाई के साथ अन्य भावभंगियो द्वारा नही।

बच्चों की भाषा का विश्लेषणात्मक (Analytical) अध्ययन करने पर उनके व्यक्तित्व के विभिन्न शील-गुणो का ज्ञान होता है। यद्यपि उनका व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित नही रहता तथापि उनके वर्त्तमान व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनकी भाषा के आधार पर बहुत कुछ जाना जाता है। कई मनोवैज्ञानिकों ने उनकी भाषा का विश्लेषणात्मक अध्ययन करके उनके विभिन्न शील-गुणो को निर्धारित किया है।

भाषा के सहारे बच्चे अपने विभिन्न प्रकार के संवेगात्मक उपद्रव से छुटकारा पाते हैं। यदि कोई ऐसी घटना घटती है जिससे कि बच्चे में क्रोध अथवा क्षोभ का संवेग उत्पन्न होता है तब उस समय वह उसकी प्रतिक्रिया शब्दो द्वारा करता है और उसका संवेग कुछ शान्त हो जाता है। इसी के द्वारा हम उन्हें भले-बुरे का भी सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन (Conditioned-reflex) के आधार पर ज्ञान कराते है।

बच्चो में मानसिक विकास पूर्णरूपेण नही रहता। अतएव जब वे किसी प्रकार का चिन्तन करते हैं तब उस समय उन्हे भाषा का आश्रय लेना

पड़ता है। भाषा की सहायता के बिना बच्चों में चिन्तन प्रक्रिया का होना कठिन है। इसीलिये जब बच्चे कुछ सोचते हैं तो बोलते भी रहते हैं।

इसी भाषा के चलते बच्चे अपने को वातावरण के योग्य अभियोजित करने में समर्थ होते हैं। वे अपने विचारों से भाषा के द्वारा दूसरों को प्रभावित करते हैं और दूसरे भी उन्हें प्रभावित करते हैं। इस प्रकार एक दूसरे के विचार को जानकर अपना व्यवहार प्रदर्शित करते हैं। भाषा के अभाव में सामाजिक अभियोजन कठिन हो जाता। हम थोड़े शब्दों में यही कह सकते हैं कि भाषा का स्थान जीवन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

पाँचवाँ अध्याय

संवेगात्मक विकास (Emotional Development)

१. संवेग का स्वरूप (Nature of Emotion)

संवेग पद का प्रयोग विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न अर्थों में किया है, परन्तु हम उन सब पर प्रकाश न डालकर उदाहरण द्वारा इसे समझाने का प्रयास करेंगे। जैसा कि हम लोग जानते हैं मानस जीवन के तीन पहलू हैं, प्रज्ञात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और इच्छात्मक (Conative)। संवेग का सम्बन्ध मानस-जीवन के भावात्मक पहलू से है। जब हम अपने मित्र को देखते हैं तो अच्छा मालूम होता है, किन्तु दुश्मन को देखते हैं तो बुरा मालूम होता है। अच्छा या रुचिकर (Pleasant) और बुरा या अरुचिकर (Unpleasant) का अनुभव 'भाव' कहलाता है। किन्तु, भय (Fear), क्रोध (Anger), प्रेम (Love), प्रसन्नता आदि के अनुभव संवेग कहलाते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव (Feeling) का आविर्भाव किसी प्रकार की संवेदना या क्रिया से होता है, किन्तु संवेग की उत्पत्ति हममें किसी संवेदना से नहीं होती, अपितु किसी परिस्थिति विशेष के प्रत्यक्षीकरण (Perception), कल्पना (Imagination) अथवा स्मृति (Memory) से होती है। हम शेर को अपनी ओर आते देखते है और डरने लगते हैं, शत्रु द्वारा किये गये अपमान को याद करते है और क्रोध हो जाता है। यदि हम इसकी व्याख्या परिभाषा द्वारा देना चाहे तो कह सकते है कि संवेग वह जटिल (Complex) भावात्मक (Affective) अवस्था है जिसका आविर्भाव किसी परिस्थिति के प्रत्यक्षीकरण, स्मृति अथवा कल्पना से होता है। इससे हमारा कोई अंगविशेष ही प्रभावित नहीं होता, बल्कि सारा शरीर प्रभावित होता है; क्योंकि उस समय आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं जिस पर कि आगे चलकर विशेष रूप से प्रकाश डाला जायगा। यह जीव का व्यक्तिगत एवं सर्वव्यापक अनुभव है क्योंकि एक-सी ही परिस्थिति में व्यक्तियों में विभिन्न संवेग आविर्भूत हो सकते हैं। सिंह को देखकर एक साधारण आदमी भयभीत हो जाता है, किन्तु एक शिकारी आनन्द का

अनुभव करने लगता है। सर्वव्यापक अनुभव इसलिए कहा जाता है कि इसकी क्षमता आबालवृद्ध, पशु-पक्षी आदि सभी जीवों मे पायी जाती है। इतना ही नहीं, बल्कि प्रत्येक संवेग में सुखद अथवा दुखद भाव अवश्य होता है। प्रेम-संवेग का सम्बन्ध सुखद भाव से और भय का सम्बन्ध दुखद भाव से रहता है। यही अवस्था अन्य संवेगों की भी है। इसके मूल में क्रियात्मक वृत्ति भी रहती है, अर्थात् जब किसी तरह का संवेग होता है तो उस समय जीव किसी न किसी प्रकार की क्रिया भी करता है। जब बच्चा क्रुद्ध होता है तब उस समय वह अपना हाथ-पैर पटकने लगता है अथवा अपने या दूसरे के शरीर को काटने-पीटने लगता है। भय के समय रोने और भागने आदि के व्यापार देखने मे आते हैं। इसीलिए मेकडुगल ने मूल-प्रवृत्तियो (Instincts) को संवेगो का प्राण माना है। स्टाउट ने भी क्रियात्मक वृत्ति पर जोर दिया है। इसी प्रकार और भी कई विशेषताएँ संवेगो की पाई जाती हैं, किन्तु यहाँ हम उनका उल्लेख न करके उनके विकास क्रमपर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे, तत्पश्चात् बच्चों के कुछ संवेग-विशेषो का वर्णन करेंगे।

२. संवेगों का आरम्भ और उनका विकास

बालकों के संवेगात्मक विकास पर प्रकाश डालने के पहले यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्राचीनकाल से ही दार्शनिको से लेकर कुछ मनोवैज्ञानिको ने इस कथन को प्रमाणित करने का प्रयास किया है कि बच्चो मे कुछ संवेग जन्मजात (Inborn) और मौलिक (Primary) होते हैं। इसके माननेवालो में वाटसन का नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय है, क्योंकि सर्वप्रथम उन्होने ही इस सत्य को प्रस्थापित करने के लिये नवजात बच्चो से लेकर कुछ महीनों तक के बच्चो पर प्रयोग किया। प्रयोगात्मक परिणामो के ही आधार पर उन्होने भय, क्रोध और प्रेम को जन्मजात और मौलिक संवेग उद्घोषित किया है। उनका कहना है कि ये संवेग जन्म के समय अथवा कुछ ही दिन बाद बच्चो मे आविर्भूत हो जाते हैं। संवेगों के परीक्षण की विधि भी उनकी विचित्र थी। वे प्रयोगशाला में बच्चों को लाकर उन्हीं उत्तेजनाओं को उपस्थित करते थे जो कि प्रौढ़ व्यक्तियों मे भय, क्रोध अथवा प्रेम संवेग को उत्पन्न करती थी। विभिन्न परिस्थितियों को उत्पन्न करने के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुँचे कि दुःखद उत्तेजना, आश्रय (Support) सहसा हट जाने और कर्कश शब्द (Loud-

sound) से बच्चों में भय संवेग उत्पन्न होता है जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वे अपनी साँस गति को रोक लेते है, हाथ-पैर पटकने लगते हैं। इतना ही नहीं, बल्कि होठों के काँपने और पुतलियों के इधर-उधर चलने की भी प्रतिक्रियाएँ देखने में आती है। इन उत्तेजनाओं के अतिरिक्त अन्य उत्तेजनाओ और परिस्थितियों के उपस्थित करने पर उनमें भय-संवेग की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित नहीं हुईं।

बच्चो की क्रिया और गति को अवरुद्ध कर देने पर उनमें क्रोध का संवेग आविर्भूत हुआ जिसकी प्रतिक्रिया स्वरूप वे चिल्लाना (रोना), शरीर को कडा करना, हाथ-पैर फेंकना आदि आरम्भ किये। इन प्रतिक्रियाओ के करने पर भी छुटकारा न मिलने पर उनमे साँस रोकने या चिल्लाने की प्रतिक्रिया देखी गई। ऐसा वे उस समय तक करते रहे जब तक कि उनका मुख-मण्डल फीका न पड़ गया। जो बच्चे कुछ बड़े थे उनमे परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये बाधक को मारने, दाँत से काटने, जमीन पर गिर कर रोने, आदि की प्रतिक्रियाएँ देखी गईं।

प्रेम-संवेग को उत्पन्न करने के लिये बच्चो को थपथपाना (Patting), गुदगुदाना (Tickling), झुमाना, (Rocking), सुहलाना आदि पर्याप्त थे। इस संवेग का प्रदर्शन भी बच्चे मुस्करा और गुलगुला कर किए। कुछ बच्चो मे जल्दी-जल्दी हाथ-पैर घुमाने की भी प्रतिक्रियाएँ देखी गईं। इस संवेग का प्रदर्शन बच्चो ने अवसर विशेष पर शान्त होकर भी किया। कुछ बड़े बच्चे अपने हाथो को गोदी में जाने के लिए भी प्रसारित कर दिये।

कहने का अभिप्राय यह है कि इन्ही सब प्रयोगों के आधार पर वाटसन ने उपर्युक्त तीनो संवेगो को जन्मजात अभिव्यक्त किया। उसका कहना है कि जिस संवेग के कारण स्वस्थ बच्चे विभिन्न प्रतिक्रियाएँ करते हैं उन्हें संवेग-संघात (Emotional pattern) कहते हैं। विभिन्न संवेगो के विभिन्न संघात होते है। प्रारम्भ मे ये ही तीन प्रकार के संवेग-संघात बच्चो में मौजूद रहते हैं और बाद मे इन्हीं संघातो से अन्य प्रकार के संवेग-संघात क्रमशः आविर्भूत और विकसित होते हैं।

यद्यपि प्रारम्भ में वाटसन का मौलिक संवेग-सिद्धान्त बहुत दिनो तक सर्वप्रिय बना रहा, किन्तु इसकी सत्यता स्थाई रूप से न टिक सकी क्योकि इस दिशा में मनोवैज्ञानिको की अभिरुचि हुई और उसकी सत्यता को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने बच्चों पर प्रयोग करना शुरू किया। जिन उत्तेजनाओं से वाटसन को बच्चो में क्रोध-संवेग की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित

हुई' उन्हीं उत्तेजनाओं का प्रयोग अधिक बच्चों पर प्रैट, नेलसन और सन ने किया, परन्तु सभी शिशुओं में क्रोधात्मक प्रतिक्रियाएँ न होकर विभिन्न प्रतिक्रियाएँ हुई'। जब बच्चों के दोनों हाथ कस कर पकड़ लिए गये तब उनमें से ५८ प्रतिशत शान्त होकर निष्क्रिय बने रहे और तीन प्रतिशत बच्चे कुछ देर शान्त रह कर सक्रिय (Active) बन गये। इसी प्रकार अन्य बच्चो की प्रतिक्रियाओं में भी भिन्नता पाई गई। बहुत बच्चों की खामूसी के आधार पर इन मनोवैज्ञानिकों ने यह निश्चित किया कि क्रिया को अवरुद्ध कर देने पर बच्चों में क्रोध की प्रतिक्रियाएँ नहीं, बल्कि खामूसी की प्रतिक्रिया होती है। कुर्टी ने भी अपने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि कर्कश शब्द और आश्रय का अचानक अभाव शिशुओं में भय उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। डेनिस के प्रयोग भी वाटसन के मौलिक संवेग-सिद्धान्त को पूर्णतः खण्डित करते हैं।

शेरमन ने वाटसन के प्रतिपादित सिद्धान्त की वास्तविकता की परीक्षा उसी के द्वारा अभिव्यक्त उत्तेजनाओ के साथ विभिन्न रीतियो से की। बच्चों के समक्ष उत्तेजनाओं को समुपस्थित करने पर जो प्रतिक्रियाएँ उनमे आविर्भूत हुई' उन सबों को चित्रित कर लिया गया। बाद में उन चित्रों को औपचारिक (Medical) विद्यार्थियो और अस्पताल की परिचारिकाओ (Nurses) को प्रदर्शित कर उनमे अभिव्यंजित (Expressed) संवेगो को व्यक्त करने के लिए कहा गया। यहाँ पाठको को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि परीक्षार्थियो से विभिन्न चित्रो की उपस्थित अवस्था से आबद्ध उत्तेजनाओं को नहीं व्यक्त किया गया। जब उनके निर्णयो पर विचार किया गया तो मालूम हुआ कि उनमे समानता बहुत कम अंश में थी, किन्तु भिन्नता की मात्रा अधिक थी। दूसरी वार वास्तविक परिस्थिति में परीक्षार्थियो को बच्चों के संवेग को उनकी प्रतिक्रियाओ के आधार पर व्यक्त करने को कहा गया, किन्तु इस बार भी उन्हे उत्तेजनाओं का ज्ञान नहीं कराया गया। इस वार भी परीक्षार्थियो ने एक ही बच्चे की प्रतिक्रियाओं को विभिन्न संवेग-संघातों से अभिव्यक्त किया, उदाहरणार्थ, जब बच्चे में क्रन्दन ध्वनि हुई तो औपचारिक विद्यार्थियो ने इसे वेदना-प्रतिक्रिया (Pain reactions), परिचारिकाओं ने भूख-प्रतिक्रिया और दूसरो ने भय अथवा क्रोध प्रतिक्रिया कहा। हाँ, जब तीसरी परिस्थिति में उन्हें बच्चों की प्रतिक्रियाओ के आधार पर उनके संवेगों को व्यक्त करने को कहा गया जिसमें उत्तेजना का भी ज्ञान परीक्षार्थियो को था, तब उनके निर्णयों में बहुत

अंश तक समानता और प्रतिपन्नता (Accuracy) पाई गई। इसलिये शेरमन ने अत्यन्त निश्चयात्मक रूप से इस सिद्धान्त को प्रतिपादित किया कि वस्तुतः बच्चों में किसी प्रकार की विशिष्ट संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं। जो लोग उनमें भय, प्रेम अथवा क्रोध की प्रतिक्रियाएँ प्रारम्भ में देखते हैं वे उनकी प्रतिक्रियाओं को अपने दृष्टिकोण से देखते है जो पूर्णतः भ्रामक (Erroneous) है। इस तरह शेरमन वाटसन के मौलिक संवेग-सिद्धान्त पूर्णतः खण्डन करते हैं।

ब्रिजेज ने जो प्रयोग बच्चों पर किया है वे सभी वाटसन के सिद्धान्त को दोषपूर्ण प्रमाणित करते हैं। कहने का आशय यह है कि इस दिशा में इर्विन, जोंस, आदि जितने पण्डितो ने प्रयोग किया है उन सबके प्रयोगो से यह स्पष्ट है कि प्रारम्भ में बच्चों मे कोई भी विशिष्ट संवेगात्मक प्रतिक्रिया नहीं होती। इन उपर्युक्त प्रयोगात्मक विवेचनों के आधार पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं हम कि जब नवजात शिशु अथवा दो चार दिन के बच्चे के समक्ष किसी प्रकार की ऐसी उत्तेजना उपस्थित करते हैं जिससे सयानों में भय, क्रोध या प्रेम का संवेग उत्पन्न होता है तब उनमें उपर्युक्त संवेगों से आबद्ध प्रतिक्रियाएँ नहीं होतीं, अपितु उसकी प्रतिक्रियाएँ उसकी उद्दीप्तावस्था (Excited State) का द्योतक होती है। यदि हम उनके प्रारंभिक व्यवहारों का अवलोकन करें तो हमे मालूम होगा कि बच्चो के आदिम व्यवहार अस्पष्ट (Vague) तथा अभिन्न (Undifferentiated) होते हैं जिन्हें हम एक दूसरे से अलग नहीं कर सकते और न उनको किसी नाम विशेष से ही पुकार सकते हैं। यथार्थतः उनमें शुरू में समष्टि-व्यापार (Mass Activity) ही परिलक्षित होते हैं उनमें विशिष्टता (Specificity) तो कालक्रमेण आती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जब किसी प्रकार की उत्तेजना उपस्थित की जाती है तो शिशु में किसी संवेग विशेष का आविर्भाव नहीं होता, बल्कि वह उद्दीप्तावस्था अथवा उत्तेजित अवस्था में हो जाता है। इसी अवस्था से क्रमशः विभिन्न संवेगो का आविर्भाव समयानुकूल होता है। इस सम्बन्ध में ब्रिजेज के अन्वेषण बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं, इसलिये हम उसी के आधार पर यहाँ संक्षिप्ततः संवेगात्मक विकास का उल्लेख करेंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है सर्वप्रथम शिशु की प्रतिक्रियाएँ उसकी उद्दीप्तावस्था की द्योतक होती हैं। उसी से बेचैनी अथवा क्लेश और प्रसन्नता सूचक प्रतिक्रियाएँ तीन माह तक विकसित हो जाती है। बेचैनी तो उसमें कुछ ही दिनों में दिखलाई देने लगती है, किन्तु प्रसन्नता का विकास

बहुत दिनों के बाद होता है। तत्पश्चात् बेचैनी से घृणा, क्रोध और भय का विकास होता है और एक वर्ष में ही प्रसन्नता या उल्लास से आह्लाद, प्रेम, स्नेह आदि संवेगों का आविर्भाव होता है। प्रारंभ में संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ बहुत ही सामान्य (General) होती हैं, किन्तु क्रमशः उनमें विशिष्टता आती जाती है। उनकी विकासगति भी इतनी मंद होती है कि यह निश्चयात्मक रूप से कहना बहुत कठिन है कि कब किस प्रतिक्रिया का आविर्भाव और विकास होता है। ब्रिजेज के अनुसार सभी संवेगों का विकास दो वर्ष की अवस्था तक हो जाता है भले ही उनकी प्रतिक्रियाएँ सरल और सुबोध हों। उसके बाद उन्हीं प्रतिक्रियाओं में आयु और अनुभव वृद्धि के साथ-साथ विषमता (Complexity) आ जाती है। परन्तु, ब्रिजेज का यह निर्णय सर्वांशतः उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि शोक और चिन्ता का अनुभव कई वर्षों के बाद बच्चों को होता है। सम्भवतः ब्रिजेज के निर्णय में यह दोष इसीलिये है कि उसने दो वर्ष तक के बच्चे का ही अध्ययन करने का प्रयास किया है। यहाँ हम निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि बच्चों के संवेगात्मक विकास में भी एक क्रम है और ज्यों-ज्यों उनकी उम्र और अनुभव में वृद्धि होती है त्यों त्यों-उन्हें नए-नए संवेगों का भी अनुभव होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि संवेग की प्रारम्भिक प्रतिक्रियाएँ बहुत सरल और सीमित होती हैं, किन्तु कालक्रम से वे विषम और व्यापक होती जाती है। पहले बच्चे का क्रोध, भय अथवा स्नेह एक व्यक्ति अथवा वस्तु विशेष तक सीमित रहता है, किन्तु क्रमशः दिन प्रतिदिन वह सीमा संकुचित न रह कर अत्यन्त प्रशस्त हो जाती है जिससे उसमें विभिन्न उत्तेजनाओं और परिस्थितियों के प्रति भय, क्रोध वा प्रेम का संवेग उत्पन्न होता है। संवेग विकास में अवस्था और अनुभव का अत्यधिक हाथ रहता है इसलिये इन दोनों पर प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

३. संवेगात्मक विकास में परिपक्वता तथा शिक्षण का स्थान

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संवेगों के विकास में अवस्था और अनुभव का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है; किन्तु इस विकास में कौन अंग कितना सहायक होता है इस संबंध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। वाटसन तथा उसके अनुयायियों का कहना है कि बच्चों में संवेगों का अविर्भाव और विकास सम्बद्धता(Conditioning) के कारण होता है। दूसरे पक्ष के मनोवैज्ञानिक परिपक्वता (Maturation) को ही संवेग विकास का एक मात्र प्रभावशाली अंग मानते हैं। इसके पहले कि हम किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचें

उपर्युक्त दोनों पक्ष के निर्णयों और व्याख्याओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

संवेगात्मक विकास में परिपक्वता के प्रभाव को व्यक्त करते हुये गुडएनफ ने एक ऐसी दस वर्षीया वालिका का उदाहरण उपस्थित किया है जो जन्मान्ध और बहरी थी। इन दो इन्द्रियों के अभाव के कारण उस बेचारी को कभी सुनने और देखने का अवसर नहीं मिला, किन्तु वह क्रोध और आनन्द का अनुभव करती थी। यदि संवेग-विकास, सम्बद्धता (शिक्षण) और अनुभव के कारण होता तो उक्त बालिका इन संवेगो का प्रदर्शन क्योंकर करती? उसने न तो अपने जीवन मे किसी पदार्थ को देखा और न किसी शब्द को सुना तब भला शिक्षण की गुंजाइश कहाँ? इसलिये गुडएनफ का कहना है कि जब शिक्षण और अनुभव के अभाव में भी क्रोध, आनन्द आदि संवेगो को जीव प्रदर्शित कर सकता है तो इससे यह निर्विवाद है कि संवेग-विकास मे आयु का ही हाथ रहता है। आयुवृद्धि के साथ साथ जीव के सभी अंगो तथा बुद्धि में परिपक्वता आती है और परिणामतः उसमें विभिन्न संवेगो को अनुभव करने की शक्ति आती है।

संवेग-विकास में परिपक्वता का महत्व प्रदर्शित करने के लिये जोंस तथा भलेण्टाइन आदि ने सभी अवस्था के बच्चो पर एक छः फीट लम्बे साँप के साथ प्रयोग किया, साँप घूमने फिरने के लिये बिल्कुल स्वतंत्र था। उस साँप को देख कर दो वर्ष से कम उम्र वाले बच्चो में किसी प्रकार की भयात्मक प्रतिक्रिया न देखी गई, तीन वर्ष के बच्चों में उसके लिये अधिक चौकसी और सावधानी देखी गई। चार वर्ष के बच्चे उसे स्पर्श करना नहीं चाहे और बराबर उससे दूर रहने की कोशिश करते रहे। उनसे अधिक उम्र वाले बच्चो मे भय-संवेग अत्यधिक मात्रा में देखा गया। कहने का तात्पर्य यह है कि छोटे बच्चो मे भयावह (Dangerous) परिस्थिति से किसी तरह का भय नहीं हुआ, किन्तु वही परिस्थिति बड़े बच्चों में भय उत्पन्न करने में समर्थ हुई। इसलिये उपर्युक्त मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि शरीर विकास के साथ साथ मानसिक विकास होने के कारण परिस्थिति को समझने की योग्यता हो जाती है। यदि परिपक्वता संवेग-विकास का कारण नहीं होती तो सभी अवस्थाओं के बच्चो में साँप को देख कर भय उत्पन्न हुआ होता, किन्तु सब में ऐसा नहीं होता। अतएव परिपक्वता संवेग विकास का प्रधान कारण है।

गेसेल भी इसी का प्रतिपादन एक उदाहरण द्वारा करता है। जब उसने

दस सप्ताह के बच्चों को एक घेरे में बन्द कर दिया तो उन बच्चों ने किसी प्रकार की ऐसी प्रतिक्रियाओं को नहीं किया जिन्हें हम बेचैनी का द्योतक कह सकें। जब उसी दशा में बीस सप्ताह के बच्चों की प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण किया गया तब उनमें थोड़े अंश में बेचैनी पाई गई, परन्तु उसी परिस्थिति में तीस सप्ताह के बच्चे व्याकुल होकर रोने, चिल्लाने आदि की प्रतिक्रियाएँ करते हुए पाये गये। यहाँ परिस्थिति एक ही है, किन्तु विभिन्न अवस्था के बच्चों की प्रतिक्रियाओं में भिन्नता है जिससे यह स्पष्ट है कि संवेगात्मक विकास अवस्था अथवा परिपक्वता पर निर्भर करता है।

इसकी पुष्टि के प्रमाण में ब्लाट्ज तथा मिलिशैम्प का कथन है कि बच्चों में संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का विकास क्रमशः होता है, सभी प्रतिक्रियायें एक साथ आविर्भूत न होकर एक निश्चित समय में विकसित होती हैं। उदाहरणार्थ, जन्म के कुछ दिनों बाद ही बच्चे क्लेश का अनुभव करते हैं, तीन महीने में उनमें आनन्द अथवा प्रसन्नता की प्रतिक्रियायें देखी जाती हैं। दो वर्ष के भीतर उनमें भय, क्रोध, प्रेम आदि संवेगों की प्रतिक्रियाएँ परिलक्षित होने लगती हैं। तीन वर्ष की अवस्था में बच्चा क्रुद्ध होकर कुछ बकझक करने लगता है। कुछ ऐसे भी संवेग हैं जिनमें अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ मंदता आने लगती है और आगे चलकर वे लुप्त-सा हो जाते हैं। संवेगों के विभिन्न विकास-क्रम इसे पुष्ट करते हैं कि संवेगों का विकास अवस्था-वृद्धि अथवा परिपक्वता पर निर्भर करता है।

नर्सरी स्कूल के बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके ब्रिजेज ने भी परिपक्वता के पक्ष में इसी से मिलता-जुलता प्रमाण दिया है। उसका कहना है कि नर्सरी स्कूल की विभिन्न संवेग-प्रतिक्रियाओं के निरीक्षण से यह स्पष्ट है कि अवस्था-वृद्धि और अनुभव-वृद्धि के साथ-साथ बच्चों की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं में अन्तर पड़ता है। शिशुओं की प्रहसनात्मक और क्रन्दनात्मक प्रतिक्रियाओं का अध्ययन करके वाशबर्न तथा बेली ने भी परिपक्वता के ही पक्ष को परिपुष्ट किया है।

इसी प्रकार दूसरे पक्ष के मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगात्मक प्रमाणों के आधार पर शिक्षण और अनुभव को ही संवेगात्मक विकास का एकमात्र कारण व्यक्त किया है। इस सिद्धांत के परिपोषकों में वाटसन का नाम सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, उसने प्रेम, क्रोध और भय को मौलिक संवेग माना है जिनसे अन्य संवेगों का विकास होता है। उसका कहना है कि बच्चे आरम्भ में सिर्फ कर्कश स्वर से भयभीत होते हैं

या आश्रयविहीन होने पर भय प्रदर्शित करते हैं, किंतु बाद में ज्यों-ज्यों उनका अनुभव सम्बद्धता के कारण बढता जाता है त्यों-त्यों अधिक परिस्थितियों से डरने लगते हैं। उसके दृष्टिकोण से आरम्भ में जिन परिस्थितियों के साथ बच्चे नहीं डरते वे ही परिस्थितियाँ बाद में उनके डर का कारण होती हैं। किंतु, उनका डरना परिपक्वता के कारण नही, बल्कि सम्बद्धता के कारण जो अनुभव होता है उसके कारण होता है। अंधकार, साँप, बिच्छू आदि से डरना इसी सम्बद्धता का परिणाम है। इसी तरह अन्य सभी प्रकार के पदार्थ सम्बद्धता के ही कारण प्रेम, क्रोध आदि संवेगों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। वाटसन ने जिस प्रकार बच्चों के अन्य व्यवहारों को सम्बद्धता के आधार पर समझने का प्रयास किया है उसी प्रकार संवेगो की भी व्याख्या उसने शिक्षण (सम्बद्धता) के ही आधार पर की है। उसका कहना है कि शिशु शुरू में जिन चीजों से नहीं डरते बाद मे घर मे विभिन्न प्रकार के अनुभवों के कारण जो सम्बद्धत-प्रत्यावर्तन के द्वारा सीखे जाते हैं, डरने लगते हैं। उसने अपने सिद्धांत के पक्ष में अलबर्ट नामक एक बच्चे का उदाहरण दिया है जो पहले किसी रोवेंदार जानवर से नहीं डरता था, किंतु बाद में सम्बद्धता के कारण चूहा, बिल्ली आदि सभी रोवेंदार जानवरों से डरने लगा। अन्त में यहाँ तक हुआ कि समानता वाले पदार्थों से भी डरने लगा। यद्यपि वाटसन ने क्रोध पर बुरे प्रभावों की आशंका से किसी प्रकार बच्चों के साथ प्रयोग नहीं किया है, तथापि उसका यह दृढ़ विश्वास है कि सभी प्रकार की संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का विकास सम्बद्धता पर ही निर्भर है। वाटसन के इस मत का समर्थन अधिकांश व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक करते हैं और इस प्रकार वे शिक्षण की ही प्रधानता स्वीकार करते हैं। इन मनोवैज्ञानिकों में सैटियर, मेरी, जोंस, वेङ्गर आदि के नाम विशेष प्रसिद्ध हैं। इस मत के अनुयायी सभी मनोवैज्ञानिको का कहना है कि जिस प्रकार इस विधि से विभिन्न संवेगो का विकास होता है उसी प्रकार असम्बद्धता की विधि से किसी प्रकार का भी संवेग दूर किया जा सकता है। इस पर आगे चलकर प्रकाश डाला जायेगा, इसलिये यहाँ वर्णन करने की जरूरत नहीं है।

अबतक हम दोनो पक्ष के प्रमाणो का अध्ययन करते रहे है और दोनों अंगो के पक्ष मे पर्याप्त प्रयोगात्मक प्रमाण उपस्थित किये गये हैं। किन्तु, हम किसी एक अंग को ही संवेगात्मक विकास का एकमात्र कारण मानने के लिये तैयार नहीं हैं, क्योंकि हमारे दृष्टिकोण से इसमे दोनों का समान हाथ रहता है। इसमे सन्देह नहीं कि सम्बद्धता के कारण हम बहुत चीजो से डरने या

प्रेम करने लगते हैं, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि परिपक्वता नगण्य है। शिक्षण के प्रभाव के लिये ज्ञानेन्द्रियों का सबल होना आवश्यक है और यह सबलता आयुवृद्धि अथवा परिपक्वता पर ही निर्भर करती है। रोने, चिल्लाने और दौडने के लिये जिस प्रकार उनसे आबद्ध अंगो का परिपक्व होना जरूरी है उसी प्रकार परिस्थिति को समझने के लिये सूझ और समझ की जरूरत पडती है। यह समझ और सूझ अनुभव और शिक्षण से ही सम्भव है। इसलिये हम यही कह सकते है कि संवेगात्मक विकास में दोनो (परिपक्वता और शिक्षण) का स्थान समान महत्व का है।

४. विशिष्ठ संवेग

(अ) प्रेम:—प्रेम-संवेग पर प्रकाश डालने के लिये हमें यह स्मरण रखना जरूरी है कि जन्म के कुछ दिनों बाद बच्चों में प्रेमांकुर अंकुरित होने लगता है। यहाँ इस सम्बन्ध में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि यह संवेग क्यों और क्योंकर विकसित होता है। यदि हम इसके कारण पर विचार करें तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्रारम्भ में मानव शिशु अत्यंत असहाय रहता है, क्योंकि अपने पालन-पोषण के लिये उसे पूर्णतः अन्य व्यक्तियो पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्य जानवरों के बच्चो की तरह अपने पालन-पोषण का प्रबन्ध वह स्वयं नही करता, कारण कि ऐसा करने की योग्यता उसमें कई वर्षों बाद आती है। इसलिये जिन लोगो पर उसकी रक्षा और देख-रेख का भार रहता है उन लोगों के दयापूर्ण व्यवहार तथा सहायता के कार्य ही बच्चे के मन में उनके प्रति प्रेमांकुर उत्पन्न कर देते हैं। सहायता करने और दया प्रदर्शित करने में सर्वप्रथम माता-पिता का स्थान आता है। इसलिये सबसे पहले उनमें अपने माता-पिता के ही प्रति प्रेम उत्पन्न होता है। बच्चों में अनुकरणशीलता अत्यधिक मात्रा में होती है। इसलिये जब वे अपने माता-पिता को परस्पर प्रेम प्रदर्शित करते हुये या अपने आप को प्रेम करते हुये देखते हैं तो वे भी वैसा करना शुरू कर देते हैं।

आरम्भ में तो बच्चो का प्रेम माता-पिता के ही प्रति होता है, किन्तु ज्यो-ज्यो उनका सम्पर्क बढता जाता है त्यो-त्यों उनके प्रेम का क्षेत्र भी बढता जाता है। घर के जो व्यक्ति बच्चो के साथ खेलते है उनसे भी बच्चे प्रेम करने लगते हैं। तत्पश्चात जिन बच्चो के साथ वे खेलते-कूदते हैं उन्हें भी वे प्रेम अथवा स्नेह की दृष्टि से देखने लगते है। पुन. वे अपने प्रेम का प्रकाशन उन पदार्थों के प्रति करने लगते हैं जिनसे वे खेलते या किसी अन्य तरह का काम लेते है। चार-पाँच वर्ष के बच्चो मे अपने खिलौनो के लिये सबसे अधिक

प्रेम रहता है और उनसे वे बिछुड़ना नहीं चाहते हैं। इस उम्र की लड़कियाँ अपनी गुड़ियों को इतना प्यार करती हैं कि वे उनके सामने अन्य बहुमूल्य चीजों को भी तिरस्कृत कर देती है। इसी प्रकार आयु-वृद्धि के साथ उनके प्रेम की सीमा भी बढ़ती जाती है और अन्ततोगत्वा वे विश्व के प्रति अपना प्रेम प्रदर्शित करने लगते हैं।

यदि हम इस संवेग के विकास काल को निर्धारित करना चाहें तो हमें ऐसा करने में कठिनाई होगी, क्योंकि बहुत से बच्चों में आठ महीने मे ही प्रेम-प्रतिक्रियाएँ देखने मे आती हैं और बहुतों में बारह महीने की अवस्था में। इसलिये हम निश्चयात्मक रूप से यही कह सकते हैं कि एक वर्ष की अवस्था मे इस संवेग का आविर्भाव हो जाता है।

इस संवेग का प्रकाशन भी बच्चे विभिन्न रूपों से करते हैं। कभी-कभी वे अपने प्रेम का प्रकाशन किसी वस्तु वा व्यक्ति के प्रति मुस्करा कर करते है। प्रेम-पात्र को देख कर हँस देने की प्रतिक्रिया भी दृष्टिगोचर होती है। प्रेमपात्र को थपकी देकर, चुम्बन कर और उसकी ओर ताक कर भी बच्चे अपना प्रेम-संवेग प्रकाशित करते हैं। माता को चूमने, उसे देख कर हँसने आदि बच्चों की प्रतिक्रियाओं का सभी लोग निरीक्षण कर सकते हैं। जब समवयस्क बच्चे परस्पर प्रेम करते हैं तो वे उस प्रेम का प्रकाशन परस्पर की मैत्री से करते हैं। यदि हम प्रेम-संवेग की इन प्रतिक्रियाओं पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि प्रौढ़ जीवन में भी इन्हीं प्रतिक्रियाओ द्वारा प्रेम का प्रकाशन किया जाता है। चुम्बन और आलिंगन व्यापार मुस्कराने और हँसने आदि की कमी प्रौढावस्था में भी नही रहती। प्रायः बच्चे और सयानो के प्रेम प्रकाशन के समान ही तौर-तरीके होते हैं।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि इस संवेग के विकास काल में अत्यन्त सावधान रहना चाहिये क्योंकि असावधानी से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। पहली बात तो माता-पिता को ध्यान मे रखने लायक यह है कि वे ऐसी कोशिश करें कि उनके बच्चों का प्रेम उन्हीं तक सीमित न रहे बल्कि वे अवस्था और समयानुसार सभी व्यक्तियों और चीजो को प्रेम-दृष्टि से देखें ताकि वे विश्व को ही स्नेहमयी आँखो से देखना सीखें। ऐसा न करने से बच्चों का दृष्टिकोण अत्यन्त सीमित हो जाता है और उनके व्यक्तित्व का विकास भी पूर्णतः नहीं होता। जिन बच्चों का प्रेम उनके माता-पिता तक ही समित रह जाता है वे दूसरो को प्रेम करना नही जानते और परिणामस्वरूप असामाजिक बन जाते हैं।

दूसरी बात जो ध्यान देने योग्य इस सम्बन्ध में है वह यह है कि बच्चों को समलिंगी (the same sex) से ही मैत्री करने के लिये प्रोत्साहित नहीं करना चाहिये बल्कि उन्हें विषमलिंगियो (opposite sex) से भी प्रेम करना सिखलाना चाहिये। इसकी उपेक्षा करने पर बच्चे आगे चलकर विषमलिंगियों से नहीं मिलना चाहते जिसके फलस्वरूप उनका जीवन अधूरा रह जाता है। इसलिये माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे इस संवेग विकास में बच्चों का समुचित रूपे से निरीक्षण करें ताकि उनका यह संवेग अच्छी तरह विकसित हो सके।

(व) क्रोधः—क्रोध का संवेग इतना व्यापक होता है कि इसका अनुभव प्रत्येक जीव करता है। इसकी परिगणना कुछ मनोवैज्ञानिक मूल संवेग की श्रेणी मे करते हैं। कितनों ने इसे वीभत्स (Course) संवेग के नाम से अभिव्यक्त किया है। जब यह अत्यन्त प्रबल रहता है तो उस समय जीव की बुद्धि ठिकाने नहीं रहती है। क्रोधावस्था में मनुष्य बहुत अधिक सक्रिय प्रतीत होता है।

इसके स्वरूप पर प्रकाश डालने के लिये यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि कोधावस्था में मनुष्य के शरीर में वाह्य और आन्तरिक कई प्रकार के परिवर्त्तन होते हैं। उसकी आँखें लाल हो जाती है, मुखमण्डल क्रोध से जलने लगता है, मुँह सूखने के कारण वह जीभ चाटने लगता है, होठो में कँपकपी आ जाती है। सारा शरीर क्रोधाग्नि की ज्वाला से थरथर काँपने लगता है। हृदय की गति तीव्र होने के कारण साँस भी जल्दी जल्दी चलने लगती है। शरीर में कई प्रकार के आंतरिक परिवर्त्तन होते हैं जैसे, रक्त-संचार की गति और रसायन में परिवर्तन, पाचन क्रिया की अवरुद्धता, अन्तःस्रावी ग्रन्थियों (Endocrine glands) की क्रियाओं में परिवर्तन आदि। यदि हम इसके कारणो पर विचार करें तो मालूम होगा कि आरम्भ में बच्चे उस समय क्रुद्ध होते हैं जब उनकी क्रिया में किसी तरह की बाधा उपस्थित होती है। किन्तु, डोलार्ड, डूब आदि पण्डितों का कहना है कि सिर्फ स्वतंत्र क्रिया की बाधा मात्र क्रोध उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होती है। बल्कि, जब वह किसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए किसी प्रकार की क्रिया करता है और उस क्रिया को रोकने से जब वह उस फल को पाने से निराश हो जाता है तब उसमें क्रोध का संवेग उत्पन्न होता है। क्रिया के अवरुद्ध होने पर उसके प्रतिकारार्थ वह विभिन्न प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन करता है जिन्हें हम लोग क्रोधात्मक प्रतिक्रियाओं के नाम से विभूपित करते है।

गुडएनफ ने इस सम्बन्ध में बच्चो का जो अध्ययन किया किया है उससे यह स्पष्ट है कि यद्यपि बच्चे परिश्रांति, रुग्णता अथवा क्षुधा से पीड़ित अवस्था मे भी क्रोध प्रदर्शन करते हैं, किन्तु अधिकांश उसी समय क्रुद्ध होते हैं जब उनकी किसी प्रकार की क्रिया मे किसी कारणवश किसी प्रकार की रुकावट पड़ती है । इसलिये बच्चे, किसी चीज को उनसे ले लेने पर, हाथ मुँह धोने, तेल लगाने, सुलाने, शौचादि के लिये कपड़ा पहनाने या निकालने आदि पर क्रुद्ध हो जाते हैं। ऐसा करने से वे क्रुद्ध इसलिये होते हैं कि इन सब कामो के करने से उनके काम अथवा खेल मे रुकावक पड़ती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जब किसी प्रकार की निराशा उन्हे हाथ लगती है तब उस समय वे क्रोधावेश मे आ जाते है। यह निराशा उन्हें कई प्रकार से मिलती है, जैसे, खेलने-कूदने के लिये अवसर या स्थान नही मिलना; उन्हे अकेले छोड कर कही चला जाना, उनके प्रिय पदार्थ को जबर्दस्ती ले लेना, किसी नियम को उनकी इच्छा के प्रतिकूल पालन करने के लिये उन्हे बाध्य करना आदि ।

उपर्युक्त कारणो के अतिरिक्त भी एकाध ऐसे कारण है जिनका उल्लेख करना यहाँ अनुचित न होगा । उन कारणो में हम ध्यान आकर्षण को व्यक्त कर सकते है। जब बच्चे समुचित रूपसे अन्य व्यक्तियो को अपनी ओर आकृष्ट करने मे समर्थ नहीं होते है तब वे क्रोध का प्रदर्शन इसलिये करते हैं कि दूसरो का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट हो। किंतु, सूक्ष्मतया विचार करने पर इस स्थल पर भी निराशा का ही महत्व झलकता है। कभी-कभी ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो जाती है कि बच्चे किसी कारणवश अपना अपमान अनुभव करते है, किंतु उसके प्रति उसी तरह का प्रतिरोध करने में असमर्थ होते है, तब ऐसी हालत मे भी वे अपने क्रोध का प्रकाशन दूसरे व्यक्ति अथवा पदार्थ के प्रति करते हैं। कभी कभी माता-पिता अथवा अन्य संरक्षक से अनुचित दण्ड पाने पर भी बच्चे क्रुद्ध होते हैं। प्रायः इन्हीं कारणों से उनमें यह संवेग आविर्भूत होता है।

अब प्रश्न यह है कि वे अपने इस संवेग को प्रकट क्योंकर करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर देते समय यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि शिशुओं में प्रारम्भिक काल में क्रोधात्मक प्रतिक्रियाएँ बहुत ही सरल और सीमित होती हैं, किन्तु अवस्था वृद्धि के साथ-साथ उनमे विषमता और उनकी संख्या में अधिकता होती जाती है। उनकी प्रतिक्रियाओं में अवस्थावृद्धि के कारण परिवर्तन भी होता है। सर्व-प्रथम क्रोध का प्रकाशन बच्चे शरीर को कड़ा

कर, चिल्ला और रोकर, जमीन पर लोटकर, दाँत से काटकर और चीजों को तोड़फोड़ कर करते हैं। क्रोध की हालत में वे अपनी साँस को रोकते, पैर को जमीन पर पटकते, खाना न खाने के लिये दाँत दबाते, मुँह से खाना निकालते और इधर-उधर दौड़ते हैं। उनके क्रोध को प्रकाशित करने का यह ढंग तीन वर्ष तक देखने मे आता है। जब वे स्पष्टतः आसानी से बोलने लगते है तब वे डरा धमका कर अपशब्द द्वारा अपने क्रोध को दिखलाते हैं। क्रोधावस्था मे वे बहस करना भी शुरू कर देते हैं। मुँह फेर लेना, कपड़ों को फाड़ देना अथवा अपने शरीर को स्वयं पीटना आदि व्यापार भी इस अवस्था में देखने को मिलते है। इन्हीं तरीकों से वे प्रत्यक्षतया अपने क्रोध को अभिव्यक्त करते हैं। परन्तु, कभी कभी स्थान विशेप पर वे अप्रत्यक्षतया भी अपने इस संवेग का प्रकाशन करते हैं। क्रोध का अप्रत्यक्षरूपेण बच्चा क्योंकर प्रकाशन करता है, इसे डूब, डोलार्ड, मिलर आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगों द्वारा स्पष्ट कर दिया है जिनका उल्लेख करना यहाँ आवश्यक नहीं है।

उपर्युक्त विवेचनों के बाद यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि सर्वथा क्रोध-संवेग अवांछनीय नही है। वातावरण मे अभियोजन करने का यह भी एक साधन है। क्रोध के समय बच्चे अथवा प्रौढ़ अधिक शक्ति का अनुभव करते है और कभी कभी असंभव को भी संभव कर बैठते हैं। किन्तु इससे अधिकांश हानि होती है। बच्चे का शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है और वह चिड़चिड़े स्वभाव का बन जाता है। बात बात में क्रोध करने के कारण वह असामाजिक बन जाता है, इसलिये उसके व्यक्तित्व का विकास सुन्दर रूप से नहीं होता। वस्तुतः यह संवेग उसके लिए बहुत घातक सिद्ध होता है।

इसके घातक परिणामों पर विचार करने पर यह कहने के लिये बाध्य होना पडता है कि माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों को बच्चों के इस संवेग का निवारण करना चाहिये। और ऐसा तभी हो सकता है जब कि वे उन्हें किसी तरह से उनकी क्रियाओं मे बाधा न दें। यदि कोई बच्चा खेलना चाहता है तो उसे खेलने से न रोकें और यदि खेलना रोकना आवश्यक है तो उसे इस चालाकी के साथ रोके कि बच्चा को इसका अनुभव ही न हो। जिस चीज से वह प्रेम करता है उसको न लेना चाहिये और यदि उसे लें भी तो उसको कोई ऐसा पदार्थ दे दें जिसमे वह मग्न रहे और इसका अनुमान न कर सके। हम पहले ही देख चुके हैं कि भूख, थकावट और शारीरिक रोगों के कारण भी बच्चे क्रोधी हो जाते है, इसलिये माता-पिता को इसके झोंके से बचाने के

लिये बच्चों को खाने-पीने की सुविधा देनी चाहिये। आराम का अवसर देने से और उनके स्वास्थ्य का ध्यान रखने से भी उन्हें क्रोध करने से रोका जा सकता है। अनावश्यक दण्ड देना, वाध्य काम लेना आदि से बचना भी क्रोध निवारण में सहायक होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि बच्चों के योग्य वातावरण रखने से हम उनके अनावश्यक क्रोध को रोक सकते हैं।

(ख) भयः—जिस प्रकार क्रोध का अनुभव सभी जीव करते है उसी प्रकार भय की सत्ता (Existence) भी सभी जीवों में विद्यमान रहती है। सच तो यह है कि ये दोनो संवेग इतने व्यापक है कि किसी भी जीव का इनसे छुटकारा नहीं होता। यह हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि वाटसन ने इसे मूलसंवेग कहा है। इसको अच्छी तरह से समझने के लिये इसके और क्रोध के अन्तरो को यहाँ स्पष्ट कर देना जरूरी है। किन्तु, इसके पहले कि हम दोनो के अन्तरो को प्रदर्शित करें यह ध्यान मे रखना आवश्यक है कि सभी जीवो में इसका आविर्भाव अपनी रक्षा (Protection) के लिये होता है। जब प्राणी (Organism) को किसी तरह का खतरा मालूम होता है तो उस खतरे से बचने के लिये उसमे सर्वप्रथम भय का आविर्भाव होता है।

यदि हम भाव के दृष्टिकोण से देखें तो ज्ञात होगा कि भय की अवस्था में अरुचिकर और क्रोध की हालत में रुचिकर भाव विद्यमान रहते है। यही कारण है कि भयानक स्थिति से जीव भागता है, किन्तु क्रोधात्मक परिस्थिति मे डँटा रहता है। भय की उत्पत्ति किसी प्राणी या वस्तु से होती है, परन्तु क्रोध का कारण तो कोई न कोई जीव ही रहता है। वस्तुतः निर्जीव पदार्थों के प्रति क्रोध उत्पन्न नहीं होता। क्रोधावस्था में उनका तोड़ना फोड़ना उनके प्रति क्रोध का परिचायक कदापि नहीं होता। जिस स्थिति से भय होता है उससे हमलोग दूर होने की कोशिश करते है, किन्तु जिसके प्रति क्रोध उत्पन्न होता है उसको पछाड़ना चाहते हैं। खतरे की प्रत्याशा (Expectation) से भय संवेग होता है, परन्तु क्रोध का आविर्भाव उस समय होता है जब हमे अपने प्रति की हुई हानि की याद आती है। इस तरह हम देखते हैं कि इन दोनो के स्वरूप मे बहुत भिन्नता है।

यदि हम इस पर विचार करे कि बच्चो में भय किन-किन कारणो से होता है तब हमें मालूम होगा कि आरम्भ में बच्चे कर्कश (Loud) अथवा कड़े शब्द से भयभीत होते हैं। इस सम्बन्ध में जेरसिल्ड तथा होल्मस के प्रयोगो का वर्णन करना विशेष सुविधाजनक होगा। उन बच्चो की संख्या

जिन पर कि प्रयोग किये गये १०५ थी। उनकी अवस्थाएँ भी भिन्न-भिन्न थीं। उन प्रयोगों से यह विदित होता है कि बच्चे साँप, बिच्छू, कुत्ता आदि जीवों से अत्यधिक डरते हैं। उसके बाद अन्धकारमय कमरा, ऊँचा स्थान, अपरिचित व्यक्ति (Stranger), कर्कश शब्द भय उत्पन्न करने में समर्थ होते हैं। एकान्त में छोड़े जाने पर उनमें बहुत ही कम भय देखा गया।

इसी के आधार पर यह व्यक्त किया गया है कि भय मे अवस्था (Age) का भी हाथ रहता है। पाँचवें वर्ष तक भयात्मक प्रतिक्रियाओं मे कमी पडती जाती है। कुत्ते, साँप आदि का भय दो से तीन वर्ष की अवस्था में कुछ कम हो जाता है, किन्तु उसमे निरन्तरता बनी रहती है। एकान्त-वास से दो-तीन वर्ष की उम्र में लडके अत्यधिक डरते हैं, परन्तु वही डर पाँच वर्ष की अवस्था मे समाप्त हो जाता है।

इस दिशा मे एक वर्ष तक के बच्चों पर जो प्रयोग किया गया उस से यह स्पष्ट है कि शब्द, अभिनव परिस्थिति, व्यक्ति अथवा पदार्थ, जानवर, गिरती हुई चीज, आकस्मिक गति, (Sudden movement), शारीरिक कष्ट की धमकी आदि से बच्चे बहुत डरते हैं। पाँच वर्ष के बाद ये बच्चे भूत-प्रेत, मृत्यु, एकांत, मुर्दा, खोपड़ी, दैवी घटनाओं से अधिक डरने लगे। प्रयोगात्मक प्रमाणों से यह सिद्ध हो चुका है कि पाँच वर्ष के बाद बच्चे राशि-भूत (Concrete) पदार्थों से कम डरते हैं, किन्तु काल्पनिक (Imaginary) स्थितियों से वे बहुत भयभीत होते हैं। हाँ, इस संबंध मे यह स्मरणीय है कि पाँच वर्ष के बाद, जैसा कि अभी ऊपर कहा गया है, कई नई परिस्थितियाँ उन्हें भयभीत कर देती हैं।

इन उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त बच्चों की रुग्णता (Illness) भय को उत्पन्न करती है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि रोगी और अस्वस्थ (Unhealthy) बच्चे साधारण सी घटनाओं से भी भयभीत हो जाते हैं। जिस परिस्थिति का ज्ञान उन्हे नही रहता उससे वे इसलिये भयभीत होते हैं कि उससे उन्हे किसी खतरे की सम्भावना रहती है। अंध-विश्वास के कारण भी कभी-कभी बच्चे भयाकुल हो जाते है। माता-पिता का दारुण व्यापार, असुरक्षित भाव (Feeling of insecurity) आदि भी भय उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बच्चों के भय में सम्बद्धता (Conditioning) का हाथ अधिक रहता है। यदि बच्चा किसी परिस्थिति विशेष से डरता है तो वह उन सभी चीजो से डरने लगता है जिनका कि सम्बंध उस परिस्थिति विशेष से किसी प्रकार का रहता

है। जो बच्चा बिल्ली से डरता है वह साहचर्य (Association) और सम्बद्धता के कारण सभी रोयेंदार जानवरों और पदार्थों से डरने लगता है। शिक्षण पर प्रकाश डालते हुये सम्बद्धता का वर्णन किया जा चुका है, इसलिये इसके विशेष वर्णन की यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। इस तरह से और भी कई अंग बच्चो में भय उत्पन्न करने में सहायक होते है जिनका उल्लेख यहाँ नहीं किया जायेगा।

अब प्रश्न है कि भय बच्चों में प्रकट क्योंकर होता है? यदि हम भयात्मक प्रतिक्रियाओं पर विचार करें तो मालूम होगा कि आरम्भ में बच्चे इसका प्रकाशन चिल्ला कर करते हैं। भय के समय उनमें रोने, काँपने दौड़ने, बड़ों से चिपकने, सिसकी भरने आदि के व्यापार देखने में आते हैं। जब उनकी अवस्था में वृद्धि होती है तब उनके भय प्रकाशन के ढंग में भी अंतर पड़ जाता है। बड़े होने पर भय के समय उनकी आँखे और मुँह खुल जाते हैं। साँस की गति तीव्र हो जाती है। बच्चा डर से कहीं छिप जाता है, धीरे-धीरे मन्द स्वर (Low Voice) से बोलता है, किन्तु इस सम्बंध में वाटसन का कहना है कि भय की आरम्भिक अवस्था में बच्चे अपनी आँखे बन्द कर लेते हैं, हाथो की मुट्ठियाँ बाँध लेते हैं और ओठों को दाँतो से दबा देते है, आदि। इसके अतिरिक्त भी अन्य कई प्रतिक्रयाओ द्वारा बच्चे अपने भय का प्रकाशन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचनो के बाद अब हमे यह देखना है कि इस संवेग का असर बच्चो पर कैसा पडता है। इसके प्रभाव को व्यक्त करते समय यह ध्यान में रखना जरूरी है कि कुछ अंशों से भय का होना उनके जीवन के लिये हितकर है। इसी के प्रसाद से वे अपने जीवन की रक्षा घातक परिस्थितियों से करने में समर्थ होते है, परन्तु निरंतर भय का शिकार बना रहना उनके लिये अत्यन्त हानिकारक सिद्ध होता है। वे अस्वस्थ हो जाते हैं। उनमे कायरता आ जाती है, इसलिये उनके व्यक्तित्व का विकास भी सुन्दर रूप से नहीं होता है। ऐसे बच्चे प्रायः जीवन मे असफल रहते हैं।

इन दुष्परिणामो को ध्यान में रखते हुये माता-पिता तथा शिक्षक को उचित है कि बच्चो को उन सभी परिस्थितियों से दूर रक्खें जो किसी प्रकार से भय उत्पन्न करने में सहायक होती हैं। बच्चे को स्वस्थ रखना और उसके साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करना बहुत जरूरी है। उन्हें स्वयं भी भय प्रदर्शित नहीं करना चाहिये क्योंकि यह संक्रामक (Cotagious) होता है। इसके अतिरिक्त भी उनमें उत्साह भरना और परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान

देना बहुत हितकर सिद्ध होता है। इन सब उपायों से बच्चे भय जैसे दारुण संवेग से वंचित रह सकते हैं। परन्तु, जो बच्चे किसी परिस्थिति विशेष से भयभीत होते हैं उनके लिये उपर्युक्त परिचर्या के साथ-साथ यह जरूरी है कि उनके भय को विभिन्न समुचित उपायों से दूर किया जाये। इसके पहले कि हम भय निराकरण (Elimination) विधियों का उल्लेख करें, यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि उपर्युक्त तीन संवेगों के अतिरिक्त आनन्द, दुःख, घृणा, ईर्ष्या आदि और भी कई संवेग हैं, किन्तु उनपर यहाँ प्रकाश नहीं डाल कर उन विधियों पर प्रकाश डालना ही विशेष हितकर होगा।

५. अवांछनीय संवेग-निराकरण पद्धतियाँ
(Methods of Eliminating Undesirable Emotions)

हम ऊपर देख चुके हैं कि बच्चों में हितकर (Useful) तथा हानिकर (Harmful) दोनों प्रकार के संवेगो का विकास परिपक्वता और सम्बद्धता के कारण होता है। हितकर संवेगो के निराकरण करने की तो कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु भय जैसे हानिकर संवेग का होना बच्चों के लिये उचित नहीं। इसलिये माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों का धर्म है कि बच्चों में अवांछनीय संवेगों को विकसित न होने दें। उनके निराकरण के लिये निम्नांकित पद्धतियाँ काम में लाई जाती हैं जिनका वर्णन हम संक्षिप्ततः करेंगे।

(१) **प्रत्यक्ष सम्बद्ध पद्धति** (Method of Direct Conditioning):—यह पद्धति भय जैसे हानिकर संवेग को विनष्ट करने में अत्यन्त लाभप्रद है। इसकी सब से बड़ी विशेषता यह है कि बच्चा जिस वस्तु विशेष से भयभीत होता है उसका सम्बन्ध साहचर्य के द्वारा किसी ऐसे पदार्थ से कर दिया जाता है जो बच्चे के लिये अत्यन्त प्रिय होता है। उस प्रिय पदार्थ से साहचर्य (Association) होने के कारण वह भयावह पदार्थ भी बच्चे के लिये कालक्रम में रुचिकर हो जाता है और उसके प्रति बच्चे में जो भय की भावना रहती है वह निर्मूल हो जाती है। एक बच्चा जो खरगोश से बहुत डरता था उसे टेबुल पर बैठा कर भोजन दिया गया। जब वह भोजन कर रहा था उस समय उसके सामने खरगोश को लाया गया। बच्चा उसे सशंकित होकर देखता रहा और भोजन भी करता रहा। इसी तरह कई दिन तक होता रहा और जब वह इस परिस्थिति से पूर्णतः अभियोजित हो गया तब क्रमशः खरगोश को उसके सन्निकट खाने के समय

कर दिया जाता था। अंत में वह खरगोश उसके भोजन के करीब कर दिया गया, किन्तु बच्चा विरक्त (Indifferent) ही रहा और भविष्य में जब खाते समय खरगोश उसके निकट लाया गया तब वह अपने हाथों से उसे थपकियाँ दे कर पुचकारने लगा। कहने का अभिप्राय यह है कि जो बच्चा पहले उपर्युक्त निर्दोष (Harmless) जानवर से डरता था वही उससे खेलने-कूदने लगा। इसका एकमात्र कारण यही था कि उस जानवर का साहचर्य भोजन से प्रस्थापित हो गया और परिणामतः उसका भय भी नष्ट हो गया। यदि हम विचार करें तो हमें मालूम होगा कि इसका प्रयोग हम लोग अपने बच्चों के भय को छुड़ाने के लिये नित्यप्रति करते हैं। परन्तु इस विधि से डर को हटाने के लिये हमें यह नही भूलना चाहिये कि यह जितनी लाभप्रद है उतनी ही इसके प्रयोग के लिये दक्षता की भी आवश्यकता है। अंशमात्र की भूल से कभी-कभी ऐसा होता है कि बच्चा जिस वस्तु से रुचि रखता हो उसका सम्बन्ध भयद (Fearful) वस्तु के साथ होने के कारण उससे भी भयभीत होने लगता है और बीमार पड़ जाता है। अतएव इस विधि को काम मे लाने के लिये यह आवश्यक है कि हम लोग सावधानी एवं धैर्य से काम लें अन्यथा लाभ के बदले हानि की सम्भावना रहती है।

(२) सामाजिक उत्तेजना-पद्धति (Social Stimulus method):—यदि बच्चा अकारण किसी पदार्थ से भयभीत होता है तब कई स्थलों पर उसके भय का उन्मूलन सामाजिक उत्तेजना-पद्धति से किया जाता है। यह पद्धति बहुत ही सरल है, क्योंकि इसके लिये किसी प्रकार की विशेष तैयारी की जरूरत नहीं पड़ती। बच्चे को ऐसी परिस्थिति में रक्खा जाता है जहाँ उसके समवयस्क बच्चे तथा अन्य प्रौढ़ व्यक्ति भी मौजूद रहते हैं। जब बच्चा यह देखता है कि जिस वस्तु विशेष से वह डरता है उससे अन्य बच्चे या सयाने नही डरते हैं तब उसको आश्चर्य होता है। इस कौतूहल के चलते उसमें आत्म-प्रकाशन (Self assertion) के भाव का आविर्भाव होता है जिसके फलस्वरूप वह भी उससे नहीं डरता है। सामाजिक उत्तेजना उस में इस प्रकार का उत्साह भर देती है कि वह किसी प्रकार की भयावह वस्तु से नहीं डरता है। यह विधि हम लोगों के जीवन में भी देखने मे आती है। बहुत से लोग अन्धकारमय स्थान मे निर्भीकतापूर्वक इसीलिये चले जाते हैं कि अन्य समवयस्क भी वैसा ही करते हैं। किन्तु, इससे हर तरह का भय निर्मूल नहीं होता, क्योंकि कई स्थलों पर हम लोग किसी ध्येय विशेष से डरना शुरू कर देते हैं। ऐसे स्थलो के लिये यह विधि उपयोगी सिद्ध नही

होती, किन्तु बच्चों के भय के उन्मूलन के लिये यह बहुत ही सरल पद्धति है।

(३) निषेधात्मक अभियोजन पद्धति (Method of negative adaptation):—यह पद्धति भय को दूर करने के लिये दो तरह से काम में लाई जाती है। बच्चे को माता-पिता तथा अन्य संरक्षक जबतक सहायता देते हैं तब तक वह सहायता के लिये इच्छुक रहता है। किन्तु, जब उसे कोई सहायता देनेवाला नहीं रह जाता है तब वह जिस परिस्थिति मे रहता है उसी में अभियोजित हो जाता है। अन्धकारमय स्थान से बच्चे उसी समय तक डरते हैं जब तक कि वे यह समझते हैं कि उनका कोई सहायक है। किन्तु जब उन्हें यह विश्वास हो जाता है कि उनकी सहायता करने वाला कोई नहीं है तब वे अंधकार में डरना छोड़ देते हैं। इसलिये बच्चे के भय को दूर करने के लिये यह एक सुन्दर तरीका है कि उसे उसी परिस्थिति में अकेले रख दिया जाये जिससे की वह डरता है। ऐसा करने से उसका डर स्वतः खतम हो जायेगा। उपर्युक्त विधि परिणाम-नियम (Law of effect) पर निर्धारित है।

निषेधात्मक अभियोजन (Negative adaptation) की दूसरी विधि यह है कि बच्चा जिस जानवर अथवा परिस्थिति विशेष से डरता है उसी को बार बार उसके सामने उपस्थित किया जाता है। इस तरह करने से वह वस्तु अथवा परिस्थिति विशेष परिचित हो जाती है और उसका भय चला जाता है। एक बच्चे पर, जो विलायती चूहे से डरता था, इस विधि से प्रयोग करने पर देखा गया कि वह उस चूहे से पूर्णतः विरक्त हो गया और कुछ भी भयभीत नहीं होता था। वस्तुतः यह विधि भय को भगाने के लिये बहुत ही लाभप्रद सिद्ध होती है, किंतु इसको अपनाने के लिये बहुत बुद्धिमानी से काम लेना पड़ता है।

(४) ध्यानभंग-पद्धति (Method of Distraction):—बच्चा जिस चीज अथवा जानवर से डरता है और यदि हम यह चाहते हैं कि वह उससे न डरे तब हमें उस डरने वाले पदार्थ के निकट ऐसी उत्तेजनाओं को उपस्थित करना चाहिये जो बच्चे के ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट कर सकें। यदि बच्चा बिल्ली से डरता है तो जिस समय उसके सामने बिल्ली रहे उस समय उसको सुन्दर सुन्दर खिलौनों को देना चाहिये ताकि वह अपने खिलौनो में ही व्यस्त रहे और बिल्ली की परवाह न करे। प्रायः इस विधि का प्रयोग सभी माताएँ अपने बच्चों के लालन-पालन में नित्यप्रति करती हैं। शाब्दिक (Verbal) ध्यानभंग भी इस मे सहा-

यक होता है, किन्तु इस सम्बन्ध में यह कहना बहुत कठिन है कि किस अंश तक बच्चा इस विधि से निर्भीक हो सकता है, क्योंकि यह बच्चे की प्रवृत्ति पर भी निर्भर करता है। यदि प्रयोक्ता की सामर्थ्य (Capacity) से बच्चे का विश्वास अधिक है तब तो इस विधि की उपयोगिता निस्संदेह बढ़ जायेगी अन्यथा पूर्ण सफलता नहीं मिल सकती। इसके लिये प्रभावशाली (Effective) ध्यानभंग तथा प्रयोक्ता (Experimenter) दोनों आवश्यक हैं। भले इस विधि से स्थायी रूप से भय अपहरित न हो, किंतु कुछ काल के लिये तो अवश्य ही हो जाता है।

(५) मौखिक अपील-पद्धति (Method of verbal appeal):—कुछ लोगो का दृष्टिकोण है कि बच्चा जिस चीज से डरता है उसके संबंध में यदि तरह-तरह की कहानियाँ सुना कर बच्चे का कौतूहल उसके प्रति जागरित कर दें तो उससे उसका भय खतम हो जाता है। इसीलिये कितने माता-पिता अपने बच्चों को भूत-प्रेत, अंधकार आदि, जिनसे वे डरते हैं, की कहानियाँ सुना कर उनकी अभिरुचि उनमें उत्पन्न करते हैं। परिणामतः बच्चों का जो भय उन चीजों के प्रति रहता है वह रफूचक्कर हो जाता है, किन्तु इस विधि से सब को सफलता नहीं मिलती। कई एक किये गये प्रयोगो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिन उत्तेजनाओं से बच्चे डरते थे एक सप्ताह तक इस विधि का प्रयोग करने पर भी उसी भाँति उन से डरते रहे। परन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह पद्धति भय भगाने के लिये निरर्थक है, क्योकि बहुत से स्थलों पर ऐसा करने से करने वाले को आशातीत सफलता मिलती है।

(६) दमन-पद्धति (Method of Repression):—ऐसा अक्सर देखने मे आता है कि यदि कोई बुरी आदत किसी बच्चे में पड़ जाती है तो सयानों तथा अन्य बच्चों के लजवाने तथा हँसने से वह आदत छूट जाती है। इसलिये कुछ लोग अपने बच्चों के किसी प्रकार के भय को दूर करने के लिये बच्चे की हँसी उड़ाते हैं और बच्चा ऐसी परिस्थिति से छुटकारा पाने के लिये डरना छोड़ देता है और जहाँ डरने वाली चीज अथवा परिस्थिति उपस्थित हो जाती है वहाँ निर्भीक बन जाता है। यद्यपि इससे कहीं कहीं सफलता मिलती है, परन्तु यह पद्धति वस्तुतः हानिप्रद है, क्योंकि मखौल करने से बच्चे के भय मे और तीव्रता आने का डर रहता है या उसमें हीन-भाव (Feeling of Inferiority) की प्रबलता हो जाती है जो उसके जीवन के लिये बहुत घातक सिद्ध होती है। अतएव

इस पद्धति को काम में लाने के लिये बुद्धिमान व्यक्तियों की ही आवश्यकता है, अपटु लोगों की नहीं।

(७) अनभ्यास निराकरण-पद्धति (Method of Disuse):— बहुत से माता-पिता और अन्य संरक्षक बच्चों के भय को हटाने के लिए अनभ्यास पद्धति का प्रयोग करते हैं। बच्चा जिस चीज से डरता है उसी को उससे बहुत दिनों के लिये अलग कर देते हैं और जब बहुत दिनो के बाद वह चीज पुनः उसके सामने आती है तब वह उससे नहीं डरता है। किन्तु, यह विधि उसी समय लाभप्रद सिद्ध होती है जब बच्चा और डरने वाले पदार्थ के बीच बहुत दिनों का व्यवधान पड़ता है, अन्यथा नहीं। यहाँ पर प्रश्न हो सकता है कि व्यवधान के कारण बच्चा मौलिक उत्तेजना से निर्भीक क्यों हो जाता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि परिपक्वता और अनुभव के कारण बच्चा उस पदार्थ से नहीं डरता है जिससे कि पहले डरता था। ऐसा करने से कुछ साल के लिये बच्चा उस चीज से अवश्य ही नहीं डरता है, किन्तु इस विधि को विशेष उपयोगी बनाने के लिये बच्चे की परिस्थिति में परिवर्तन कर देना नितांत आवश्यक है। ऐसा परिवर्तन बच्चे की मनोवृत्ति (Attitude) में परिवर्तन ला देता है जिसके फलस्वरूप बच्चा जिस चीज से पहले डरता था उससे बाद में नहीं डरता है।

उपर्युक्त निराकरण पद्धतियो का संक्षेप रूप में वर्णन करने के बाद यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि जिस प्रकार भय संवेग इन पद्धतियों से दूर किया जा सकता है उसी प्रकार अन्य अवांछित संवेगो का भी निराकरण इनके द्वारा हो सकता है। किन्तु, इन पद्धतियों की उपयोगिता वातावरण, बच्चेकी बुद्धि, स्वास्थ्य तथा संवेग प्रबलता आदि पर भी निर्भर करती है। यों तो सामाजिक उत्तेजना और प्रत्यक्ष सम्बद्धता की विधियाँ विशेष उपयोगी सिद्ध हुई हैं, किन्तु अन्य पद्धतियाँ एक दूसरे के सहयोग से ऐसे संवेगों के निराकरण में सहायक होती हैं।

६. संवेगात्मक नियंत्रण और स्थिरता

(Emotional Control & Emotional Stability)

हम संवेग के स्वरूप आदि के सम्बन्ध में अब तक कहते आये हैं। यत्र-तत्र यह भी व्यक्त किया गया है कि बच्चों के संवेगात्मक विकास में माता-पिता और अन्य संरक्षक क्योकर सहायक हो सकते हैं। यहाँ हम यह व्यक्त करने का प्रयास करेंगे कि बच्चों में संवेगात्मक संतुलन (Balance) और

नियंत्रण कैसे लाया जा सकता है। किन्तु, इसके पहले कि हम उन उपायों का उल्लेख करें यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि संवेगात्मक संतुलन का क्या अभिप्राय है। यदि हम इस पर गम्भीरतया विचार करें तो मालूम होगा कि जिस व्यक्ति में संवेगात्मक स्थिरता (Emotional Stability) और परिपक्वता (Maturity) रहती है वह अपने संवेगों का प्रकाशन परिस्थिति और आयु के अनुरूप करता है। यदि कोई वयोवृद्ध बच्चों-सा व्यवहार करे और उसी को ध्यान आकर्षण का साधन (Attention getting mechanism) बनावे तो उसमें संवेगात्मक परिपक्वता कदापि नही है। संवेग-स्थिरता और परिपक्वता के ही कारण कोई अपने संवेगों का नियंत्रण कर सकता है।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि बच्चो के संवेगों का नियंत्रण संरक्षक क्योंकर कर सकते हैं और उनमें संवेगात्मक स्थिरता कैसे आ सकती है? यदि इस प्रश्न के उत्तर पर विचार किया जाये तो मालूम होगा कि माता-पिता अथवा अन्य संरक्षक बच्चों के संवेग को प्रत्यक्षतया न तो नियंत्रित कर सकते हैं और न उनमें स्थिरता ही ला सकते हैं, क्योकि संवेगों का सम्बन्ध बच्चों से रहता है, माता-पिता या अन्य व्यक्तियों से नहीं। तब अभिभावको का क्या हाथ रहता है? हाँ, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों के व्यवहार का उनके संवेगात्मक जीवन पर बहुत अधिक असर पड़ता है। अतएव ये लोग अपने व्यवहार से ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर सकते हैं जिससे बच्चे अपने संवेग को नियंत्रित और स्थिर करने में समर्थ हो सकते हैं। जैसा कि हम लोग जानते हैं, संवेगों के आविर्भाव में मनोवृत्ति का बहुत बडा हाथ रहता है, क्योंकि उसी के अनुरूप संवेग भी आविर्भूत होते हैं। इसलिये संरक्षक अपने बच्चों की ऐसी मनोवृत्ति बना सकते है जिससे उनके संवेग नियंत्रित हो सकते हैं, और उनमें स्थिरता भी आ सकती है। यहाँ हम सवेगात्मक स्थिरता के लिये जो आवश्यक अंग ध्यान देने योग्य हैं उनका संक्षिप्ततः उल्लेख करेंगे। इन्ही के अभाव में संवेगात्मक अस्थिरता देखने में आती है।

(१) **स्वास्थ्य** :—संवेगात्मक स्थिरता और नियंत्रण के लिये स्वास्थ्य बहुत प्रमुख अंग है। जिस बच्चे को पुष्टिकर पदार्थ भोजन करने के लिये मिलते हैं उसका शरीर बहुत ही स्वस्थ रहता है, इसलिये उसकी मानसिक अवस्था भी स्वस्थ रहती है। उसके संवेगों का विकास नियमित और सुचारु रूप से होता है, इसलिये वह उनको नियंत्रित करने में सफल होता

है। जो लड़के या लड़कियाँ हट्टे-कट्टे होते हैं वे बहुत कम क्रोध, भय आदि जैसे घातक संवेगों के शिकार बनते हैं। जो बच्चे रुग्ण और अस्वस्थ होते हैं वे आसानी से इन संवेगों के शिकार बन जाते हैं। इस तरह हम देखते हैं कि संवेगो के समुचित विकास, नियंत्रण या स्थिरता के लिये शारीरिक स्वास्थ्य अत्यावश्यक अंग है।

(२) पर्याप्त उपयुक्त उपकरण :—जिस बच्चे को सभी प्रकार की आवश्यक सामग्रियाँ सुलभ रहती हैं उसमें अनायास संवेग व्यापार नहीं देखने में आता है। भोजन ही उसके लिये एकमात्र आवश्यक अंग नहीं है, बल्कि इसके अतिरिक्त भी और कई ऐसी चीजें हैं जिनकी आवश्यकता बाल्य जीवन में रहती है। खेलने के साधन, परिधान, आराम की सुविधा, आर्थिक सम्पन्नता आदि का महत्व संवेगात्मक विकास में कम नही है। जिसको इन सबकी सुविधा रहती है वह संतुष्ट रहता है और हीन-भाव से स्वतंत्र रहता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जिसको उपयुक्त आवश्यक साधनों की पर्याप्त सुविधा रहती है उसमें संवेगात्मक स्थिरता रहती है और वह अपने संवेगो का प्रकाशन भी समुचित रूप से करता है।

(३) सुरक्षित गृह-जीवन (Secured family Life):—बच्चे प्यार और अपने महत्व के भूखे रहते हैं। उनके जीवन में इन इच्छाओं की संतृप्ति उचित रूप से आवश्यक होती है। जो माता-पिता अपने बच्चों के प्रति आवश्यकतानुसार ही स्नेह प्रदर्शित करते हैं वे वस्तुतः बहुत बुद्धिमान होते हैं। आवश्यकता से अधिक या कम मात्रा में लालन-पालन बच्चों के संवेगों का विकास समुचित रूपेण नहीं होने देता। स्नेह पाने से बच्चो में आकुलता (Restlessness) और चिन्ता (Anxiety) का आविर्भाव नहीं होता, इसलिये जब उन्हें किसी प्रकार की निराशा (frustation) मिलती है तो वे अनुचित रूप से अपने संवेगो का प्रकाशन नही करते। किन्तु, जिन बच्चों का लालन-पालन समुचित रूप से नही होता उनकी प्यार और महत्व की लालसा की सन्तुष्टि नहीं होती और वे साधारण परिस्थितियो में भी संवेगात्मक प्रतिक्रियाएँ करते हैं। इसलिये समुचित संवेगात्मक विकास और स्थिरता के लिये सुरक्षित गृह-जीवन बहुत जरूरी है। जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, सुरक्षित गृहजीवन के लिये माता-पिता का समुचित व्यवहार बच्चो के प्रति निहायत जरूरी होता है, क्योंकि दोनों अभिलाषाओं की सन्तुष्टि उन्हीं से होती है।

(४) सामाजिक सुविधा :—आरम्भ में बच्चो को सामाजिकता का

ज्ञान नहीं रहता, इसलिये उन्हें यह नहीं मालूम रहता है कि समाज के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिये। किन्तु, जब उन्हें अपनी उम्र के बच्चों के साथ खेलने-कूदने का अवसर दिया जाता है तब उन्हें नए-नए अनुभव होते हैं। उन्हीं अनुभवों के प्रसाद से वे दूसरे बच्चों के अधिकार की इज्जत करना भी सीख जाते हैं। जबतक वे अपने अन्य साथियों के साथ खेलने-कूदने अथवा व्यवहार करने का मौका नहीं पाते तबतक वे अपने भाव और संवेगों का प्रदर्शन सामाजिक रूप से नहीं करते। सामाजिकता तो उनमें सामाजिक खेलों से आती है। समाज में रहनेवाला बच्चा अपने संवेगों में सन्तुलन लाने में समर्थ होता है, क्योंकि वह वहीं इस बात को अच्छी तरहसीख लेता है कि अमुक संवेग का किस प्रकार का प्रकाशन समाज मे विहित होगा। इस तरह हम देखते हैं कि सामाजिक जीवन से बच्चे में संवेगात्मक संतुलन आता है।

(५) संवेगात्मक परिस्थितियों का निरोध :—बच्चो का मन अत्यन्त कोमल होता है, इसलिये किसी प्रकार की घटना का असर उस पर अधिक पड़ता है। यदि ऐसी घटनाएँ घटित होती हैं जो उनकी क्षमता के अनुरूप होती हैं तब तो बच्चे आसानी से अपने को उनके प्रति अभयोजित कर लेते है, किन्तु यदि वे घटनाएँ उनके सामर्थ्य के बाहर होती हैं तब वे कई प्रकार के घातक अनुभवों के शिकार हो जाते है। स्वयं किसी भयावह जानवर के चंगुल में पड़ जाना, अपनी प्रिय वस्तु को नष्टप्राय होते देखना, किसी खतरे में पड़ जाना आदि ऐसी घटनाएँ हैं जो बच्चों को चिन्ताकुल बना देती हैं। माता-पिता का पारस्परिक संघर्ष, सामाजिक कलह आदि का भी प्रभाव बच्चों के मानस जीवन पर इतना बुरा पडता है कि वे भय, चिन्ता आदि जैसे घातक और अवांछित व्यवहारो का प्रदर्शन करने लगते हैं। इसलिये उनके संवेगात्मक सन्तुलन के लिये माता-पिता तथा अन्य संरक्षको को चाहिये कि वे यथासाध्य बच्चो को ऐसी उत्तेजना और संवेगात्मक परिस्थितियों से बचावें जिनसे भय, चिन्ता आदि के अंकुर न जम सकें।

(६) स्वप्रकाशन (Self-Expression) की सुविधा:—जिन बच्चो को अपने साथियो को चुनने, उनके साथ खेलने, अपने कपडे और खिलौनों को चुनने और गृह कार्यों मे हाथ बँटाने की समुचित सुविधा रहती है उनमें संवेगात्मक विकास समुचित रूप से होता है। इसलिये उनके संवेग में संतुलन और संयम रहता है, किन्तु जिन बच्चों को ये सब सुविधाएँ नहीं रहती उनमें संवेगात्मक सन्तुलन (Emotional-balance) का अभाव

रहता है। इसलिये ऐसे बच्चे साधारण परिस्थिति में पड़ने पर भी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का प्रदर्शन करते हैं। बच्चों के समुचित संवेगात्मक विकास के लिये स्वप्रकाशन और आत्मनिर्भरता (Self dependence) आवश्यक होती है। इसके पक्ष मे कई प्रकार के औपचारिक प्रमाण (Clinical-evidence) उपस्थित हैं। इसलिये माता-पिता को चाहिये कि बच्चों के इन कार्यों में अनावश्यक प्रतिबन्ध न लगावें।

(७) **उत्तेजक परिस्थितियों का ज्ञानः**—जिस प्रकार उपर्युक्त अंग बच्चों के संवेगात्मक नियंत्रण और संतुलन में सहायक होते हैं उसी प्रकार उत्तेजक परिस्थितियों और उत्तेजनाओं का सम्यक ज्ञान भी उनके संतुलन और समुचित विकास में सहायक होता है। बच्चे को जिस परिस्थिति या उत्तेजना से भय, क्रोध या लज्जा का भाव उत्पन्न होता है यदि उसके वास्तविक स्वरूप का दिग्दर्शन करा दिया जावे तो वह उस संवेग का शिकार नहीं बन सकता और अपने में आसानी से संवेगात्मक संतुलन ला सकता है। ऐसे कितने उदाहरण हम लोगों को अपने जीवन में मिलते हैं कि यदि बच्चे को यह समझा दिया जाता है कि अंधेरे से डरना व्यर्थ है क्योंकि उसमें कोई तत्व नहीं रहता तो पुनः वह अंधेरे में भयभीत नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि परिस्थिति अथवा उत्तेजना का सम्यक ज्ञान संवेगात्मक सन्तुलन के लिये अपेक्षित है।

ये जितने अंग व्यक्त किये गये हैं वे सभी बच्चों को संवेगात्मक विकास में समुचित सहयोग प्रदान करते है जिसके परिणामस्वरूप उनमे संवेगात्मक सन्तुलन देखने में आता है। इसलिये इन उपर्युक्त अंगों का अभाव ही बच्चों के संवेगात्मक असन्तुलन का कारण होता है जिससे आगे चल कर उनके जीवन में संवेगात्मक परिपक्वता का पूर्णतः अभाव रहता है।

७. संवेग-अध्ययन-पद्धतियाँ
(Methods of Studying Emotions)

प्रौढ़ व्यक्तियों के विभिन्न संवेगो की परीक्षा करने के लिये वर्तमान में कई मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। किन्तु, उन सभी पद्धतियों का व्यवहार बच्चों के संवेगो को जानने के लिये करना असम्भव है। हाँ, कुछ ऐसी विधियाँ हैं जिनसे बाल संवेग पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है और ऐसी आशा की जाती है कि सन्निकट भविष्य में इस दिशा में भी किसी प्रकार का अभाव नहीं रह जायेगा। हम यहाँ पर उन्हीं पद्धतियों पर संक्षिप्ततः

प्रकाश डालेंगे जिनका प्रयोग मनोवैज्ञानिक जगत में बाल संवेग की जानकारी करने के लिये होता है।

(१) भावभंगी तथा व्यवहार निरीक्षण-पद्धति (Method of Studying facial expression & overt behaviour):—बच्चों के संवेग को जानने के लिये मनोवैज्ञानिको ने उनकी विभिन्न भाव भंगियों का निरीक्षण करने की विधि प्रचलित की है। उनका कहना है कि बच्चे विभिन्न संवेगों का प्रकाशन विभिन्न व्यवहारों से करते है। इसकी प्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिये शल्ज प्रभृति कई विद्वानो ने बच्चों की विभिन्न अवस्थाओं को चित्रित करके अन्य लोगो से उनकी संवेगात्मक प्रतिक्रियाओं का निर्णय कराया है और उन्हे इसमे सफलता भी मिली है। किन्तु, शेरमन आदि ने जो प्रयोग इस सम्बन्ध में किया उससे यह स्पष्ट है कि यह पद्धति अत्यंत विश्वसनीय नहीं है, क्योंकि न्यायाधीशों (Judges) ने एक ही संवेगात्मक प्रतिक्रिया को कई नामों से अभिव्यक्त किया है। वस्तुतः कुछ अंशों में इस विधि से बच्चो के संवेगो का ज्ञान होता है, किंतु वह ज्ञान अधूरा कहा जायेगा, क्योंकि कई संवेगों का प्रकाशन एक ही भावभंगी से अथवा कई भावभंगियों से एक ही संवेग का प्रकाशन बच्चे करते हैं।

(२) वैद्युतिकत्वक प्रतिक्रिया-पद्धति (Method of psycho-galvanic Reflex):—शिशुओं के संवेग को जानने के लिये आजकल विद्युत यंत्रों का भी सहारा लिया जाता है। इनके द्वारा उनके संवेगो का ज्ञान बहुत ही अच्छी तरह होता है। सामान्यावस्था में चर्म अवरोध (Skin-resistance) में भी सामान्यता रहने के कारण एक नियमित रूप रहता है, किंतु संवेगावस्था में इस अवरोध मे शिथिलता आ जाती है। हम इस अवस्था को वैद्युतिकत्वक प्रतिक्रिया कह सकते हैं। सम्प्रति जिस यंत्र का प्रयोग प्रायः संवेग जानने के लिये होता है उसे अंग्रेजी भाषा में साइको-गालवेनोमीटर कहते हैं। वस्तुतः यह यंत्र बच्चों के संवेगो का पर्याप्त और प्रतिपन्न ज्ञान देता है। किंतु, सभी लोग इसका इस्तेमाल नहीं कर सकते, क्योंकि इसके प्रयोग द्वारा संवेग अध्ययन करने के लिये इसके कौशल्य विशेष हैं जिन्हें जानना आवश्यक है।

(३) आंतरिक परिवर्तन-निरीक्षण-पद्धति (Method of Internal observation):—शरीर के आंतरिक परिवर्तन का निरीक्षण करके बच्चों के संवेगों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इन आंतरिक परिवर्तनों में हृदयगति, नाड़ीगति, रक्तचाप (Blood pressure), रक्तसंचार

आदि का निरीक्षण आवश्यक रहता है। किन्तु, इन परिवर्तनों का अध्ययन हम साधारण तरीके से नहीं कर सकते, बल्कि इसके लिये भी यंत्रों का ही सहारा लेना श्रेयस्कर है। यों तो संवेग के समय साँस, हृदय, नाडी की गतियों, रक्तचाप तथा रक्तसंचार सभी में परिवर्तन होते हैं, किन्तु इन परिवर्तनों के आधार पर किसी संवेग विशेष को जानना बहुत कठिन है। कारण, एक ही तरह के परिवर्तन कई संवेगों में होते हैं। इसलिये इससे इतना ही मालूम हो सकता है कि शिशु संवेगावस्था में है या नहीं। यह कदापि निश्चिततया नहीं मालूम हो सकता कि वह किस संवेगावस्था में है।

(४) स्वतंत्र-साहचर्यात्मक पद्धति (Free Associative method):—जिन बच्चों में भाषा विकास पूर्ण रहता है उन्हीं पर यह पद्धति लागू की जाती है, क्योंकि इस पद्धति में संवेग का अध्ययन करने के लिये युंग, केण्टरोसनफ आदि मनोवैज्ञानिकों द्वारा कुछ निश्चित उत्तेजक शब्द निर्धारित किये गये हैं जिनका प्रतिक्रिया शब्द (Response word) बच्चो को देना पड़ता है। इस पद्धति से उनके सामान्य संवेगों पर प्रकाश नहीं पड़ता, बल्कि असामान्य संवेगात्मक अनुभवों पर ही प्रकाश पडता है। प्रयोक्ता जब किसी के संवेगात्मक अनुभव का अध्ययन करना चाहता है तब वह प्रत्येक उत्तेजक शब्द (Stimulus word) के प्रतिक्रियाकाल (Reaction Time), प्रतिक्रिया शब्द, मुखाकृति, प्रतिक्रिया की असफलता आदि विभिन्न अंगों को अंकित करता है। अधिक प्रतिक्रियाकाल, प्रतिक्रिया करने में असफलता, उत्तेजक शब्द को दुहराना, हँसना, अप्रासंगिक और आत्मगत (Subjective) प्रतिक्रिया शब्द आदि असामान्य संवेगात्मक अवस्था के सूचक हैं। इस विधि से बच्चों की संवेगात्मक असामान्यता पर विशेष प्रकाश पड़ता है। वर्तमान में यह विधि कई स्थलो पर काम में लाई जाती है। कभी-कभी इसके साथ-साथ अन्य यन्त्रों का भी प्रयोग होता है।

(५) प्रश्नमाला-पद्धति (Questionnaire method):—बड़े बालकों के संवेग को जानने के लिये विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रश्नावलियो का निर्माण किया है जिनमें उडवर्थ का नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय है। प्रश्नों का उत्तर बच्चों को देना पड़ता है और तब उन उत्तरों के आधार पर उनके संवेगात्मक जीवन का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यद्यपि यह पद्धति बहुत अंशों में लाभप्रद है किन्तु, इसका भी प्रयोग उन्हीं बच्चों पर हो सकता है जिनमे भाषा का विकास पूर्णरूपेण हो चुका है।

(६) प्रेसी X–O पद्धतिः—कई मनोवैज्ञानिकों ने, जिनमें प्रेसी का नाम अत्यन्त महत्वपूर्ण है, कई प्रकार के वाक्यों का निर्माण किया है जिनमे विभिन्न संवेगों के द्योतक शब्द वर्तमान हैं। उन शब्दों को बच्चों के सम्मुख रख दिया जाता है और उन्हें उन शब्दों को जिनमें उनकी अभिरुचि रहती है अथवा जिन्हें वे नहीं चाहते हैं काटने का आदेश दिया जाता है। परिस्थिति और प्रसंगवश निर्देशों मे भिन्नता आ सकती है। जब वे आदेश का पूर्णतः परिपालन कर लेते हैं तब उन्हीं कटे हुये शब्दो के आधार पर उनके संवेगों को जाना जाता है। यह पद्धति भी आज कल विदेशों मे बहुत प्रचलित है किन्तु, इसका प्रयोग बड़े बच्चो पर ही होता है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बहुत से मनोवैज्ञानिक इसे और प्रश्नमाला दोनों पद्धतियों को स्वयं कथन पद्धति के नाम से अभिव्यक्त करते हैं, किन्तु हमने यहाँ दोनों को अलग-अलग किया है, क्योंकि दोनों पद्धतियों में कुछ भिन्नता है। इसे हम गुणा-वृत्त विधि भी कहें तो अनुचित नही होगा।

इसी प्रकार और भी कई ऐसी विधियाँ हों जो बालकों के संवेग के अध्ययन के काम मे लाई जाती हैं, किन्तु उन सब का उल्लेख करना यहाँ असम्भव है। उन में से कुछ पद्धतियों का वर्णन व्यक्तित्व विकास में स्थल विशेष पर किया जायेगा।

८. संवेग का बाल्य-जीवन में महत्व

बालकों के जीवन मे संवेगों का क्या स्थान है, इसका उल्लेख यत्र तत्र संवेग विशेषों पर प्रकाश डालते समय हुआ है। इसलिये हम यहाँ इसके महत्व का संक्षिप्ततः उल्लेख करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

यदि हम इस पर विचार करें तो मालूम होगा कि इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों मे मतभेद है, किन्तु यथार्थतः इसका प्रभाव अच्छा और बुरा दोनो पड़ता है। जितने भी संवेग हैं उन सब की छाप व्यक्तित्व निर्धारण में अधिक पड़ती है। यों तो सभी बाल्य जीवन के लिये आवश्यक हैं, किन्तु सभी समय और सभी परिस्थितियों मे नहीं, बल्कि समय और परिस्थिति विशेष में ही। सभी लोग जानते है कि क्रोध और भय के संवेगों का प्रभाव बच्चों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है और बच्चा आगे चल कर कापुरुष और क्रोधी बन जाता है और समाज से भी तिरस्कृत हो जाता है, किन्तु भय और क्रोध का महत्व कम नहीं है। ये ही ऐसे संवेग हैं जिन में बच्चा अपने को सामान्यावस्था से अधिक सक्रिय और शक्तिशाली पाता है और परिणामतः भयावह और घातक परिस्थिति से भाग कर अपने

जीवन की रक्षा करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐसे संवेगों से कम लाभ नहीं होता, परन्तु इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि सभी अवस्थाओं में ऐसे संवेग वांछनीय फल देंगे। यदि वस्तुतः बच्चा क्रोध या भय की अवस्था में बराबर रहे तो वह अपने जीवन में कुछ भी नहीं कर सकता और न समाज ही उसके व्यक्तित्व से प्रभावित हो सकता है। इसलिये अभिभावकों को चाहिये कि वे ऐसी परिस्थिति उपस्थित करें जिसमें बच्चे अपने संवेगो का प्रकाशन समुचित रूप से करें।

प्रेम, विह्वलता, प्रसन्नता आदि संवेग जीवन के लिये बहुत हितकर होते हैं। जिस प्रकार क्रोध, अथवा भय के कारण पाचन-क्रियाएँ अवरुद्ध हो जाती हैं उसी प्रकार इन संवेगों में एक ऐसा रस निकलता है जो मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद होता है। इसके अतिरिक्त भी ये संवेग व्यक्तित्व-विकास में अत्यधिक सहायक होते हैं। ऐसे बच्चे को सभी लोग स्नेह की दृष्टि से देखते हैं। वे बहुत सामाजिक होते हैं और उनका व्यक्तित्व भी आसानी से विकसित होता है। वस्तुतः संवेगों का हाथ व्यक्तित्व विकास में बहुत रहता है। अतएव माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों को बुद्धिमानी से काम लेना चाहिये ताकि बच्चे अपने संवेगों का समुचित प्रकाशन और नियंत्रण करना सीख सकें।

छठाँ अध्याय

सामाजिक विकास

१. विषय-प्रवेश

बालकों के लिये सामाजिक विकास अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि उनके भावी जीवन की सफलता (Success) या असफलता (Failure) इसी पर निर्भर करती है। यदि हम उनके प्रारम्भ पर दृष्टिपात करें तो मालूम होगा कि जब वे उत्पन्न होते हैं उस समय उनमें सामाजिकता (Sociability) की गंध तक नही रहती, लेकिन इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वे आरम्भ में असामाजिक (Anti-Social) रहते हैं। जन्म के समय न तो हम उन्हें सामाजिक कह सकते है और न असामाजिक, क्योंकि जब वे उत्पन्न होते हैं तो उनकी अवस्था (Condition) इस तरह की रहती है कि उन्हें उचित-अनुचित या भले-बुरे का कुछ भी ज्ञान नही रहता। हाँ, उनमें सभी प्रकार की क्रियाओ की शक्तियाँ सुषुप्तावस्था मे पड़ी रहती हैं और जो क्रियाएँ उनमें देखी जाती हैं वे बहुत सीमित रहती हैं।

जैसा कि हम लोग जानते हैं मानव बच्चों को अपनी रक्षा और पोपण के लिये बहुत दिन तक अपने माँ-बाप अथवा अन्य लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है, क्योकि वे अपने लिये कुछ करने में पूर्णतः असमर्थ रहते हैं। ऐसी अवस्था अन्य जानवरों के बच्चों की नही रहती। बहुतसे जानवर तो ऐसे होते है कि ज्यों ही उनके बच्चे उत्पन्न होते हैं त्यो ही वे अपने खाने-पीने का काम स्वयं करने लगते हैं। हॉ, कुछ पशु-पक्षी ऐसे हैं जिनके बच्चे दस पॉच दिन या इससे अधिक अपने पालन-पोषण के लिये अपने माता-पिता पर निर्भर रहते हैं। किन्तु, हम लोगों के बच्चों के साथ ऐसी वात नहीं है। उन्हें तो वर्षों अपने माता-पिता पर या अन्य संरक्षकों पर अपने पालन-पोपण के लिये पूर्णतः अवलम्बित रहना पड़ता है।

परन्तु बच्चे को कुछ ही दिनों में यह ज्ञान हो जाता है कि वह बहुत से लोगों के मध्य में है, इसलिये वह अपनी माता अथवा धाय के प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ करना शुरू कर देता है। यद्यपि बच्चे की प्रारम्भिक सामाजिक प्रतिक्रियाएँ बहुत साधारण तथा सयानों के लिये निरर्थक होती है, किन्तु

कालान्तर में वे ही प्रतिक्रियाएँ विषम एवं सार्थक हो जाती हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बच्चों के सामाजिक विकास (Social Development) में माता का विशेष हाथ रहता है, क्योंकि जब वह अपने बच्चे को खिलाती-पिलाती या सुलाती है तो सिर्फ उसकी शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति मात्र नहीं करती, बल्कि उसे और प्रतिक्रियाओं के लिये उत्तेजित तथा प्रोत्साहित करती है। इसलिये कुछ मनोवैज्ञानिकों का सिद्धान्त है कि बच्चों के सामाजिक विकास की आधारशिला उनकी शारीरिक आवश्यकताएँ (Physical needs) हैं, क्योंकि उनकी प्रारम्भिक प्रतिक्रियाएँ शारीरिक आवश्यकताओं की परिपूर्ति के ही लिए होती हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, माता के प्रत्येक व्यवहार का असर बच्चे के व्यवहार पर इतना गहरा पड़ता है कि वह उसके जीवन का अंग बन जाता है और उसी के अनुसार उसका व्यक्तित्व विकास (Personality development) भी होता है।

यहाँ यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि बच्चा जितने अधिक प्रकार के अनुभवों के बीच रहता है और जितनी अधिक योग्यता उसमें रहती है उतना परिपूर्ण तथा सुन्दर उसका सामाजिक विकास भी होता है। अतः बच्चे के सामाजिक विकास को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसके पारिवारिक तथा पाठशालीय अवस्थाओं आदि को भी जानें तभी हम भावी सामाजिक विकास मे सहायक हो सकेंगे, अन्यथा नही। अब हम बच्चे के सामाजिक विकास पर क्रमशः संक्षिप्त रूपेण प्रकाश डालेंगे।

२. सामाजिक विकास

(१) प्रथम वर्षीय सामाजिक प्रतिक्रियाएँ (Social responses in the first year of life):—जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके हैं, नवजात शिशु में कोई भी सामाजिक प्रतिक्रिया नहीं होती। लेकिन, कुछ ऐसे माता-पिता हैं जो बच्चे की स्वाभाविक प्रतिक्रिया को भी सामाजिक प्रतिक्रिया समझते है, परन्तु उनका यह भ्रम मात्र है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि बच्चे की प्रारम्भिक सामाजिक प्रतिक्रियाओं का निश्चयात्मक रूप से वर्णन करना कठिन है, लेकिन यहाँ हम लोग पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों के प्रयोगात्मक परिणामो के आधार पर उनके सामाजिक विकास पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

बच्चा अपने जीवन के प्रथम माह मे अपनी परिस्थिति में विद्यमान उत्तेजनाओं मे से बहुत कम उत्तेजनाओं के प्रति अपनी प्रतिक्रिया

प्रदर्शित करता है, क्योंकि उस समय उसमें न ज्ञान-शक्ति विकसित रहती है और न तो शारीरिक शक्ति ही पर्याप्त मात्रा में रहती है। किन्तु, ज्यो-ज्यो उसकी उम्र में वृद्धि होती जाती है त्यो-त्यों उसकी प्रतिक्रियाओ की संख्या भी बढती जाती है और उन उत्तेजनाओ की भी संख्या बढती जाती है जिनके प्रति वह अपनी प्रतिक्रियाओ को करता है। कहने का सारांश यह है कि ज्यो-ज्यो उसकी उम्र बढती जाती है त्यो-त्यो उसकी दुनिया का दायरा बढ़ता जाता है। बुहलर ने जो प्रयोग बच्चो पर किया था उससे यह स्पष्ट है कि बच्चा पहले या दूसरे महीने में अन्य बच्चो की परवाह नही करता, किन्तु उसकी अभिरुचि अपने खिलौने मे प्रतीत होती है। यदि वह खिलौना उसके हाथ में दे दिया जाय तो सम्भवतः वह उसे कुछ समय तक पकड़े भी रह सकता है। किन्तु, खिलौने मे उसकी अभि-रुचि दो महीने के अन्त मे देखी जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस प्रकार इस उम्र का बच्चा अन्य बच्चो की ओर से अपनी लापरवाही दिख-लाता है उस प्रकार की प्रतिक्रिया सयानो के प्रति वह नहीं करता। जो लोग उसकी सेवा-शुश्रूषा करते हैं उनकी चेतना उसे अत्यधिक रहती है। इस अवस्था में जब कोई बच्चे की ओर देखता है तो वह मुस्कुरा देता है और स्पर्श करने पर बहुत ही शान्त चित्त हो जाता है।

दो से तीन महीने का बच्चा सयानों को देखकर मुस्कुराने की क्रिया करता है और जब कोई ऐसा सयाना व्यक्ति जो उसकी सेवा में तल्लीन रहता है, उसे छोड़कर चल देता है तब वह रोने लगता है। जब उसके पास कोई जाता है तो ऐसा देखने में आता है जैसे किसी ने उसके काम में किसी प्रकार की खलबली डाली हो। तीन महीने के अन्त में ऐसा भी देखने मे आता है कि जब उसके सामने जमीन पर कोई खिलौना रख दिया जाता है तब उसका ध्यान उस ओर स्वतः चला जाता है।

जब उसके निकट किसी की छाया मालूम होती है अथवा जब वह किसी तरह का शब्द सुनता है तब वह अपना ध्यान उसी ओर लगा देता है। इसी-लिए वह उधर ही देखने लगता है। किसी के स्पर्श करने या अन्य प्रकार से उत्तेजित करने पर वह मुस्कुराता है, किन्तु वह मुस्कुराना सयाने के मुस्कु-राने के फलस्वरूप नही कहा जा सकता, क्योंकि उस समय उसमे क्रोधान्वित शब्द (Angry voice) तथा प्रहसन मे भेद समझने की क्षमता नही रहती। इसीलिए वह पुचकारने, डाँटने और हँसने आदि सभी के फलस्वरूप मुस्कुराता ही है। लेकिन, कुछ ऐसे बच्चे भी देखने में आते हैं जो सयानो के

सना करने का अर्थ समझ जाते हैं या उसके भाव-भंगी (Facial Expression) को समझ जाते है। कहने का आशय यह है कि शुरू में बच्चों मे धनात्मक (Positive) प्रतिक्रियाएँ ही होती है, निषेधात्मक नहीं। ऐसी निषेधात्मक (Negative) प्रतिक्रियाएँ तो कालक्रम में होने लगती हैं।

चार-पाँच महीने की अवस्था का बच्चा दूसरे बच्चों को ध्यानपूर्वक देखता है या उसे देखकर प्रसन्न भी होता है। इसीलिए उसके मुखमण्डल पर मुस्कुराहट रहती है। उसमें इस समय तक इतनी शक्ति आ जाती है कि वह दूसरे को मुस्कुराता हुआ देखकर मुस्कुरा देता है या डाँटने पर रोने लगता है। इतना ही नही, बल्कि यह भी देखने मे आता है कि जब उसे कोई पुचकारता या सहलाता है तब वह बहुत शान्त हो जाता है और अधिक लोगो के होने पर बेचैन (Restless) सा लगता है।

छः-सात महीने का बच्चा अपने मुँह को हाथो से खेलने के लिए छिपाता है। जब कोई उसका हाथ पकड़ता है या उसके मुँह पर हाथ रखता है तब वह हँसने लगता है। कभी-कभी किसी के हाथ को पकड़कर वह बैठने की कोशिश करता है और यदि उसे कुछ सहारा मिल जाता है तो कुछ सेकेण्ड या मिनट के लिए बैठ भी जाता है। इस अवस्था में वह एक ही खिलौने से बहुत देर तक खेलता है और जब कभी उसे बिछौने पर सुलाकर पुचकारा जाता है तब वह खिलखिलाने लगता है।

आठ, नौ और दस महीने का बच्चा कुछ उच्चारण करने लगता है और ऐसा मालूम होता है कि इस समय उसमें उन ध्वनियों के अनुकरण की शक्ति विद्यमान रहती है। इस उम्र का लड़का बड़ो का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए चिल्लाता है। वह अपने हाथों को फैलाता और पुनरुक्ति (Babbling) करता है। नौ महीने का बच्चा अपने शरीर को घुमा-फिरा कर या दूसरो का कपड़ा खीचकर उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करता है। दसवें महीने में वह अपना खिलौना बड़ों को देकर उनके साथ खेलने की कोशिश करता है। जहाँ तक समवयस्क बच्चो का सम्बन्ध है वह उनके साथ पुनरुक्ति द्वारा बोलने की कोशिश करता है या उनके कामों की नकल करता है और अपना खिलौना भी दूसरे बच्चों को दे देता है।

ग्यारहवें और बारहवें महीने के बच्चे में नवीन प्रतिक्रियाओं का विशेषतः आविर्भाव नहीं देखा जाता, लेकिन ऐसा देखने में आता है कि दस महीने के बाद बच्चा दूसरे बच्चों का कपडा खींचता, नोचता अथवा अपने खिलौने की रक्षा करता है। इससे अधिक उसकी प्रतिक्रियाओं में अधिकता नहीं देखी

जाती। यहाँ यह स्मरणीय है कि बच्चों के सामाजिक व्यवहार में व्यक्तिगत भेद पड़ता है, किन्तु उपर्युक्त वर्णित प्रतिक्रियाएँ अधिकांश सामान्य बच्चों में पायी जाती हैं। इसके बाद उनमें अन्य सामाजिक प्रतिक्रियाओं का आविर्भाव उनकी शिक्षा तथा उम्र आदि के अनुसार होता है, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा।

बारहवें से चौदहवें महीने के जब दो बच्चे एक साथ रख दिये जाते हैं तब उनमें किसी प्रकार का सामाजिक व्यवहार देखने में नहीं आता, क्योंकि इस उम्र के बच्चे अपने उम्र के अन्य बच्चों की अपेक्षा अपने खिलौने पर विशेष ध्यान देते हैं। इस अवस्था के बाद उनमें सामाजिक व्यवहार अधिकतर देखने में आता है और दो वर्ष के निकट अवस्था के बच्चों में लड़ने-झगड़ने आदि व्यवहारों की अपेक्षा सहयोग (Co-operation) एवं मैत्रीपूर्ण व्यवहारों का ही प्रदर्शन होता है।

बच्चा अपनी रुचि किसी बच्चे विशेष में भी दिखलाता है। इस उम्र के बच्चे में अपने खिलौने से बढ़कर अपने समवयस्क साथियों में अभिरुचि रहती है। अब बच्चे में खिलौने के लिए लड़ने-झगड़ने की प्रवृत्ति में भी कमी आ जाती है और उसके स्थान में सहयोग वृत्ति अपना स्थान जमा लेती है। दो वर्ष की अवस्था होते-होते उसमें यह वृत्ति अत्यधिक हो जाती है और परिणामतः सभी बच्चे एक-दूसरे के सहयोग के लिए तैयार रहते हैं और साथ-साथ खेलते-कूदते हैं। इस सम्बन्ध में मार्गन द्वारा वर्णित प्रयोग परिणाम का आशय व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

छः महीने से लेकर पच्चीस महीने तक की विभिन्न अवस्थाओं के बच्चे दो-दो के जोड़े में रखे गये। चार महीने तक उन बच्चों को कोई खिलौना नहीं दिया गया। इसके बाद उन दोनों को एक-एक घन (Cube) दे दिया गया और एक उन दोनों के बीच में रख दिया गया। इस अवस्था में वे चार मिनट तक रखे गये। जिसके बाद उन दोनों से घन ले लिये गये और उनमें प्रत्येक को एक-एक घण्टी दे दी गयी। जब पुनः चार मिनट व्यतीत हो गया तो घण्टी ले ली गयी और उनके बीच में एक ढोल रखकर दोनों को एक छड़ी दे दी गयी। जब इस अवस्था में चार मिनट व्यतीत हो गये तो ढोल को अलग कर दिया गया और छड़ियाँ ले ली गयी। जिसके बाद उनमें से एक को गेंद पकड़ा दिया गया। यहाँ यह भी उल्लेख कर देना आवश्यक है कि गेंद देने के पहले उसका इस्तेमाल कैसे होगा, यह बच्चों को दिखला दिया गया था।

इस प्रयोग की विभिन्न अवस्थाओं तथा विभिन्न अवस्था के बच्चों की प्रतिक्रियाओं का अवलोकन करने से यही ज्ञात हुआ कि छः से आठ महीने का बच्चा न तो दूसरे बच्चे की ओर ध्यान देता है और न उसके खिलौने की ही ओर। कहने का आशय यह कि वह दूसरे बच्चे या उसके खिलौने से पूर्णतः विरक्त (Indifferent) रहता है। नौ से तेरह महीने का बच्चा खिलौना में अपनी अभिरुचि पहले की अपेक्षा अत्यधिक दिखलाता है। लेकिन, इसका यह मतलब नहीं कि वह अपने दूसरे साथी की ओर आकृष्ट होता है। इस समय भी वह उससे विरक्त ही रहता है। यदि बच्चा उसके खिलौने प्राप्ति में कभी घातक सिद्ध होता है तो उससे लड़ाई भी कर लेता है। परन्तु, इस संघर्ष को किसी विद्वेषी भावना का द्योतक नही समझना चाहिये, क्योंकि इस अवस्था के दो बच्चों में संघर्ष वैर-भाव के कारण नहीं, बल्कि उस खिलौने की अभिरुचि के कारण होता है। चौदह से अठारह महीने के बच्चों में एक दूसरे के प्रति मैत्रीभाव अंकुरित हो जाता है क्योंकि यह उनके लिये परिवर्त्तन का समय रहता है। पच्चीस महीने की अवस्था में वस्तुतः दो समवयस्क बच्चो मे पूर्ण सहयोग और मैत्री हो जाती है।

(२) पूर्व पाठशालीय (pre-school) बच्चे का सामाजिक विकासः—दो वर्ष से लेकर पाँच वर्ष की अवस्था को हम पूर्व पाठशालीय अवस्था कह सकते हैं, क्योंकि यह अवस्था हमारे देश में घर पर व्यतीत होती है, किन्तु पाश्चात्य देशों मे यह अवस्था किंडर-गार्टन और नर्सरी स्कूल की होती है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं दो वर्ष तक बच्चा अधिकांश आत्मकेन्द्रित (Ego Centric) रहता है। इस कारण वह अन्य व्यक्तियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करना चाहता है, किंतु दो से पाँच वर्ष की उम्र तक वच्चो का सामाजिक विकास अत्यधिक मात्रा में तिव्रगति से होता है। इसीलिए उसका दृष्टिकोण समाज के प्रति प्रशस्त हो जाता है। मर्फी के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि इस समय बच्चा सामुदायिक होना पसन्द करता है और अपने साथी के प्रति सहानुभूति (Sympathy) रखता है। इस अवस्था मे कुछ वच्चे विना आक्रामक (Agres'sive) हुए ही सहानुभूति दिखलाने की कोशिश करते हैं। उनमे लड़ने-झगड़ने की भावना भी विद्यमान रहती है। परन्तु, जेरसिल्ड प्रभृति विद्वानो द्वारा नर्सरी स्कूल के वच्चो पर किये गये प्रयोगो से यह स्पष्ट है कि यदि इन बच्चों को खेलने की पर्याप्त सुविधा दी जाय तो उनकी आक्रमक प्रवृत्ति या लड़ने-झगड़ने की भावना मे कमी आ सकती हैं। जिन वच्चों मे इन प्रवृत्तियों को पाया गया,

वस्तुतः उनके नर्सरी स्कूल ऐसे स्थलों पर थे जहाँ उनके खेलने की सुविधा प्रर्याप्त मात्रा में नहीं थी। यही सभी देशों के बच्चों के लिये सत्य समझना श्रेयस्कर है।

मर्फी तथा न्यूकाम्ब का विभिन्न प्रयोगो के आधार पर यही विचार है कि दो से पॉच वर्ष के बच्चो मे विभिन्न प्रकार के सामाजिक व्यवहारो का आविर्भाव होता है। इस समय के बच्चे आज्ञाकारी (Obedient) होते हैं। इसलिये किसी आज्ञा का पालन वे बहुत विनम्रता के साथ करते हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, उन्हे सामाजिक जीवन प्रिय मालूम पड़ता है। इसलिये जब दो वर्ष से तीन वर्ष के बच्चे को घर में खेलने का साथी नहीं मिलता है तो वह अपने घर से बाहर निकल कर किसी दूसरे घर मे साथी खोजने के लिये चला जाता है। यदि संयोगवश उसे कोई नहीं मिलता है तो वह पुनः घर में आकर रोने लगता है और छोटी-छोटी चीजों को तोड़ने-फोड़ने लगता है। किन्तु, इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इस अवस्था में बच्चा अधिक बच्चो के समुदाय मे नही रहना चाहता। उसके लिये एक ही साथी पर्याप्त रहता है। यही कारण है कि ऐसे दो बच्चों को हमलोग इधर-उधर घूमते, मिट्टी का घर बनाते, ईंटो की रेलगाड़ी बनाते आदि खेलो में संलग्न देखते हैं। ढाई से तीन वर्ष के बच्चे प्रायः अपने संरक्षकों की आज्ञा का उलंघन (Disobey) करते और अपनी जिद्द पर अड़ जाते हैं, क्योकि इस समय प्रतिरोध (Resistence) एवं निषेधात्मक प्रतिक्रियाओ का बाहुल्य रहता है। परन्तु, ज्यो-ज्यो उनका अनुभव विवृद्ध होता है त्यो-त्यों ऐसी प्रतिक्रियाओ मे न्यूनता आने लगती है। तीन से चार वर्ष की अवस्था के बच्चों मे आत्मकेन्द्रित होने के भाव में बहुत कमी आ जाती है और मैत्री एवं सामूहिक भावो (Group feeling) की प्रबलता रहती है। इसलिये इस अवस्था के बच्चे कई बच्चो के समुदाय में सामूहिक खेलो को खेलते हुए पाये जाते हैं। इसी अवस्था में उनमे दूसरो के अधिकार की इज्जत करने की भावना जागरित होती है। वे धीरे-धीरे अन्य सामाजिक कामों में भी सहयोग देने लगते हैं। इस समय वे सामाजिक नियमों का अधिकांश प्रतिपालन करते हैं क्योकि सामाजिक व्यवस्था के प्रति उत्तरदायित्व का कुछ ज्ञान उन्हें हो जाता है। कुछ बच्चे तो इस समय दूसरों के दुःख से दुःखीऔर सुख से सुखी होते हुए भी पाये जाते हैं। अब बच्चा इस योग्य हो जाता है कि अपनी चीज को अपना समझने लगता है, इसलिये जब कोई उससे कोई खेलने या अन्य काम की चीज मॉगने लगता है तब वह यह सोचने

लगता है कि उसे देना उचित है या नहीं। यहाँ यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इन सामाजिक व्यवहारों का विकास खेलनेवाले अन्य साथियो के साथ में ही होता है। इस विकास के धनात्मक तथा निषेधात्मक दोनों पहलू साथ-साथ विद्यमान रहते हैं।

चार से पाँच वर्ष के बच्चे की हँसने, रोने और चिल्लाने की क्रियायें बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती है, क्योंकि इनसे सामाजिक विकास के अध्ययन में बहुत सहायता मिलती है। किंडर गार्टन और नर्सरी स्कूल के बच्चे उस बाल-संसार के सदस्य रहते हैं जहाँ सभी बच्चे समवयस्क रहते हैं। ये बच्चे कभी एक और कभी-कभी दो मित्र बना लेते हैं, किन्तु उनकी मैत्री बडी क्षण-भंगुर (Temporary) होती है, यद्यपि इसका अपवाद (Exception) भी होता है। इन बच्चों में चार वर्ष की अवस्था में अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये होड़ (Competition) भी लग जाती है। ये बच्चे सयानो के साथ निम्नांकित तीन क्रमो में रहते हैं। पहली अवस्था मे बच्चे सयानो पर पूर्णतः निर्भर रहने के कारण निष्क्रिय रहते हैं। दूसरी अवस्था जो ढाई तीन वर्ष के लगभग आती है, उनमें बच्चे अधिकतर स्वतंत्रता एवं शक्ति के अभिलषित रहते हैं। इसलिये अपने सभी व्यवहारो को विहित करने की कोशिश करते हैं। अन्तिम या तीसरी अवस्था में बच्चे अपने में आत्म-विश्वास (Self-confidence) एवं सहयोग का प्रदर्शन करते हैं, किन्तु इन सभी व्यवहारो से व्यक्तिगत अन्तर पडता है और बाद में उनकी शिक्षा एवं वातावरण पर उनका सम्पूर्ण विकास निर्भर करता है।

(३) मध्यकालीन सामाजिक विकास (Social Development in the middle period of Children):—पाँच से ग्यारह वर्ष की अवस्था को जो हमारे देश मे प्राइमरी कक्षा तक की होती है हम मध्यकालीन अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्था के लड़के पाठशाला जाना प्रारम्भ कर देते हैं। उनमें भाषा और शारीरिक विकास इतना हो जाता है कि वे खेलों में होड़ लगाने के इच्छुक हो जाते है और अपने सभी भावों को भाषा द्वारा व्यक्त करते हैं। सामूहिक खेल (Group play) और सामूहिक जीवन (Group life) में ही उनका समय व्यतीत होता है। अब उनका क्षेत्र सीमित न रहकर विस्तृत हो जाता है और पाठशालीय वातावरण मे वे अपने को अभियोजित करना सीख जाते हैं। उनके संवेगात्मक अनुभव पहले के समान तीव्र नही होते। वे माता पिता पर अधिकांश निर्भर नहीं

करते और न तो उनके अनावश्यक (Unnecesary) दुलार को ही चाहते है। सात वर्ष के बाद या उसके लगभग के बच्चे बडो से स्पष्टतया बातें नही करते, क्योकि वे उनसे अलग रहना ही पसन्द करते हैं। पाठशालीय विद्यार्थी कभी-कभी अपने शिक्षको का विरोध करते हुए भी देखे जाते है। जैसे-जैसे उम्र बढती जाती है, वैसे-वैसे उनमे समुदाय में रहने के भाव मे प्रबलता आने लगती है और परिणामतः सामूहिक खेलो और कार्यों मे उनकी दिलचस्पी अत्यधिक बढ जाती है। बच्चो मे मैत्री स्थायी रूप धारण करने लगती है जो इस काल के बाद और भी घनिष्ठ हो जाती है। इस प्रकार की मैत्री के उदाहरणो की कमी व्यावहारिक जीवन में नही है। स्पर्धा (Competition) तथा प्रतिद्वन्दिता (Rivalry) इस अवस्था की खास विशेषताएँ हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि इस अवस्था के बच्चों में लिंग चेतना (Sex consciousness) अत्यधिक रहती है, इसलिये लडके लडको के झुण्ड मे और लडकियाँ लडकियो के झुण्ड मे रहती हैं। इसी अवस्था की विशेषताओं के द्योतक बालचर, बालिका निर्देशिका आदि संस्थाएँ हैं। इस समय के बच्चो के लिये ये संस्थाएँ बहुत हितकर सिद्ध हो रही हैं।

(४) अन्तिम अवस्था का सामाजिक विकास :—इस अवस्था में हम १२ वर्ष से लेकर सत्रह वर्ष के व्यवधान को रख सकते हैं, जो हमारे देश मे मिडिल कक्षा से लेकर आगे की होती है। जैसा कि हम ऊपर व्यक्त कर चुके है, बच्चों की उम्र ज्यों-ज्यो बढती जाती है त्यों-त्यो वे बडे से बड़े समुदाय में रहना पसंद करते हैं। यही कारण है कि वे बालचर, बालिका निर्देशिका आदि संस्थाओ में भाग लेते है। अब उनका सम्बन्ध पारिवारिक वातावरण या गॉव के वातावरण से ही नही रहता, बल्कि उसका दायरा और भी बढ जाता है। बहुत से बच्चे उच्चांग्ल विद्यालयों (High English Schools) तथा महाविद्यालयों (Colleges) में शिक्षा के लिये प्रवेश कर जाते हैं। उच्च माध्यम (High Standard) की पुस्तकों का अध्ययन करने से अनुभव के साथ समाज ज्ञान भी बढता है। क्रमशः वे अनेक संस्थाओ (Societies) और क्लबो के सदस्य बन जाते हैं और उनकी सामाजिकता में उन्नति होने लगती है। चलचित्र (Cinema) तथा रेडियो आदि यन्त्रो की सहायता से उनका समाज परिवार, गॉव, प्रान्त, देश आदि की सीमा का अतिक्रमण कर विश्व से हो जाता है और उसी के अनुरूप उनमें अभियोजन क्षमता भी आती है। हॉ, तेरह वर्ष से सत्रह वर्ष के बच्चे कभी-कभी एकांतवास (Loneliness) भी पसन्द करते हैं, किन्तु इससे

यह नहीं समझना चाहिये कि इससे उनके सामाजिक विकास की सीमा अत्यन्त सीमित रह जाती है। ऐसा प्रायः सभी लड़के और लड़कियों के सम्बन्ध मे घटता है, परन्तु इसका कारण अधिकांशतः संवेगात्मक रहता है जिसके कई कारण होते हैं। अब हम बच्चों के कुछ प्रमुख सामाजिक व्यवहारों पर संक्षिप्त रूपेण प्रकाश डालेंगे।

३. सामाजिकता (Sociability) और नेतृत्व (Leadership)

जन्म के कुछ दिन बाद कुछ बच्चों में नेतृत्व के गुण देखे जाते है। जब दो बच्चे खेलने के लिये एक साथ रख दिये जाते हैं तो उनमे से एक दूसरे पर अपना अधिकार जमा लेता है और दूसरा पहले का अनुयायी (Follower) बन जाता है। आरम्भ मे, बच्चा नेता बन सके इसके लिये यह आवश्यक है कि वह अन्य बच्चों से अधिक बलवान हो ताकि सबको अपने बल से अपने अधिकार मे कर ले। इसलिये जब कुछ बच्चे समान अवस्था के एक परिस्थिति मे रख दिये जाते हैं तो उनमे से जो सबसे बलिष्ठ रहता है और दूसरों को मारता-पीटता है वही उनका नेता बन जाता है। अन्य बच्चे उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं। जिस बच्चे का सम्बन्ध जितने अधिक बच्चा से रहता है वह उतना ही सफल नेता बनता है। अतएव बचपन मे नेतृत्व का, सम्पर्क-विस्तार एक विशेष गुण है। इस सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि इस काल का नेतृत्व टिकाऊ नही होता, क्योंकि इसका आधार शारीरिक बल रहता है।

अवस्था के साथ-साथ नेता के गुण में भी परिवर्तन होता रहता है। प्रारम्भ में बच्चा दो चार बच्चों के समुदाय का नेता रहता है। बाद मे जैसे-जैसे उसका सम्पर्क-विस्तार बढता जाता है वैसे-वैसे उसके अनुयायियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। जब वह एक बड़े समूह में प्रवेश करता है तब नेता होने के लिये यह आवश्यक है कि वह अपने अन्य साथियो की योग्यता और रुचि को जान सके। उसमे संगठन-शक्ति (Organizing Capacity) अत्यावश्यक हो जाती है। जो बच्चा शरीर का हृष्ट-पुष्ट रहता है तथा अन्य लड़को से बुद्धिमान रहता है वही नेता का काम करता है, क्योंकि उसमें कल्पना-शक्ति और संगठन-शक्ति अन्य बच्चों की अपेक्षा अधिक रहती है। जो बच्चा खेलने मे दक्ष रहता है वह इस अवस्था का बहुत सुन्दर नेता होता है और अन्य सभी बच्चे उसके इस गुण के कारण अपना अधिनायक (Leader) समझते हैं। यद्यपि नेता के लिये बुद्धि का होना आवश्यक है, किन्तु इसके साथ-साथ शारीरिक शक्ति, लगन (Persistence),

खेलचातुर्य आदि गुणों का होना भी जरूरी है। बुद्धि के प्रसाद से बच्चा अपने समूह के बच्चों की रुचि को जानने में समर्थ होता है, किन्तु अन्य गुणों के कारण वह अन्य बच्चो को हमेशा अपने अधिकार मे रखता है। यही कारण है कि कुछ बच्चे बुद्धिमान होते हुए भी नेता नही बनते, क्योकि उनमे शारीरिक-विकास, संगठन-शक्ति, खेल-प्रवीणता आदि गुणों का अभाव रहता है।

४. बच्चों में स्वत्वभाव

बच्चों में स्वत्वभाव (Feeling of Ownness) आरम्भ से ही दिखलायी पड़ता है, इसलिये जब वे कई बच्चो के साथ रहते है तो खेलने की चीज को लेने की कोशिश करते हैं। जब माता या अन्य कोई व्यक्ति खिलौना, मिठाई या अन्य कोई चीज बाँटता है तो उनकी यही कोशिश रहती है कि सम्पूर्ण या अधिकांश उन्ही को मिल जाय। इसलिये कुछ ऐसे बच्चे दिखलायी पड़ते हैं जो अन्य बच्चो को कोई चीज नही देने देते और दे देने पर जमीन पर लोट कर रोने और चिल्लाने लगते है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि खिलौने या किसी स्थान विशेष पर या आसन बैठने के लिये उनमे विवाद अथवा झगड़ा हो जाता है। लोअर और प्राइमरी पाठशालाओ मे बच्चे जमीन पर बैठने या किसी चटाई विशेष पर बैठने के लिये आपस मे लडाई झगड़ा कर लेते हैं और अध्यापक के यहाँ दरखास्त देते हैं। एक बच्चा अपना अधिकार पहले से बैठे रहने के कारण बतलाता है। उपर्युक्त सामाजिक व्यवहार स्वत्वभाव के परिचायक हैं। किस प्रकार का स्वत्वभाव हितकर या अहितकर है, इसका ज्ञान शिक्षा और अनुभव के कारण होता है। अतएव माता-पिता और शिक्षको का परम कर्त्तव्य है कि वे बच्चो को इस दिशा में समुचित शिक्षा दें।

५. बच्चों में शक्ति-प्रदर्शन (Self-Assertion)

शक्ति को व्यक्त करने का भी भाव बच्चों में देखा जाता है। यदि हम लोग उनके खेलो पर ध्यान दें तो उनके इस भाव की सत्यता स्पष्ट हो जायगी। जब बच्चा दूसरे बच्चे, सयाने या अन्य किसी व्यक्ति के कन्धे या पीठ पर सवारी करता है तो वह इसीका दिग्दर्शन करता है। अक्सर ऐसा देखने मे आता है कि बच्चे किसी ऊँचे स्थान पर बैठ कर दूसरो को सम्बोधित कर अपने इस व्यवहार को दिखलाते है। उनके दिखलाने का एक मात्र ध्येय यही रहता है कि वे इतने शक्तिशाली है कि इतनी ऊँचाई पर चढ़ सकते है। जब बच्चे की किसी क्रिया मे कोई सयाना विघ्न डालता है तब बच्चा

जमीन पर लोट कर या रोकर इसी शक्ति का प्रदर्शन करता है, किन्तु पाठकों को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि शक्ति-प्रदर्शन और आक्रामक वृत्ति (Aggressiveness) एक नहीं है। बच्चों में आक्रामकवृत्ति का प्रदर्शन हीन-भाव (Feeling of Inferiority) के कारण होता है। ऐसा व्यवहार बच्चे उसी समय करते हैं जब वे अपने को अरक्षित (Iusecured) समझते हैं। परन्तु शक्ति प्रदर्शन बच्चों में उस समय होता है जब उनमें आत्मविश्वास रहता है और जब वे अपने को सुरक्षित समझते हैं। एक ही चीज के लिए दो बच्चे जब आपस में संघर्ष करते हैं तब हमे आक्रामक वृत्ति का उदाहरण मिलता है। इसी प्रकार स्पर्धा, विरोध आदि के व्यवहार भी बच्चों मे विद्यमान रहते हैं और कालक्रम मे विकसित होते हैं। परन्तु, उनपर हम यहाँ प्रकाश नहीं डालेंगे। इतना इस संबंध में व्यक्त कर देना आवश्यक है कि सामाजिक विकास बच्चों का अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। इसलिये माता-पिता, शिक्षक तथा अन्य संरक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों के सामाजिक विकास को समुचित बनाने के लिये उनको उचित शिक्षा एवं अवसर दें।

६. सामाजिक विकास के विभिन्न अंग

(Different factors of Social Development)

अब तक हम सामाजिक विकास के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते आये हैं, परन्तु यहाँ हमें देखना है कि इस विकास को प्रभावित करनेवाले कौन-कौन से अंग हैं और उनका असर क्योंकर पड़ता है। हम यहाँ उन्हीं अंगों का बहुत ही संक्षेप में वर्णन करेंगे जिनका हाथ सामाजिस विकास में अत्यधिक रहता है।

(क) स्वास्थ्य तथा मनोरंजन (Health & Recreation):—सामाजिक विकास में स्वास्थ्य तथा मनोरंजन का हाथ अत्यधिक रहता है। प्रायः सभी बच्चे एक दूसरे के साथ खेलने के इच्छुक होते है। इसलिये वे ऐसे ही बच्चों को अपने खेलने के साथी बनाते हैं जो उन्हीं के समान खेल सकें। इस कारण वे उन बच्चों के साथ नहीं खेलते जो अस्वस्थता के कारण अच्छी तरह नहीं खेल सकते। वे रोगी बच्चे अपनी असमर्थता को शीघ्र ही जान जाते है और परिणामतः वे हीन-भाव से पीड़ित रहने के कारण अपने को पूर्णतः असुरक्षित समझते है। इस अभाव का भाव उनमें इतना प्रबल हो जाता है कि वे स्वयं किसी बच्चे के साथ खेलने की

हिम्मत नहीं करते और सदा वे अपने को बालसमाज से अलग रखते हैं। समाज से अलग रखने के कारण उन बच्चो का सामाजिक विकास उचित-रूप से नही होता। उनमे डरने की आदत हो जाती है। ऐसे बच्चो में आत्मविश्वास भी नही रहता। जिस तरह अस्वस्थ बच्चों का सामाजिक विकास उचित रूप से नही होता। उसी प्रकार कुरूप (Ugly) तथा असामान्य बच्चो का भी सामाजिक विकास अच्छी तरह नही होता, क्योंकि उनमे अपनी कुरूपता एवं असामान्यता के कारण हीन भाव प्रबल हो जाता है जो उन्हे समाज से हमेशा अलग रखता है। परिणामतः उनमें समाजोपयोगी गुणो का आविर्भाव नही होता।

आनन्द मनोरंजन विश्राम का भी महत्व समाजिक विकास मे कम नहीं है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, बच्चों के यथार्थ सामाजिक व्यवहारो का विकास उनके अन्य खेलनेवाले साथियो के साथ होता है। इसलिये जिन बच्चो को खेलने-कूदने की सुविधा पर्याप्त मात्रा में मिलती है उनमें सामाजिकता का विकास भी सुन्दर रूप से होता है, किन्तु जिनको खेलने-कूदने या अन्य प्रकार के मनोरंजन का अवसर नही मिलता उनमें विभिन्न प्रकार के असामाजिक (Anti-Social) व्यवहारो का अविर्भाव होता है। कई मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के करने से यह स्पष्ट हो गया है कि जिन बच्चो को मनोरंजन की सुविधा नहीं रहती वे अपराधी बच्चे बन जाते हैं और ऐसे ही कार्यों मे अपना समय वे व्यतीत करते हैं। खेल तथा अन्य प्रकार के मनोरंजन के ही बदौलत बच्चे अपने में आत्मनिर्भरता (Self-dependence), आत्मविश्वास, पुरुषार्थ, अध्यवसाय आदि सामाजिक गुणो का बीजारोपण तथा विकास करते हैं। इसलिये विदेशो में माता-पिता तथा बच्चे हमेशा साथ-साथ खेलते हैं, किन्तु उन दोनो के मनोरंजन के साधन विल्कुल भिन्न रहते हैं। माता-पिता को बच्चे को जहाॅ उत्साह और निर्देश देने की आवश्यकता प्रतीत होती है वहाॅ झट से उनकी सहायता के लिये मौजूद हो जाते हैं। इस अंग को इतना महत्व दिया गया है कि विदेशो मे ऐसे नगर बहुत से हैं जहाॅ बच्चों के लिये सर्वकालीन मनोरंजन का सुन्दरतम प्रबन्ध किया गया है। भारतवर्ष में भी कुछ शिक्षित व्यक्तियों के प्रयास से बालको के मनोरंजन का यत्र-तत्र प्रबन्ध हुआ है और हो भी रहा है। किन्तु, उन प्रबन्धो को हम सर्वांग सुन्दर नहीं कह सकते। अभी ऐसा नही हुआ है कि बच्चे वर्षा, धूप या जाडा—किसी समय अपने मनोरंजन में रत हो सकें, किन्तु ऐसी आशा की जाती है

कि इस देश मे भी जगह-जगह बाल-मनोरंजन का प्रबन्ध शीघ्र ही हो जायगा।

इस अंग के महत्व को ध्यान मे रखते हुए सभी माता-पिता तथा शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य है कि वे अपने बालकों के खेलने-कूदने, मनोरंजन के अन्य साधनो तथा स्वास्थ्य का पूर्णरूपेण समुचित प्रबन्ध करें तभी उनके बच्चो का सामाजिक विकास सुन्दर रूप से हो सकेगा।

(ख) पारिवारिक वातावरणः—आरम्भ में बच्चे का वातावरण माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोगों तक ही सीमित रहता है, इसलिए उसके सामाजिक विकास पर सर्वप्रथम माता-पिता के व्यवहार का असर पड़ता है। बच्चा शुरू मे अपनी माता से ही पहले पहल यह सीखता है कि उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए और कैसा नहीं करना चाहिए। बच्चे और माता-पिता के बीच कई प्रकार के सम्बन्ध होते हैं। कुछ माता-पिता ऐसे होते हैं जो अपने बच्चो को आवश्यकता से अधिक लाड़-प्यार करते हैं और अनावश्यक सहायता करते है, ऐसे बच्चे कदापि अपने को समाज में सुन्दर रूप से अभियोजित करने में समर्थ नहीं होते हैं। वे बराबर निर्भर (Dependent) बने रह जाते है और उनमें आत्मविश्वास का अभाव रहने से अरक्षित (Insecurity) एवं हीन भाव समाज के सम्मुख होने पर विकसित हो जाता है। कालान्तर मे वे तरह-तरह के ऐसे व्यवहारों का प्रदर्शन करते हैं जो समाज के प्रतिकूल होते हैं।

दूसरे प्रकार का सम्बन्ध माता-पिता और बच्चे में तिरस्कारमय होता है। माता-पिता अपने बच्चे को पूर्णतः तिरस्कृत (Neglect) कर देते हैं और अनावश्यक डाँटते-डपटते रहते है। ऐसे बालकों की जीवन-लीला और भी दयनीय होती है। वे इस तथ्य को समझ जाते हैं कि वे तिरस्कृत है और उनका स्थान समाज में कुछ भी नहीं है। ऐसे बच्चों में अरक्षित एवं हीन भाव के कारण आशंका (Fear), असमर्थता आदि के भाव अंकुरित हो जाते हैं। परिणामतः जब वे बच्चे पारिवारिक सीमा को पार करके पाठशाला तथा खेल के मैदान में जाते हैं तो वे दूसरों से प्रेम एवं स्नेह की आशा करते हैं, परन्तु जब उन्हें वहाँ भी निराशा मिलती है तब वे समाज में ऐसे-ऐसे व्यवहारो का प्रदर्शन करते है जिन्हें समाज नीच दृष्टि से देखता है। ऐसे बच्चे प्रायः अपराधी (Delinquent) बन जाते हैं और परिणामतः उनका सामाजिक विकास कभी भी पूर्णरूपेण नहीं होता।

तीसरे प्रकार का सम्बन्ध माता-पिता तथा बच्चे में इस प्रकार का रहता

है कि उनमे से एक प्यार करता है और दूसरा घृणा और तिरस्कार करता है। इस परिस्थिति मे वच्चे की अवस्था वहुत ही नाजुक हो जाती है, क्योंकि वच्चा अपने को ऐसी दशा मे कभी सुरक्षित नही पाता है। माता-पिता में से ही एक व्यक्ति उसे नाना प्रकार की गलतियों को करने के लिये प्रोत्साहित करता है, बच्चा भी एक को प्रेम, और श्रद्धा की दृष्टि से देखता है तो दूसरे को अपना शत्रु और घातक समझता है। ऐसे व्यवहारो का असर उस पर इतना गहरा पड़ता है कि वच्चा कभी भी अपने को समाज के अनुरूप नही वना पाता है और फलतः अवांछनीय व्यवहारो से समाज के अन्य व्यक्तियों को भी वह असन्तुष्ट करता है।

चौथे प्रकार का सम्वन्ध माता-पिता और बच्चे में इस तरह का रहता है कि न माता-पिता बच्चे का तिरस्कार करते हैं और न तो आवश्यकता से अधिक उसे प्यार ही करते हैं। इसलिये ऐसी अवस्था मे बच्चे का सामाजिक विकास वहुत सुन्दर तरीके से होता है। जहाॅ उसको प्रोत्साहन की आवश्यकता रहती है वहाॅ वह प्रोत्साहन पाता है और जहाँ उसे दण्ड की आवश्यकता रहती है वहाँ उसे दण्ड मिलता है। ऐसी परिस्थिति में पला हुआ बच्चा एक आदर्श सामाजिक प्राणी होता है, क्योंकि उसके माता-पिता विभिन्न प्रकार के खेलों के द्वारा समाज के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान उसे करा देते हैं। उसमें पुरुपार्थ, आत्मविश्वास, नेतृत्व आदि गुणों का विकास बहुत अच्छे ढंग से होता है। जब घर मे नवागन्तुक (Strangers) आते हैं तो वच्चा को उनका अतिथि सत्कार करने के लिये सिखलाया जाता है या गृह सम्वन्धी समस्याओ मे भी वह अपना हाॅथ बटाता है। इस प्रकार वह बच्चा एक सुन्दर सामाजिक प्राणी बन जाता है। कभी-कभी ऐसा होता है कि माता-पिता मे ही किसी कारणवश निरंतर संघर्ष चला करता है जिसके कारण उन्हें बच्चे की देख-भाल के लिये समय नहीं मिलता और बच्चे का सामाजिक विकास ठीक से नहीं हो पाता है।

माता-पिता और बच्चे के इन सम्बन्धो के अतिरिक्त बच्चे के सामाजिक विकास पर उसके पारिवारिक स्थान का भी असर पड़ता है। यदि बच्चा अकेले रहता है और यदि माता-पिता बुद्धिमानी से काम नहीं लेते है तो वह बच्चा भी बिगड जाता है। यदि कई भाई-बहन रहते है और उसे सुन्दर शिक्षा नहीं मिलती है तव भी बच्चा बर्बाद हो जाता है। अतएव माता-पिता को चाहिये कि वे ऐसा व्यवहार न करें ताकि बच्चे का सामाजिक विकास अवरुद्ध हो जाय और वे बच्चे को ऐसी शिक्षा दें कि वह एक सुन्दर सामाजिक जीव बन सके।

(ग) सामाजिक व्यवस्था (Social order):—सामाजिक व्यवस्था जिस प्रकार की रहती है उसी प्रकार बच्चे का सामाजिक व्यवहार भी होता है। आरम्भ में ये प्रतिक्रियाएँ तो उतना असर नहीं डालतीं जितना कि उनका असर बाद में पड़ता है। समाज के रीति-रिवाज (Customs) धर्म, माध्यम (Standard), संस्कृति (Culture) आदि के अनुरूप ही बच्चे को किसी प्रकार की प्रतिक्रिया करने से लिए उत्तेजनाएँ मिलतीं हैं। उन्हीं प्रतिक्रियाओं का उसके जीवन में एक विशेष स्थान हो जाता है। इस प्रकार सामाजिक व्यवस्था का भी प्रभाव बच्चे के विकास पर पड़ता है।

(६) संघ, संस्था तथा अन्य सामूहिक परिस्थितियाँ:—जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं और उनके सामाजिक वातावरण का दायरा बढ़ जाता है तब वे पाठशाला, संघ तथा अन्य खेलनेवाले साथियों के सम्पर्क में जाते हैं। अब वे अपना संसार अलग बना लेते हैं और उनके जीवन का अधिकांश उन्हीं साथियों के साथ व्यतीत होता है। वहाँ वे उनके सम्पर्क मे तरह-तरह के सामाजिक व्यवहारों को सीखते है। वहीं पर उन्हे उचितानुचित अथवा नैतिकता (Morality) की शिक्षा भी मिलती है, यही उनका वह समाज है जहाँ उनमे सामाजिकता पूर्णतः विकसित होती है। प्रयोग करने पर देखा गया है कि जो बच्चे पाठशाला या अन्य संस्था अथवा संघ के सदस्य रहते है वे इन संस्थाओं मे न रहने वाले बालकों की अपेक्षा अपने को समाज मे सुन्दरतम अभियोजित करते हैं और उनमें अपराधियों की संख्या दूसरे प्रकार के बच्चों से बहुत ही कम रहती है। बालचर, बालिका निर्देशिका (Girl guide) आदि संस्थाओं से सामाजिक विकास में अत्यधिक मदद मिलती है। इसीलिये इनका प्रचार जगत के कोने-कोने में किया जा रहा है। प्रायः सामाजिक विकास के ये प्रमुख अंग हैं, जिनका प्रभाव उस पर पड़ता है। अन्य जो अंग हैं उन पर प्रकाश यहाँ नही डाला जायेगा, क्योंकि वे इतने प्रधान अंग नहीं हैं।

७. सामाजिक व्यवहार के अध्ययन की पद्धतियाँ

बच्चों के सामाजिक व्यवहार का अध्ययन कई रीतियों से किया जाता हैं, किन्तु यहाँ निम्नांकित प्रमुख पद्धतियों का संक्षिप्त वर्णन करके हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे। यहाँ इतना ध्यान में रखना आवश्यक है कि जितनी पद्धतियों का आविर्भाव हुआ है उनमे से एक पद्धति भी सर्वांग सुन्दर नहीं है, परन्तु यदि कई पद्धतियों का आश्रय लिया जाय तो परिणाम अत्यन्त महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

(१) विशिष्ट जीवन-वर्णन-पद्धति (Biographical Method)

बच्चो के सामाजिक व्यवहार के अध्ययन करने की यह वही पद्धति है जो बाल-मन के अन्य पहलुओ को जानने के काम मे लायी जाती है। माता-पिता तथा अन्य संरक्षक बच्चे का क्रमबद्ध जीवन वर्णन करते हैं और उसी के आधार पर वे या अन्य व्यक्ति जो सामाजिक विकास का अध्ययन करना चाहते हैं, उस जीवन वर्णन का अध्ययन करते हैं। यद्यपि यह पद्धति पूर्णरूपेण संतोषप्रद नहीं है, जैसा कि पहले अध्याय में इसके सम्बन्ध में कहा जा चुका है, लेकिन यदि इसका निर्माण करते समय बच्चे की प्रारम्भिक प्रतिक्रियाओ एवं अभिव्यंजित (Expresed) भावो पर विशेष ध्यान दिया जाय तो सामाजिक विकास को जानने के लिए यह बहुत सहायक पद्धति हो सकती है।

(२) प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)

अब बच्चो के सामाजिक विकास का अध्ययन करने के लिए प्रयोगात्मक पद्धति कुछ दिनों से काम में लायी जाती है। इसमे नियंत्रित परिस्थिति में बच्चो को रखकर उनके स्वाभाविक व्यवहारों का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यदि किसी कथन की सत्यता की जाँच करनी रहती है तब भी हम इसी पद्धति का आश्रय लेते हैं, किन्तु इस पद्धति के सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि बच्चो को इसका ज्ञान नही होना चाहिए, अन्यथा उनके व्यवहार की स्वाभाविकता समाप्त हो जाती है। इसके निर्णय जिस प्रकार अकाट्य एवं विश्वसनीय हो सकते हैं उससे कही अधिक कठिनाई इसको इस्तेमाल करने मे होती है। सभी लोग इस वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते। इसकी सफलता के लिए प्रयोक्ता को बहुत ही दक्ष तथा सावधान होने की जरूरत है।

(३) परीक्षण पद्धति (Testing method)

आजकल बच्चे के सामाजिक अभियोजन को जानने के लिये मनोवैज्ञानिको ने कई परीक्षणो का निर्माण किया है। रोजर महोदय का एक परीक्षण है जिसमे बच्चे से अपनी पाठशाला के उद्धत या विनम्र विद्यार्थी के विषय में सोचने को कहा जाता है जिसके बाद उससे तरह-तरह के प्रश्न किये जाते हैं। प्रश्न निम्नांकित तरह के होते हैः—

(१) क्या तुम उसको चाहते हो ?
(२) क्या उससे घृणा करते हो ?

(३) क्या उसके समान होना चाहते हो ?

(४) क्या उसका मित्र बनना चाहते हो ?

(५) क्या उससे डरते हो ? आदि।

ऐसे विभिन्न प्रश्नों का उत्तर जब बच्चा देता है तब प्रयोक्ता को उसके सामाजिक अभियोजन, दिवास्वप्न, हीन भाव आदि दोष-गुणों का ज्ञान संख्यात्मक (Quantitative) हो जाता है।

दूसरे परीक्षण में सामाजिक विकास के अध्ययन करने के लिए बच्चों को शब्द चित्र या मौखिक खाका दिखला कर उसको पढ़ाकर ऐसे लड़के या लड़कियों का नाम लिखने का आदेश दिया जाता है जो उनके अनुरूप हों। कभी-कभी शब्द चित्र बहुत विषम और कभी-कभी बहुत ही सरल होते हैं। निम्नांकित उदाहरणों से यह और भी स्पष्ट हो जायगा।

(१) यह लड़का बराबर अपने साथियों से लड़ता है।

(२) यह एक लड़की है जो अपने भाई को बहुत प्यार करती है।

(३) यह व्यक्ति अपने शिक्षकों का बहुत आदर करता है।

(४) यह बच्चा बहुत शरारती है।

(५) यह अपने साथियों को हँसाता है।

इसी प्रकार के विभिन्न शब्द चित्र देकर उसके अनुकूल बच्चे का नामकरण करने को कहा जाता है और इस तरह उसके विभिन्न सामाजिक पहलुओं को जाना जाता है। इस पद्धति का विदेशों में बोलबाला है ये और बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो रही है।

(४) मूल्यांकन पद्धति (Rating method)

इस पद्धति से बच्चों के सामाजिक व्यवहार की जानकारी के लिये प्रयोक्ता दो तीन बच्चों को ऐसी परिस्थिति में रखता है जहाँ वे अपनी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओं को करते हैं। वह ऐसे स्थान पर पर्दे की ओट में बैठा रहता है जहाँ से उसे उनके सभी व्यवहार दिखलायी पड़ते हैं, परन्तु बच्चों को उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं रहता। बहुत देर तक उनके व्यवहारों का निरीक्षण करने के बाद प्रयोक्ता उनका मूल्यांकन करता है। कभी-कभी एक ही परिस्थिति में कई प्रयोक्ता उनकी प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण करके मूल्यांकन करते हैं और बाद में एक दूसरे के साथ अपने मूल्यांकनों की तुलना करके किसी निश्चित निर्णय पर पहुँचते हैं। यद्यपि इस पद्धति में कुछ दोष स्वतः रह जाता है, किन्तु कई प्रयोक्ताओं के मूल्यांकन करने से अधिकांश सफलता ही मिलती है।

(५) अभिव्यंजित कौशल्य पद्धति (Expressive Technique) :—सामाजिकता का अध्ययन उन सभी परिस्थितियों में किया जा सकता है जिनमें कि बच्चे अपने स्वाभाविक व्यवहारों को करते हैं। इस रीति से बच्चों के सामाजिक व्यवहार को जानने के लिए उनके खेलों, वार्तालापों, चित्रकारियों आदि के साथ प्रदर्शित व्यवहारों को देखते हैं। जिस बच्चे का जैसा सामाजिक अभियोजन रहता है वह वैसा ही व्यवहार इन विभिन्न परिस्थितियों में करता है और उसके व्यवहार एवं सामाजिक अभियोजन का ज्ञान प्रयोगकर्त्ता को सरलतया हो जाता है। इस पद्धति में बहुत सावधानी एवं दक्षता की आवश्यकता है। प्रयोगकर्त्ता जितना अनुभवी रहता है उसका निर्णय उतना ही परिपक्व होता है।

(६) सामाजिक तथ्य अध्ययन विधि (Method of social climates) :—प्रयोगात्मक पद्धति के द्वारा किसी परिस्थिति विशेष के सभी अंगों को नियन्त्रित कर किसी अंग विशेष का प्रभाव बच्चों के सामाजिक विकास पर देखा जाता है। किन्तु, इस विधि से किसी सम्पूर्ण परिस्थिति का प्रभाव बच्चों पर समुदाय में क्या पड़ता है, इसका अध्ययन किया जाता है। उदाहरणार्थ दो समुदाय के बच्चो की क्रियाओ की तुलना विभिन्न वातावरण में की जाती है और इस प्रकार सम्पूर्ण परिस्थिति के विभिन्न अंगों का जो प्रभाव बच्चों की सामाजिकता पर पड़ता है उसकी जानकारी की जाती है। अभी यह पद्धति बिलकुल नयी है और आशा की जाती है कि इससे बहुत ही शीघ्र अत्यधिक सफलता मिलेगी।

(७) मोरेनो पद्धति (Sociometry) :—इस पद्धति का नामकरण, जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, मोरेनो महोदय के नाम पर ही है। वही इस पद्धति के जन्मदाता हैं। उनका ऐसा मत है कि हम व्यक्ति विशेष को समुदाय और समुदाय को उसके निर्माणकर्त्ता विभिन्न व्यक्तियोंके ही प्रसंग में अच्छी तरह समझ सकते हैं। इसके द्वारा हम बच्चो के सामुदायिक विभिन्न सम्बन्धो को जानते हैं। छोटे बच्चे के व्यवहार का तो अध्ययन समूह में की गयी स्वाभाविक प्रतिक्रियाओ के आधार पर होता है, लेकिन बड़े बच्चों की सामाजिकता का अध्ययन बच्चों के समूह में उनसे पूछे गये विभिन्न प्रश्नों के उत्तर के आधार पर होता है। यह पद्धति बहुत विकट है और बच्चों के उत्तर भी प्रश्नों के स्वरूप पर ही निर्भर करते है। इस कारण निर्णय निश्चित नहीं होते। अभी इस पद्धति का प्रयोग करनेमें बहुत सी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ता है और निर्णय भी प्रतिपन्न नहीं होते हैं। किन्तु, आशा की जाती है कि बालमनोविज्ञान के पण्डित इसको शीघ्र ही एक सफल एवं प्रमाणिक पद्धति बनाने का प्रयास करेंगे और साधारण जनता भी इससे लाभान्वित हो सकेगी।

सातवाँ अध्याय

बुद्धि-विकास (Intelligence Development)

१. बुद्धि का स्वरूप

बुद्धि पद का प्रयोग साधारण भाषा में चातुर्य, पटुता, तत्क्षणता (wit), दूरदर्शिता आदि अर्थों मे होता है, अतएव इसका प्रयोग सदा एक ही अर्थ में नहीं होता। किन्तु, मनोवैज्ञानिकों ने इस पद की व्याख्या द्वारा इसके स्वरूप को व्यक्त करने का प्रयास किया है। यद्यपि इसके सम्बन्ध में अभी तक जितने मनोवैज्ञानिकों ने अपना विचार व्यक्त किया है उनमें समानता नहीं है, तथापि हम कुछ प्रमुख मनोवैज्ञानिकों के विचारों पर प्रकाश डालकर अपना दृष्टिकोण व्यक्त करने का प्रयास करेंगे। कारण, जितना शीघ्र हम लोग इस पद को समझ जाते है उतनी शीघ्रता से हम इसकी न तो व्याख्या कर सकते हैं और न इसके स्वरूप को ही व्यक्त कर सकते हैं।

यदि हम इसके इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमे मालूम होगा कि प्राचीन काल से ही इस पद का प्रयोग सभी भाषाओं मे होता चला आ रहा है, किन्तु भारतीय ऋषि महर्षियों के बाद गाल्टन को छोड़कर और किसी ने इस पर प्रकाश डालने का प्रयास नहीं किया। यद्यपि उसने भी मन्द (Dull) एवं तीक्ष्ण (Bright) बालकों को विभिन्न श्रेणियों में रखने का प्रयास किया, तथापि वह यह नही व्यक्त कर सका कि वस्तुतः बुद्धि क्या है अथवा इसका स्वरूप (Nature) क्या है ? बिने ने उसके कार्य को आगे बढाया, लेकिन वह भी इसकी कोई निश्चित परिभाषा नही दे सका। हाँ, इतना अवश्य है कि उसके अनुसार सभी प्रकार की मानसिक योग्यताओं का मध्यमान (Average) ही बुद्धि है। इसीलिये उसने यह कहा है कि बुद्धि वस्तुबोध (Comprehension), आविष्कार (Invention), अभिसंधान (Direction) (आदेश) एवं आलोचना का सम्मिश्रण मात्र है। अपने इस सिद्धान्तके पक्षमें उन्होने कई एक प्रमाण भी उपस्थित किया है। कुछ मनोवज्ञानिकों ने इसे शिक्षण (Learning) की योग्यता मात्र कहा है। परन्तु, विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायगा कि हम बुद्धि को शिक्षण-मात्र की योग्यता कदापि नहीं

कह सकते। हाँ, इतना अवश्य है कि इससे बुद्धि पर कुछ अंश तक प्रकाश अवश्य पडता है।

स्टर्न महोदय के अनुसार बुद्धि मनुष्य की वह सामान्य योग्यता है जिसके द्वारा वह अपने जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सफलमनोरथ होता है। इसके अतिरिक्त भी कुछ मनोवैज्ञानिकोंका दृष्टिकोण है कि नई परिस्थिति में अभियोजनशीलता की शक्ति ही बुद्धि है। परन्तु, यदि हम इन दोनों परिभाषाओं पर विचार करें तो हमे यह स्पष्ट हो जायेगा कि इनसे भी यही प्रकट होता है कि बुद्धि मे शिक्षण की योग्यता विद्यमान रहती है। कोलविन भी इस सम्बन्ध मे वातावरण में अभियोजनशीलता पर ही जोर देते हैं। परन्तु, हेगार्टी महोदय के मुताबिक विषम (Complex) मानसिक क्रियाओं का सम्मिश्रण ही बुद्धि है। इस प्रसंग में यह ध्यान रखने योग्य है कि वे मानसिक प्रक्रियाओं के अन्तर्गत मूलप्रवृत्ति (Instinct), ऐच्छिक क्रिया (Voluntary Action), संवेग तथा शीलगुण (Traits) की परिगणना नही करते। टरमन महोदय ने अमूर्त चिन्तन (Abstract thinking) की योग्यता को ही बुद्धि कहा है। कहने का तात्पर्य यह है कि सभी मनोवैज्ञानिकों ने बुद्धि की व्याख्या अपने अपने ढंग से करने की कोशिश की है, किन्तु किसी की परिभाषा दूसरो को संतोष-प्रद सिद्ध नहीं हुई है। इसीलिये कुछ लोगों ने अन्त मे यही कहा है कि बुद्धि वही है जिसे की बुद्धि-परीक्षण (Intelligence tests) के द्वारा हम जानते हैं।

इस स्थल पर स्पीयरमैन के सिद्धान्त पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है। उनका सिद्धान्त है कि चाहे बुद्धि की व्याख्या किसी प्रकार क्यों न की जाय किन्तु, इतना मानना आवश्यक है कि इसके दो अंग (Factors) होते हैं। पहले अंग को सामान्य (General) और दूसरे को विशिष्ट (Specific) कह सकते हैं। बुद्धि के सामान्य अंग की कार्यवाही (Operation) हम लोगों को अपने सभी कामों में देखने में आती है, किन्तु विशिष्ट अंग किसी कार्यविशेष में ही देखने मे आता है। इस प्रकार बुद्धि का सामान्य अंग सभी कार्यों को प्रभावित करता है, किन्तु विशिष्ट अंग विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न होते है। स्पीयरमैन का यह सिद्धान्त गणितात्मक निर्णयो पर आधारित है और इस सिद्धान्त को अधिकांश मनोवैज्ञानिक अपनाते भी हैं। परन्तु, थर्स्टन महोदय का कहना है कि हम बुद्धि की व्याख्या स्पीयरमैन के दो अंगों के सिद्धान्त पर नहीं कर

सकते। इस तरह वे कई प्रकार की मानसिक योग्यताओं का प्रतिपादन करते हैं। हाँ, वे स्पीयरमैन के सामान्य अंग की अवहेलना भी नहीं करते और इस प्रकार अप्रत्यक्षतया स्पीयरमैन को खण्डित करने में अपने आप को असमर्थ पाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जितनी भी बुद्धि की परिभाषाएँ दी गई हैं उन सब में मन के प्रज्ञात्मक पहलू (Cognitive aspect) पर ही जोर दिया गया है और इस प्रकार पूर्व एवं पश्चात की सभी परिभाषायें स्पीयरमैन के ही सिद्धान्त को अप्रत्यक्षतया मण्डित करती हैं। हम लोगों के दृष्टिकोण से अभी तक इसके सम्बन्ध में जितने सिद्धान्त मौजूद हैं उन सब मे स्पीयरमैन का ही सिद्धान्त मान्य है। यद्यपि वर्ट तथा अलेक्जेण्डर आदि विद्वानो ने इस सिद्धान्त को कुछ अंशों में संशोधित करने का प्रयास किया है, किन्तु हमारे दृष्टिकोण से स्पीयरमैन के ही सिद्धान्त का प्रतिपादन उन लोगों ने भी किया है।

२. बुद्धि-विकास

बुद्धि परीक्षणो से यह स्पष्ट है कि ज्यों ज्यो वालकों का शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है त्यों त्यों उनकी बुद्धि विकसित होती जाती है। जन्म के समय उनमे बुद्धि पर्याप्त मात्रा में विद्यमान नहीं रहती, बल्कि उसका विकास आयु वृद्धि और शारीरिक विकास के साथ होता है। परन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि बुद्धि आयु के साथ साथ बढ़ती रहती है, क्योंकि इसके विकास का क्रम विचित्र है। सामान्यतः बच्चों की बुद्धि में विकास चार-पाँच वर्षों तक बहुत ही तीव्रगति से होता है जिसके पश्चात विकास गति कुछ दिनों के लिये मन्द पड़ जाती है। यह अवस्था दस से ग्यारह वर्ष तक रहती है। पुनः इसके पश्चात चौदह अथवा सोलह वर्ष तक विकास गति प्रचलित रहती है जहाँ यह अपनी अन्तिम सीमा पर पहुँच कर रुक जाती है। किन्तु, कुछ मनोवैज्ञानिको का सिद्धान्त है कि अठारह वर्ष तक बुद्धि अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँचती है। यह अठारह वर्ष की विकास-अवधि तीव्र बुद्धिवाले बालकों के लिये लागू होती है, क्योंकि उनके बुद्धि-विकास का क्रम सामान्य बालक के विकास-क्रम की अपेक्षा तीव्रतर होता है और विकास की चरम सीमा सोलह वर्ष न होकर अठारह वर्ष होती है। कभी कभी तो यह अठारह वर्ष की अवस्था को भी पारकर के अपनी चरमसीमा पर स्थिर हो जाता है। मन्द वालकों में बुद्धि-विकास का क्रम सामान्य एवं तीक्ष्ण बुद्धि के बालकों की

अपेक्षा मन्द गति से होता है और यह अपनी चरमसीमा पर भी सामान्य बालक की अपेक्षा दो-तीन वर्ष पहले ही पहुँच जाता है।

इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि कुछ लोग बुद्धि-विकास तथा अनुभवविकास को एक ही समझते हैं, किन्तु उनका ऐसा समझना दोषपूर्ण है, क्योंकि ज्ञान और अनुभव का विकास उम्र की वृद्धि के साथ साथ होता है। उसकी गति में जीवनपर्यन्त कभी रुकावट नही पडती है, परन्तु बुद्धि-विकास तो अधिक से अधिक सामान्यतः सोलह से अठारह वर्ष की अवस्था तक अपनी चरमसीमा पर पहुँचकर सदा के लिये स्थगित हो जाता है। सम्भवतः तीस वर्षीय बड़ा भाई सोलह वर्षीय छोटे भाई से अनुभव और ज्ञान मे अधिक हो सकता है, किन्तु यदि दोनों ही सामान्य हैं तो यह कभी भी सम्भव नहीं कि बड़ा भाई छोटे भाई से अधिक अवस्था के कारण अधिक बुद्धिमान भी है। अनुभव और ज्ञान मनुष्य की परिपक्वता पर निर्भर करते हैं, किन्तु सोलह अथवा अठारह वर्ष के बाद बुद्धि अवस्था पर निर्भर नहीं करती। उसका पूर्ण विकास इसी अवस्था में समाप्त हो जाता है।

३. बुद्धि-वितरण (Distribution of Intelligence)

यदि हम विभिन्न मनोवैज्ञानिको के प्रयोगों के परिणाम पर दृष्टिपात करें तो हमें ज्ञात होगा कि सभी बालक अथवा वयस्क समान मात्रा में बुद्धिमान नहीं हैं, बल्कि उनमें अन्तर है। किन्तु, इसका यह मतलब नहीं है कि उनमें इस प्रकार का अन्तर है कि हम उनके अन्तरो की एक निश्चित सीमा बना सकते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि अल्पसंख्यक बालक अथवा व्यक्ति ऐसे है जिन्हे हम बुद्धिमानो की उच्चतम श्रेणी में रख सकते हैं और लगभग उतनी ही संख्या में अथवा उससे कुछ ही अधिक ऐसे हैं जिन्हे हम निम्नतम (Lowest) श्रेणी मे रख सकते है। परन्तु, बहुसंख्यक बालक ऐसे है जिनकी बुद्धि औसत है। इसके अलावे भी कुछ बालक ऐसे मिलेंगे जो इस औसत से कुछ ही अंश मे अधिक या कम हैं, लेकिन इनकी संख्या औसत से बहुत ही कम और अन्तिम दोनो प्रकार के बालको से बहुत ही अधिक है। कहने का अभिप्राय यह है कि बुद्धि-वितरण एक शृंखला रूपमें क्रमशः है और एक को दूसरे से अलग करना साधारण काम नहीं है। बुद्धिमान बालकों को उच्चतम श्रेणी मे रखे जानेवाले की संख्या अत्यल्प है। उससे कम बुद्धिवाले बालकों की संख्या पहले प्रकार के बालकों से अधिक है। औसत बुद्धि वालो की संख्या बहुत अधिक है और औसत से कम बुद्धि वाले

बालकों की संख्या औसत बुद्धिवालों से कम किन्तु, सबसे कम बुद्धिवालों की संख्या से अधिक है। बुद्धि वितरण का नियम अन्य शीलगुणों के भी वितरण में देखा जाता है। प्रयोगात्मक प्रमाणों (Experimental evidences) के देखने से पता लगता है कि प्रतिभाशाली (Genius) बालकों की संख्या एक से दो प्रतिशत से अधिक नहीं है। प्रखर बुद्धि (Very superior) तथा तीव्र बुद्धि (bri,hı) वालों की संख्या सोलह प्रतिशत के लगभग है, सामान्य बुद्धि (Normal) वालों की संख्या लगभग पैंसठ प्रतिशत, मन्द (Dull) एवं निर्बल बुद्धि वालो की संख्या पन्द्रह प्रतिशत और मूर्ख (Moron) तथा जड़ (Idiot) बालकों की संख्या दो से तीन प्रतिशत के लगभग है। इस कथन की सत्यता हम किसी समाज के बालकों के साधारण अवलोकन से भी जान सकते हैं। यदि हम किसी गाँव के एक हजार के बालकों की बुद्धि का निर्णय किसी परीक्षण अथवा पद्धति द्वारा करें तो हमें बुद्धि-वितरण का यही क्रम तथा नियम मिलेगा।

४. वंशानुक्रम तथा बुद्धि

वंशानुक्रम और बुद्धि के सम्बन्ध को जानने के लिए हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन दोनो में बहुत घनिष्ट सम्बन्ध है। कहने का सारांश यह है कि बुद्धि को हम लोग अपने जीवन मे अर्जित नहीं करते बल्कि, यह जन्मजात होती है। इतना अवश्य है कि इसका पूर्ण विकास वातावरण के अन्तर्गत होता है। यदि हम इस तथ्य का पता लगाने के लिए किसी समाज के बच्चों का अवलोकन करें तो हमें मालूम होगा कि बुद्धिमान बालको के माता-पिता तथा पूर्वज बुद्धिमान ही थे और मन्द बुद्धिवाले बालको के माता-पिता मन्द बुद्धिवाले थे। इतना ही क्यों बल्कि, हम एक ही समाज के विभिन्न बालकों की बुद्धि में भी अन्तर पाते हैं। यह अन्तर इसी सत्यता को प्रमाणित करता है कि बुद्धि अर्जित नहीं बल्कि, जन्मजात होती है जिसे कि बालक अपने वंशानुक्रम से प्राप्त करता है। प्रतिभाशाली पुरुषों के जीवन वृत्तान्त का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वे अपने बाल्यकाल से ही अपनी बुद्धि का परिचय दे चुके थे। स्वामी शंकराचार्य, ऋषि दयानन्द, गाल्टन, न्यूटन आदि महापुरुषों का इतिहास इसी पक्ष को प्रतिपादित करता है। हाँ, कभी-कभी इसमें अशुद्धियाँ भी देखने को मिलती हैं, क्योंकि बहुत से प्रतिभाशाली महापुरुष अपने लड़कपन में बहुत मन्द समझे जाते थे, परन्तु बाद में उनकी प्रतिभा

का ज्ञान लोगों को हुआ। यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि उनमें उनके बाल्यकाल में भी वही प्रतिभा विद्यमान थी किन्तु, उन्हें विकसित करने का अवसर नहीं मिला। अतएव यह तथ्य भी वंशानुक्रम तथा बुद्धि के घनिष्ठ सम्बन्ध के सिद्धान्त को खण्डित नहीं करता।

इसके अतिरिक्त भी प्रायः यह देखने में आता है कि मन्दबुद्धि के बच्चे मन्द माता-पिता से ही उत्पन्न होते हैं। अतएव इसके आधार पर हम यही कह सकते हैं कि बुद्धि वंशानुक्रम से प्राप्त होती है। गोडार्ड महोदय का कालिकाक वंश का अध्ययन भी इसी सत्यता का प्रतिपादन करता है। हम मन्दबुद्धि के बालक को कैसे भी सुन्दर वातावरण में क्यों नहीं रखे परन्तु, वह कदापि प्रतिभाशाली नहीं हो सकता। इसी प्रकार प्रतिभाशाली बालक गन्दे वातावरण में रहने पर भी अपनी प्रतिभाशीलता का ही प्रदर्शन करता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों का सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है।

५. बुद्धि तथा वातावरण

हम ऊपर बुद्धि और वंशानुक्रम के सम्बन्ध को देख चुके है। अब हमें यह देखना है कि वातावरण का प्रभाव बालकों की बुद्धि पर क्या पडता है। जैसा कि हम जानते हैं, बुद्धि जन्मजात होती है। इसलिए वातावरण का महत्त्व उतना अधिक नहीं है जितना कि वंशानुक्रम का। परन्तु, इससे यह नहीं समझ लेना चाहिये कि बुद्धिविकास में वातावरण का कुछ हाथ ही नहीं रहता। सच्ची बात तो यह है कि प्रायः सुन्दर एवं उपयुक्त वातावरण के लड़के बुद्धिमान तथा अवांछनीय वातावरण के लड़के मन्द बुद्धि के होते हैं। वातावरण जितना ही उपयुक्त होता है उतना ही अधिक अवसर बुद्धिविकास को प्राप्त होता है। प्रतिभाशाली बच्चे भी दूषित एवं दयनीय वातावरण में पडकर अपनी प्रतिभा को अवसर के अभाव में खो बैठते हैं और साधारण बुद्धि के बालक भी सुन्दर वातावरण मे पड़ने के कारण बुद्धिमान बन जाते हैं। यद्यपि यह ठीक है कि बुद्धि जन्मजात है, तथापि हमें यह मानना ही पडेगा कि बुद्धि के पूर्ण विकास के लिए उपयुक्त वातावरण का होना आवश्यक है। दूषित वातावरण मे रहने से बालकों का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता और स्वास्थ्य के अभाव में बुद्धिविकास पूर्णरूपेण नहीं होता। यही कारण है कि उच्च व्यवसायियों के लड़के निम्न कोटि के व्यवसायियों के लड़कों से विशेष बुद्धिमान होते हैं।

६. बुद्धि तथा लिंगभेद (Sex Difference)

अभी तक जितने प्रयोगात्मक प्रमाण उपस्थित हैं उनके आधार पर हम यह नहीं कह सकते कि लड़के और लड़कियों की बुद्धि में महान अन्तर होता है। टरमन महोदय ने जो बुद्धि-परीक्षण लड़के और लड़कियों पर किया उससे यही सिद्ध होता है कि चौदह वर्ष की अवस्था तक लड़कियाँ लड़कों से कुछ अधिक बुद्धिमती होती हैं। बर्ट ने भी जो प्रयोग तीन हजार लन्दन के बच्चों पर किया उससे भी यही पाया गया कि चौदह वर्ष तक किसी उम्र की लड़कियाँ लड़कों से बुद्धि में श्रेष्ठतर थीं। किन्तु, बर्ट महोदय का विश्वास है कि जिस प्रकार लड़कियाँ अन्य शीलगुणों में लड़कों से शीघ्र प्रौढ हो जाती हैं उसी प्रकार उनमें बुद्धि-विकास भी लड़कों की अपेक्षा शीघ्रता से हो जाता है। इसी कारण इस अवस्था तक लड़कियाँ लड़कों की अपेक्षा विशेष बुद्धिमती प्रतीत होती हैं। इस अवस्था के बाद किसी प्रकार का बौद्धिक अन्तर इन दोनों में नहीं दिखाई देता। दूसरे मनोवैज्ञानिकों ने भी इस कथन का प्रतिपादन किया है। इसलिये हम कह सकते हैं कि लड़के और लड़कियों में बुद्ध्यात्मक अन्तर (Intellectual Difference) नहीं होता, क्योंकि बुद्धि लिंग पर निर्भर नहीं करती है।

७. बुद्धि और जातिभेद (Racial Difference)

वर्ण और राष्ट्रीयता का प्रभाव बुद्धि पर देखने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रयोग किया है। इस दिशा में सर्वप्रथम गाल्टन महोदय का प्रयास स्तुत्य है। उन्होंने कई व्यक्तियों के जीवनचरित्र का अध्ययन किया तथा कई प्रयोगों को भी अपनाया। अपने अन्वेषण के आधार पर उन्होंने अपना यही निर्णय दिया कि बुद्धि पर जाति तथा राष्ट्र का प्रभाव पड़ता है। उन्होंने नीग्रो को अन्य यूरोपीयनों की अपेक्षा बुद्धि में हीन पाया। इसके बाद भी अनेक अमेरिकन मनोवैज्ञानिकों ने इन दोनों का प्रभाव बुद्धि पर दिखलाने का प्रयास किया है जिसमें मेयो, फरगुसन, तथा मेक्ग्रा आदि विद्वानों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु, यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि अनेक जातियों में जो बुद्ध्यात्मक अन्तर किसी अंश में मिला, उसका पूर्ण श्रेय जातिभेद को ही नहीं देना चाहिये। जो अभी तक बुद्धि-परीक्षण प्राप्त हैं वे स्थल विशेष और राष्ट्र विशेष के ही लिये विशेषतया उपयुक्त हैं, दूसरों के लिये नहीं। इसके अतिरिक्त भी सामाजिक वातावरण की हम उपेक्षा नहीं कर सकते। संस्कृत (Cultured) लोगों का बुद्धि-परीक्षण में

सफल होना और पिछड़े बच्चों का अंशतः सफल होना पूर्णतः स्वाभाविक है, क्योंकि इसमें अनुभव और ज्ञान का कम हाथ नहीं रहता।

डाक्टर सोहनलाल ने जो बुद्धि-परीक्षण महम्मदीय तथा अन्य जातियों और चार वर्णों के बालकों पर किया है उसमें उन्हें हिन्दू और मुसलमानों की बुद्धि में जो अन्तर मिला है, वह नगण्य है। हाँ, ब्राह्मण औ शूद्र बालको की बुद्धि में लगभग सात प्रतिशत का अन्तर मिला है। किन्तु, यह अन्तर हम-लोगो को वर्ण-प्रसाद के कारण नहीं समझना चाहिये बल्कि, सामाजिक वातावरण तथा शोभन सुयोग के अभाव के कारण समझना चाहिये। अभी भी हमे शूद्रों तथा अन्य वर्णों में उतने ही प्रतिभाशाली बालक मिलते हैं जितने कि ब्राह्मणो में। जड और मूढ सभी वर्णों और जातियो में पाये जाते हैं। अतएव हम लोग यही कह सकते हैं कि बुद्धि पर वंशानुक्रम का प्रभाव अत्यधिक पड़ता है किन्तु, इसके लिये वर्ण एवं जातीय-भेद को महत्त्व देना समुचित नहीं। क्योंकि जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, बुद्ध्यात्मक अन्तर दो वर्ण या जाति के बालकों मे वातावरण आदि कई अन्य अंगो के के कारण होता है।

८. मानसिक आयु (Mental Age or M. A.)

जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा बुद्धि परीक्षण विभिन्न अवस्था के बालकों के लिए बनाए गए हैं। अवस्थाविशेष के बालक के लिए परीक्षणविशेष निर्धारित रहता है। यदि कोई बालक जिसकी वास्तविक उम्र चार वर्ष की है, पाँच वर्ष के बालक के लिए निश्चित परीक्षण में सफल हो जाता है तब उसकी मानसिक आयु पाँच वर्ष की समझी जाती है। कहने का अभिप्राय यह है कि चाहे वास्तविक अवस्था जितनी भी हो परन्तु, जिस उम्र के परीक्षण को बालक पास करता है उतनी ही उसकी मानसिक आयु समझी जाती है। यदि एक आठ वर्ष का बालक दस वर्ष के लिए निर्धारित परीक्षण में सफल होता है तब उसकी मानसिक आयु दस वर्ष की कही जाती है। यदि दूसरा बालक जिसकी उम्र भी आठ वर्ष की है परन्तु, वह छः वर्ष के लिए निर्धारित परीक्षण को पास करता है तब उसकी मानसिक आयु छः वर्ष की ही कही जाती है। अपनी अवस्था से अधिक अवस्था की परीक्षण में पास करने वाला व लक अधिक बुद्धिमान समझा जाता है और कम अवस्था के लिये निर्धारित परीक्षण को पास करनेवाला बालक मन्द बुद्धि का समझा जाता है। वास्तविक अवस्था के लिये निर्धारित परीक्षण मे सफल होनेवाला बालक सामान्य बुद्धि का

समझा जाता है। मनोवैज्ञानिक जगत को मानसिक आयु की देन का श्रेय अलफ्रेड बिने महोदय को ही है जिनके परीक्षणों पर आगे चलकर प्रकाश डाला जायगा।

९. बुद्धि उपलब्धि (Intelligence quotient or I. Q.)

जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा बिने महोदय किसी बालक की बुद्धि को उसकी मानसिक आयु के ही आधार पर निर्धारित करते थे। किन्तु, बादमें बुद्धि निर्धारण (Determination of Intelligence) बुद्धि उपलब्धि के आधार पर होने लगा। इसका श्रेय स्टर्न महोदय को है। आजकल किसी बालक विशेष की बुद्धि का पता उसकी बुद्धि उपलब्धि के आधार पर लगाते हैं। हम बुद्धि-उपलब्धि को मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर जानते हैं। इसको हम निम्नांकित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।

बुद्धि उपलब्धि = मानसिक आयु (Mental Age) / वास्तविक आयु (Chronological Age)

ऐसा करने पर अगर भागफल एक आता है तब बालक सामान्य बुद्धि वाला समझा जाता है। जब भागफल एक से अधिक आता है तब वह अधिक बुद्धिवाला समझा जाता है परन्तु, एक से कम आने पर वह बालक मन्द बुद्धि का समझा जाता है। इसे संख्यात्मक व्यक्त करना विशेष हितकर होगा।

मानसिक आयु ८ ÷ ६ वास्तविक आयु = ४/३ बुद्धि उपलब्धि, अतएव प्रखर-बुद्धि।

मानसिक आयु ४ ÷ ५ वास्तविक आयु = ४/५ बुद्धि उपलब्धि, अतएव मन्द बुद्धि।

मानसिक आयु ७ ÷ ७ वास्तविक आयु = १ बुद्धि उपलब्धि, अतएव साधारण बुद्धि।

आधुनिक काल में भागफल में सौ का गुणा करके बुद्धि उपलब्धि निकालते हैं। गुणनफल सौ होने पर बालक सामान्य बुद्धिवाला और सौ से कम होने पर मन्द बुद्धिवाला समझा जाता है। इसे हम निम्नांकित प्रकार से व्यक्त कर सकते हैं।

८ मा० आ० / ६ वा० आ० × १०० = ४०० / ३ = तीव्र बुद्धि।

$$\frac{\text{४ मा० आ०}}{\text{५ वा० आ०}} \times १०० = ८० = \text{मन्द बुद्धि।}$$

$$\frac{\text{७ मा० आ०}}{\text{७ वा० आ०}} \times १०० = १०० = \text{सामान्य बुद्धि।}$$

बुद्धि उपलब्धि के आधार पर बालकों का वर्गीकरण निम्नांकित प्रकार से किया जाता है।

(१) प्रतिभाशाली (Genius)	१४० से लेकर ऊपर तक बुद्धि उपलब्धि।			
(२) प्रखर बुद्धि (Very superior)	१२० से १४०	तक	,,	,,
(३) तीव्र बुद्धि (Bright)	११० से १२०	तक	,,	,,
(४) सामान्य बुद्धि (Normal Intelligence)	९० से ११०	तक	,,	,,
(५) मन्द बुद्धि (Dull)	८० से ९०	तक	,,	,,
(६) निर्बल बुद्धि	७० से ८०	तक	,,	,,
(७) मूर्ख (Moron)	५० से ७०	तक	,,	,,
(८) मूढ़ (Imbecile)	२५ से ५०	तक	,,	,,
(९) जड़ (Idiot)	२५	तक	,,	,,

१०. बुद्धिमापक पद्धतियाँ

अब तक हम बुद्धि के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते रहे हैं। अब हमें यह देखना है कि हम बुद्धि को किन-किन पद्धतियो से नाप सकते हैं। परन्तु इसके पहले कि हम उन पर प्रकाश डालें यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इसको नापने की आज बहुत सी वैज्ञानिक पद्धतियाँ मौजूद हैं, परन्तु इनके पहले भी बुद्धि की जानकारी के लिए कुछ अवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। यहाँ हम उनमे से प्रमुख पद्धतियो पर ही संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

(१) अवलोकन पद्धति (Ovservational Method) :— बहुत लोगो का ऐसा दृष्टिकोण था कि हम बालकों की शारीरिक रचना तथा व्यवहार का अवलोकन करके उनकी बुद्धि का पता लगा सकते हैं। जिन बालको का व्यवहार समयानुकूल तथा नियमित होता था उन्हें बुद्धिमान समझा जाता था किन्तु, जिनके व्यवहार में किसी प्रकार का संतुलन नहीं रहता था उन्हें मन्दबुद्धि का समझा जाता था। इसी प्रकार जिनके शरीर का संगठन सुन्दर होता था तथा जिनमें किसी प्रकार का दोष नहीं

पाया जाता था उन्हें बुद्धिमान समझा जाता था परन्तु, बिना डीलडौल वाले बालक को जिसमें कि किसी प्रकार के संगठन का अभाव पाया जाता था उसे मन्दबुद्धि का समझा जाता था। यद्यपि यह पद्धति आज भी अशिक्षित जनता के बीच बालकों की बुद्धि जानने के लिए समादर की दृष्टि से देखी जाती है तथापि यह बुद्धि जानने की वैज्ञानिक पद्धति नहीं है। पहली बात तो यह है कि इसके द्वारा कोई भी बुद्धि का अनुमान ही कर सकता है उसको निश्चयात्मक रूप से नहीं व्यक्त कर सकता। इसके अतिरिक्त भी शरीर गठन तथा व्यवहार बहुत ही भ्रामक होते हैं—इसीलिए कभी-कभी ठीक उल्टा ही होता है। अतएव यह पद्धति किसी अंश में भी विश्वसनीय नही कही जा सकती और विज्ञान के इस युग में इसका प्रयोग कदापि श्रेयस्कर नहीं है।

(२) वार्तालाप पद्धति (Conversational method) :— बालकों की बुद्धि को जानने का प्रयास वार्तालाप पद्धति द्वारा भी प्राचीन काल से होता आ रहा है, क्योंकि कुछ लोगों का ऐसा विश्वास है कि मनुष्य की वाणी उसकी बुद्धि का द्योतक है। जो बालक जितनी अच्छाई और सरलता के साथ बातचीत कर सकता था वह उतना ही बुद्धिमान समझा जाता था और जिसमें जितनी कमी पाई जाती थी उसे उतना ही मन्द समझा जाता था। इसमें सन्देह नही कि बालक की वाणी से उसकी बुद्धिमानी पर प्रकाश पड़ता है परन्तु, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वाणी-दोष और कई कारणों से भी हो सकता है, जैसे अस्वस्थता, अंग-भंग, संवेग आदि। इसलिये हम इस पद्धति को कभी भी उपयुक्त पद्धति नहीं कह सकते। इस पद्धति से हम बुद्धि का अनुमान ही कर सकते है निश्चित निर्णय नहीं कर सकते। इतना ही क्यों, बल्कि ऐसा भी देखने में आता है कि कितने वाणी-दोष से युक्त बालक आगे चलकर प्रतिभाशालियों की श्रेणी मे परिगणित होते हैं। फिर भी आधुनिक युग मे इस पद्धति पर निर्भर करना अवैज्ञानिक पथ का ही अनुसरण करना है।

(३) संवेदनात्मक पद्धति (Method of Sensation) :— प्राचीन मनोवैज्ञानिको का सिद्धान्त था कि किसी बालक की बुद्धि का पता उसकी संवेदना-शक्ति के आधार पर लगाया जा सकता है। इसलिए वे किसी बालक की बुद्धि को जानने के लिए उसकी संवेदना शक्ति को जानते थे और उसी आधार पर अपना निर्णय निश्चय करते थे। बालक

से ऐसे दो भारो को उठवाया जाता था जिनमें बहुत कम अन्तर रहता था। यदि वह दोनो के अन्तरो को जान जाता था तो वह बुद्धिमान समझा जाता था अन्यथा मन्द बुद्धि का समझा जाता था। इस प्रकार सभी ज्ञानेन्द्रियो से आबद्ध संवेदनाओ के आधार पर किसी बालक विशेष की बुद्धि जानी जाती थी। परन्तु यह पद्धति कुछ ही दिन बाद दोषपूर्ण घोषित कर दी गई, क्योंकि अधिक संवेदना शक्ति वाला बालक भी मन्द बुद्धि का प्रमाणित हो जाता था और कम संवेदना शक्ति वाले बालक भी प्रतिभाशाली प्रमाणित होते थे। इसके अतिरिक्त एक ही बालक में भी संवेदना शक्ति सभी ज्ञानेन्द्रियो के लिए समान नहीं थी बल्कि, उनमे अन्तर था। अतएव यह पद्धति कुछ ही दिन आदर की दृष्टि से देखी गई और बाद मे तिरस्कृत कर दी गई। आज विज्ञान के इस युग में कोई वैज्ञानिक बुद्धि जानने के लिये उपर्युक्त पद्धतियों का प्रयोग नहीं करता। अतएव ये प्रायः लुप्त सी हो गई है और शिक्षित लोग इन्हें तिरस्कृत दृष्टि से देखते हैं।

(४) बिने परीक्षण पद्धति (Binet Testing Method) :— वास्तविक वैज्ञानिक पद्धति का इस्तेमाल उस समय हुआ जब अल्फ्रेड बिने महोदय ने सन् १९०५ ई० में फ्रांसीसी बालको की बुद्धि की जाँच करने के लिये विभिन्न उम्र के लिये विभिन्न प्रकार के प्रश्नों का निर्माण किया। उन्होने कई बालको पर प्रयोग करके यह निश्चित किया कि किसी अवस्था विशेष के बालक किसी निश्चित प्रश्न का ही उत्तर दे सकते थे। यदि कोई बालक, जैसा कि पहले ही व्यक्त किया जा चुका है, अपनी अवस्था वाले प्रश्नों का उत्तर देता था तब वह सामान्य बुद्धि का, यदि अवस्था से कम अवस्था वाले प्रश्नों का उत्तर देता था तब मन्द बुद्धि का और जब वह अपनी वास्तविक उम्र से अधिक उम्र के लिये निर्धारित प्रश्नों का उत्तर देता था तब तीव्र बुद्धि का समझा जाता था। इस प्रकार मानसिक आयु पर ही बुद्धि निश्चित की जाती थी। सब प्रश्नों की संख्या तीस थी। बाद में बिने महोदय को अपनी त्रुटियाँ मालूम हुईं और उन्होने सन् १९०८ ई० और सन् १९११ ई० में उसमे बहुत संशोधन किया। मौलिक प्रश्नों में से जो अनुपयुक्त सिद्ध हुए उन्हें निकाल दिया गया और उनके स्थान में दूसरे प्रश्नो को रख दिया गया। इसके अतिरिक्त भी प्रश्नो की संख्या बढा दी गई। सभी उम्र के बालकों के लिये अन्तिम संशोधन मे पाँच प्रश्न निश्चित कर दिये गये। केवल चार वर्ष के बालकों के प्रश्नों की संख्या चार कर दी गई। उनकी यह परीक्षण पद्धति वैज्ञानिक होने के कारण इतनी सर्वप्रिय हो गई कि थोड़े ही समय

में उसका प्रचार सभी देशों में हो गया और आज कोई भी देश ऐसा नहीं है जहाँ इसका प्रयोग न होता हो। इसके पहले कि हम इस परीक्षण पद्धति के गुण दोषों पर विचार करें यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि अमेरिका के कितने मनोवैज्ञानिकों ने इसमे तरह तरह के संशोधन किये। सन् १९१६ ई० में टरमन महोदय ने इसमें संशोधन किया जिसका अन्तिम रूप सन् १९३७ ई० में निर्धारित हुआ। तब से टरमन महोदय की कृपा से सभी लोग इस पद्धति से अत्यधिक लाभान्वित हो रहे हैं। भारत वर्ष में भी डा० कामत ने उसी के आधार पर भारतीय बालकों की बुद्धि की जानकारी के लिये कुछ परीक्षण निर्धारित किया है जो महाराष्ट्रीय बालकों के लिये पूर्णतः उपयुक्त हैं।

अब बिने महोदय की बुद्धि माप परीक्षण के गुण दोषों पर प्रकाश डालने के लिये यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इसकी विशेषता यह है कि प्रश्न विभिन्न अवस्था के बालकों के अनुरूप हैं, क्योंकि उन्होंने उन प्रश्नों की प्रामाणिकता का निश्चय अनेक बालकों पर इस्तेमाल करके किया था।

बिने महोदय की परीक्षण पद्धति सामान्य बुद्धि को जानने की है, क्योंकि वह इस पचड़े में नहीं पड़े कि बुद्धि एक है या कई। इस तरह इस पद्धति से सामान्य बुद्धि का ही पता लगता है।

इसके अलावे भी बुद्धि का निर्णय बालको की मानसिक आयु पर निर्धारित किया जाता है जो बहुत आसानी के साथ हो जाता है और निर्णय भी तुलनात्मक होता है।

परन्तु इन विशेषताओं के होते हुये भी इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं, क्योंकि इसमें बालक की असफलता या सफलता अधिकांशतः उसकी शिक्षा और सामाजिक वातावरण पर निर्भर करती है। संस्कृत समाज के शिक्षित बच्चे असंस्कृत समाज के अशिक्षित बच्चों की अपेक्षा विशेष लाभान्वित होते हैं। इस कमी को प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक स्वीकार करते हैं।

इस परीक्षण पद्धति के द्वारा बच्चों के चारित्रिक दोषों (Character Defects) का ज्ञान नहीं होता और न विशिष्ट योग्यता का ही पता चलता है जो बुद्धि के लिये अत्यावश्यक है। इसके अतिरिक्त, उसकी परीक्षण पद्धति का उपयोग सभी बच्चों पर उनके मौलिक रूप में नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी बच्चे अंगरेजी भाषा के ज्ञाता नहीं होते। कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें गुण और दोष दोनों विद्यमान हैं किन्तु, इन दोषों से बचते हुये इसका प्रयोग बुद्धि जानने में अत्यधिक सफल हुआ है।

(५) इबिंगहॉस पूर्ति परीक्षण पद्धति (Ebbinghaus Completion Method) :—बालकों की बुद्धि का निश्चय करने के लिये इबिंगहॉस महोदय ने पहले पहल इस पद्धति का प्रयोग किया। इसमें विभिन्न वाक्यों के विभिन्न अंश रिक्त रहते हैं जिनको कि बालक को पूरा करना पड़ता है। उम्र के अनुसार इसमें भी वाक्यों की सरलता और कठिनता पर ध्यान दिया जाता है। समय और रिक्त स्थानों की उचित अनुचित पूर्ति को ध्यान में रखकर तो किसी बालक विशेष की बुद्धि का निर्णय किया जाता है। बालकों के लिये वाक्य न होकर चित्रों के रिक्त अंशों को परिपूर्ण करना विशेष सुविधाजनक होता है। आज भी यह पद्धति प्रायः सभी देशों में किसी न किसी रूप में अवश्य ही काम में लाई जाती है और इससे सामान्य बुद्धि पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। इसके निर्णय भी बुद्धि उपलब्धि की तरह संख्यात्मक होते हैं किन्तु, इसको इस्तेमाल करने के पहले किसी विशेषज्ञ से इस पद्धति के द्वारा बुद्धि निर्णय करने के नियम को सीख लेना आवश्यक होता है, क्योंकि सभी लोग इसका प्रयोग सफलतापूर्वक नहीं कर सकते हैं। यह विधि व्यक्तिगत (Individual) तथा सामूहिक (Group) दोनों प्रकार से काम में लाई जाती है।

(६) सामूहिक परीक्षण पद्धति (Group Testing Method):—आज कई प्रकार की सामूहिक परीक्षण पद्धतियाँ प्रचलित हैं किन्तु, सभी इबिंगहॉस महोदय के ही सिद्धान्त के आधार पर निर्धारित हैं। कभी-कभी तो ऐसे ही वाक्यों का निर्माण रहता है जिनके कुछ अंश रिक्त रहते हैं और उन्हें बालकों को भरना पड़ता है। परन्तु, कभी कभी शुद्धाशुद्ध का निर्णय करना रहता है। सामूहिक परीक्षण पद्धति से वर्तमान जगत को बहुत लाभ पहुँच रहा है, क्योंकि इससे समय और धन दोनों की बचत होती है। अधिक से अधिक संख्या में बालकों की बुद्धि की जाँच थोड़े समय में हो जाती है। परन्तु, यह पद्धति भी दोषरहित नहीं है, क्योंकि जितनी प्रतिपन्न एवं विश्वसनीय व्यक्तिगत परीक्षण पद्धतियाँ हैं उतनी यह नहीं है। इसमें बेईमानी करने की अधिक गुंजाइश रहती है जिसका ज्ञान साधारण व्यक्ति को अधिकांशतः नहीं होता है। बालकों की योग्यता का ज्ञान निश्चयात्मक रूपसे नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि सामूहिक पद्धति में वैयक्तिक पद्धतियों के समान व्यक्तिगत बीजतत्वों (Individual Elements) का स्थान बिलकुल नहीं रहता। यहाँ यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि भारतवर्ष में भी डा० सोहनलाल ने भारतीय बालकों के लिये सामूहिक परीक्षण पद्धति को

पनपाया है और उसमे उन्हें अत्यधिक सफलता मिली है और आशा की जाती है कि भारतीय बालको की बुद्धि की जानकारी के लिये उनकी परीक्षण पद्धति पूर्णतः सफल होगी ।

(७) निर्माण परीक्षण पद्धति (Performance method):- अभी तक जितनी पद्धतियों पर प्रकाश डाला गया है वे सभी भाषा के आधार पर ही हैं, क्योकि उनके लिये भाषा-ज्ञान का होना आवश्यक है। इसलिये इस कठिनाई को दूर करने के लिये मनोवैज्ञानिकों ने कुछ निर्माण परीक्षाओं को निर्धारित किया है। इसमें न तो पढने की योग्यता की आवश्यकता पड़ती है और न लिखने की योग्यता की। शिक्षित और अशिक्षित बालको मे किसी प्रकार का भी अन्तर नही पड़ता है। इसमे विभिन्न प्रकार के उपकरणो से विभिन्न प्रकार के चित्रों का निर्माण करना पड़ता है। बुद्धि निर्धारित करने के लिये परीक्षार्थी की हस्तगति और समय दोनों पर ध्यान दिया जाता है। बहुत परीक्षण ऐसे हैं जिनमें केवल समय का ही विशेष महत्त्व रहता है। आज न मालूम कितने निर्माण-परीक्षण प्रचलित हैं। यद्यपि इसकी उपयोगिता अन्य शिक्षित देशो में अधिक नही है परन्तु, भारतवर्ष की अशिक्षित जनता के लिये तो यह वरदान स्वरूप ही है और ऐसी आशा की जाती है कि इससे भारतवर्ष का विशेष उपकार होगा।

(८) कार्यसिद्धि परीक्षण पद्धति (Achievement method):- इस पद्धति का प्रयोग पाठशालीय विद्यार्थियों की विशिष्ट योग्यता का पता लगाने के लिये होता है। यद्यपि हम इसे पूर्णतः बुद्धिमापक पद्धति के अन्तर्गत नहीं रख सकते, तथापि इसका इस्तेमाल बुद्धि जानने के लिये किया जाता है। इसका प्रचार पाठशालाओं में विशेष रूप से होता है। इन पद्धतियो के अतिरिक्त भी और कई पद्धतियाँ बुद्धि नापने के काम में लाई जाती हैं परन्तु, उन सब पर यहाँ प्रकाश डालना इस छोटी-सी पुस्तक में असम्भव है।

छः वर्ष तक के बालकों की बुद्धि मापने के लिए प्रमुख परीक्षण पद्धतियाँ

अभी तक सामान्य रूप से बुद्धि परीक्षण पद्धतियो पर प्रकाश डाला गया है। यहाँ अब उन दो चार परीक्षणो का संक्षिप्ततः वर्णन किया जायेगा जिनका इस्तेमाल छः वर्ष तक के बच्चों पर किया जाता है। यो तो इनकी संख्या दिन पर दिन बढ़ रही है लेकिन, यहाँ पर मुख्य परीक्षणों का ही वर्णन किया जायेगा।

स्टट्समैन परीक्षण मेरिलपामर स्कूल की मनोवैज्ञानिक प्रयोगशाला में ५२९ बच्चों पर प्रयोग करके तैयार किये गये। इनमें २५२ बालक तथा २७७ लडकियाँ थीं जिनकी अवस्था १८ महीने से लेकर ७१ महीने तक थी। इस प्रकार २१ परीक्षणों का निर्माण हुआ। एक परीक्षण में एक बक्स में १६ घन (त्रिघात) (Cubes) इस तरह से रखने पडते हैं कि ढक्कन जा सके। अठारह महीनेवाले बच्चों में केवल ३५ प्रतिशत सभी त्रिघात (Cubes) बक्स मे रखने में सफल होते हैं। चौबीस महीनेवाले बच्चों की संख्या ८० प्रतिशत होती है। वे पहले बच्चों से क्षिप्रकारी होते है। इसी प्रकार ढाई वर्ष के बच्चे ९० प्रतिशत इस कार्य मे सफलता प्राप्त करते है। दूसरे परीक्षण मे चार घन छिद्रों मे एक दूसरे को रखना पडता है और यह देखा जाता है कि ऐसा करने मे बच्चे को कितना समय लगता है। इसी तरह और भी परीक्षण है जिनमे शब्द या शब्द-समूहों को दुहराने, प्रश्नो के उत्तर देने अथवा चित्रादि तैयार करने पडते हैं।

गेसेल के परीक्षण विचित्र प्रकार के है। उन्होंने विकासात्मक दृष्टिकोण से इन परीक्षणों का निर्माण किया है। उनका सिद्धान्त है कि विकास-क्रम मे कोई अनुपात (Ratio) नही रहता, क्योंकि उनका क्रम अनिश्चित है। प्रथमावस्था मे विकास-गति उत्तरावस्था (Last stage) की विकास गति से तीव्र होती है। अगर हम उनके परीक्षणों का वर्गीकरण करें तब हम उन्हे क्रिया, भाषा, व्यक्तिगत, सामाजिक तथा अभियोजित व्यवहार के नामों से पुकार सकते है। इनका सम्बन्ध स्नायविक योग्यता, भाषा, सामाजिक अनुभव तथा व्यक्तित्व के शीलगुण और अभियोजन-क्षमता से रहता है। प्रत्येक परीक्षण में पैंतीस विषय होते हैं। विकास का निर्णय भी यांत्रिक (Mechanical) नहीं होता बल्कि, उनका अंकन अक्षरो द्वारा होता है।

मीनेसोटा के परीक्षण भी उन्ही बच्चों के लिए है जो पाठशाला के योग्य, अवस्था कम होने के कारण, नहीं है। ये परीक्षण शाब्दिक तथा अशाब्दिक (Non-verbal) दोनो प्रकार के हैं। कुछ के आधार तो बीने के ही परीक्षण हैं, जैसे, शरीर के किसी अंग को व्यक्त करना, चित्र बनाना या उनका स्मृति-विस्तार (Memory span) जानना आदि और दूसरे परीक्षण मेरिलपामर की तरह हैं जिनमे प्रतिकूल (Opposite) शब्दों को देना पड़ता है।

इन परीक्षण पद्धतियों के अतिरिक्त भी और कई परीक्षण पद्धतियाँ मौजूद हैं किन्तु, उन सब पर स्थानाभाव से यहाँ प्रकाश नहीं डाला जा सकता।

११. बुद्धिमाप की उपयोगिता

इसके पहले कि हम बुद्धिमाप की उपयोगिता पर प्रकाश डालें, यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि जबतक बुद्धिमापकपरीक्षणों का निर्माण नहीं हुआ था तब तक माता-पिता और शिक्षक सभी अन्धकार में थे और उन्हें यह नहीं मालूम होता था कि उनकी सन्तान की बुद्धि कैसी है। परन्तु, जबसे इन परीक्षणों का प्रचार हो गया है तबसे यह अन्धकार दूर हो गया है और फलतः सभी माता-पिता और शिक्षक अपने बच्चों की योग्यता को इसके द्वारा जानने लगे हैं। बुद्ध्यनुसार ही उनको शिक्षा दी जाती है।

अब सभी बच्चों को एक ही साथ नहीं पढाया जाता बल्कि, उनकी बुद्धि के आधार पर उनका वर्गीकरण कर लिया जाता है और विभिन्न वर्गों को विभिन्न प्रकार की शिक्षा दी जाती है। इस विभाजन से अब बालकों का विद्यार्थी-जीवन भारस्वरूप नहीं मालूम पड़ता है, क्योंकि योग्यता के अनुसार ही विषयो को उन्हे पढ़ाया जाता है। बच्चे भी किसी तरह के हीनभाव का अनुभव नहीं करते हैं। यहाँ तो नहीं लेकिन, यूरोप आदि देशों में इस पर विशेष जोर दिया जाता है।

बुद्धिमाप परीक्षणो से अब यह भी सरलतया मालूम हो जाता है कि बच्चा तीव्रबुद्धि का है अथवा मन्दबुद्धि का। यदि तीव्रबुद्धि का वह रहता है तब तो उसका लालन-पालन करने में किसी विशेष पद्धति का अनुसरण नहीं किया जाता है परन्तु, यदि दुर्भाग्यवश बच्चे में मानसिक दुर्बलता पाई जाती है तब उसके लालन-पालन तथा अध्ययन का विशेष प्रबन्ध किया जाता है। ऐसे बच्चों के लिये आज विदेशों मे विशेष प्रकार के स्कूल ही खोल दिये गये हैं जहाॅ उन्हे विशेष नियम के साथ शिक्षा दी जाती है। इतना ही नहीं, वल्कि कुछ ऐसी पाठशालायें हैं जहाँ मन्दबुद्धि के बालकों को निरंतर रहना पड़ता है। उनके रहन-सहन की व्यवस्था भी विशेष प्रकार से की जाती है। ये वच्चे ऐसी संस्थाओं में कदापि अपने को किसी अंश मे दूसरे से हीन नहीं समझते हैं, क्योंकि वहाँ सभी सामान बुद्धि और योग्यता के रहते है। अन्ततोगत्वा उनमें से वहुत बच्चे समाज के उपयोगी अंग बन जाते हैं। आज कोई भी शिक्षित मनुष्य मानसिक दुर्बलता (Mental Deficiency) को व्याधि नहीं मानता वल्कि, वह यह अच्छी तरह जानता है कि मानसिक दुर्बलता में बुद्धि कम मात्रा में रहती है।

हम लोग अब यह अच्छी तरह जान गये हैं कि पाठशालीय कार्यों में

पिछड़े हुये बच्चे सभी मन्दबुद्धि के नहीं होते हैं। कुछ बच्चे तो आकस्मिक बीमारियों के कारण अपने काम में पिछड़ जाते हैं और कुछ बुद्धि की कमी के कारण। इसलिये अब जब कभी भी किसी बच्चे के स्कूल के कार्य में कमी मालूम होती है तो सर्वप्रथम उसकी बुद्धि की जाँच कर ली जाती है और यह जान लिया जाता है कि वह किस कारण पिछड़ा हुआ है। यदि बुद्ध्यभाव के कारण ऐसा रहता है तब शीघ्र ही उसके अध्यापन का समुचित प्रबन्ध कर दिया जाता है।

इसकी उपयोगिता अब शिशु-संस्थाओं में भी देखने में आती है। जब कोई बच्चा अपने व्यवहार में असामान्यता प्रदर्शित करता है तब उसकी असामान्यता का कारण जानने के पहले उसकी बुद्धि की जाँच कर ली जाती है। बिना बुद्धि को जाने हुये ऐसे बच्चों की मनोवैज्ञानिक चिकित्सा कदापि नहीं होती। यदि बच्चा बुद्धिमान रहता है तब उसकी योग्यता अनुसार उसे काम करने का अवसर दिया जाता है या कम बुद्धि का रहता है तो उसी अनुसार उसे अवसर भी दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि बिना बुद्धि की जाँच के किसी असामान्य व्यवहार को सुधारना या दूर करना कठिन है।

जब तक बुद्धि परीक्षणों का अभाव था तब तक बच्चों की योग्यता को जाने बिना ही उनके माता-पिता अपने मनोनुकूल जीवन-व्यवसाय में उन्हें प्रवेश करा देते थे जिसका परिणाम यह होता था कि अधिकांश बच्चे जीवन में असफल ही रहते थे, क्योंकि उनका व्यवसाय उनकी योग्यता और रुचि के अनुरूप नहीं होता था। परन्तु, आज यह कठिनाई दूर हो गई है। अब बच्चों की योग्यता और रुचि पहले जान ली जाती है और उन्ही के अनुसार उनको जीवन-व्यवसाय में लगाया जाता है। परिणामतः वे अपने जीवन में सफल-मनोरथ भी होते हैं।

इसके अतिरिक्त, बालकों के व्यक्तिगत अन्तरों को हम जानने में इसी के जरिये समर्थ होते हैं। उनकी विशिष्ट योग्यताओं का परिज्ञान बुद्धि परीक्षणों द्वारा ही होता है। कहने का सारांश यह है कि इसकी उपयोगिता जीवन के सभी क्षेत्रों में है। आशा की जाती है कि बहुत ही शीघ्र भारतीय जनता भी इसका उपयोग जीवन के सभी क्षेत्रों में कर सकेगी और बच्चों का पालन-पोषण वैज्ञानिक ढंग पर ही होगा।

आठवाँ अध्याय

शिक्षण और उसका विकास

१. विषय प्रवेश

शिक्षण (Learning) के स्वरूप पर प्रकाश डालने के पहले यह व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि अन्य जानवरों की अपेक्षा मानव शिशु जन्म के समय पूर्णतः असमर्थ और असहाय रहता है। उसे एक नये वातावरण का सामना करना पड़ता है जिसमें स्वतः अभियोजन करने में उसे शीघ्र सफलता नहीं मिलती। जब तक शिशु माता के गर्भ में रहता है तब तक उसे एक सीमित वातावरण मे रहना पड़ता है किंतु, जन्मोपरांत उसका वातावरण इतना बृहद हो जाता है कि उसे उसमें सफलता पूर्वक अभियोजन करने के लिये जीवन भर कुछ न कुछ सीखना पड़ता है। जिन सहज-क्रियाओ (Refex-Actions) के द्वारा वह गर्भ में अपनी आवश्यकताओं को संतुष्ट करता था, वे क्रियाएँ जन्म के पश्चात उसे पूर्णतः संतुष्ट करने मे समर्थ नही होती। इसलिये उन क्रियाओं के रहते हुये भी उसे अपने आपको विश्व में बनाये रखने के लिये बहुत कुछ सीखना पड़ता है। प्रारंभिक प्रतिक्रियाओ को बहुत अंश मे छोडना पडता है और नई-नई परिस्थितियो का सफलतापूर्वक सामना करने के लिये नई-नई प्रतिक्रियाओं को सीखना पड़ता है। अवस्था वृद्धि के साथ साथ उसका वातावरण ज्यों-ज्यो विस्तृत होता जाता है त्यों त्यो उसकी प्रतिक्रियाओ की संख्या भी बढती जाती है। यदि हम बाल्य-जीवन को शिक्षणमय जीवन कहे तो इसमें कोई अत्युक्ति नही होगी, क्योकि इसके बिना उसका जीवन धारण करना भी कठिन हो जायगा। इन्ही सब कारणो से बाल मनोविज्ञान में अभिरुचि रखने वालो को बालशिक्षण के विभिन्न पहलुओं का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है।

२. शिक्षण का स्वरूप (Nature of Learning)

जन्म के पश्चात बच्चों में कई प्रकार की प्रतिक्रियाएँ पाई जाती हैं जिन्हे हम शिक्षण नहीं कह सकते, क्योकि उनका ढंग वे अनुभव के द्वारा नहीं सीखते बल्कि, उनकी शक्ति उनमें जन्मजात रहती है। यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिको ने, जैसा कि स्थलविशेष पर ज्ञात होगा, विभिन्न प्रयोगों के आधार पर यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया है कि गर्भस्थ शिशु भी सीखने की क्षमता रखता है और सीखत । है परन्तु, हमारे दृष्टिकोण से वास्तविक

शिक्षण-प्रक्रिया का आविर्भाव जन्मोपरांत ही होता है। इसलिये जन्म के पूर्व अथवा पश्चात उनमें जो क्रियाएँ पाई जाती हैं उन्हे सहज-क्रिया ही कहना विशेष समुचित जँचता है। अतएव उनपर प्रकाश न डालकर शिक्षण क्या है अथवा क्योंकर होता है आदि बातों का यहाँ वर्णन करना श्रेयस्कर है।

यदि हम इसके स्वरूप पर विचार करें तो मालूम होगा कि जिस तरह बच्चों मे अन्य प्रकार की कई प्रक्रियाएँ जैसे, संवेदना, प्रत्यक्षीकरण, स्मृति, ध्यान (Attention), चिंतन, कल्पना आदि पाई जाती हैं, उसी प्रकार शिक्षण प्रक्रिया भी उनमें होती है। किन्तु, इसका स्वरूप उन सबसे कुछ भिन्न होता है, क्योंकि अन्य प्रक्रियाएँ विशिष्ट होती है किन्तु, इसमें विशिष्टता नहीं होती। वस्तुतः यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमे कई प्रकार की प्रक्रियाएँ सम्मिलित (Involved) रहती है, इसलिये यह एक सरल नहीं अपितु, विषम प्रक्रिया है। जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा, हम किसी भी ऐसी क्रिया को जिससे अभ्यास के फलस्वरूप किसी प्रकार का व्यवहार में स्थायी परिवर्तन होता है, शिक्षण कह सकते हैं। यद्यपि इसकी परिभाषा मनोवैज्ञानिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से की है किन्तु, यहाँ हम उन सबका सविस्तार वर्णन न करके इसके स्वरूप का दिग्दर्शन कराते हुये अपना विचार व्यक्त करेंगे।

यों तो कुछ मनोवैज्ञानिकों के अनुसार शिक्षण वह प्रक्रिया है जिससे जीव की मौलिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता है। इसी तरह दूसरों ने इसे भिन्न प्रकार से अभिव्यक्त किया है और उनके मुताबिक व्यवहार मे किसी प्रकार का संशोधन (Modification) ही शिक्षण है। परन्तु, इन दोनों परिभाषाओं पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः इन दोनों में किसी प्रकार का मौलिक भेद नहीं है। जीव की प्रवृत्तियाँ उसके व्यवहार का बीज-तत्व (Elements) हैं जो उसका निर्माण करते हैं और जब उनमें किसी तरह का परिवर्तन अथवा संशोधन होता है तो व्यवहार स्वतः परिवर्तित या संशोधित हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में वास्तविक भेद किसी प्रकार का नहीं है अपितु, इनमे शब्दजाल मात्र का ही अन्तर है। कहने का अभिप्राय यह है कि एक ही बात को दो तरह से व्यक्त किया गया है न कि दो तथ्यों को। इसी तरह कुछ लोगों ने इसे वह प्रक्रिया कहा है जिससे जीव की कार्यक्षमता (Performance capacity) में विवृद्धि होती है। किन्तु, इस स्थल पर हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि हमारी कार्यक्षमता में विवृद्धि अथवा उन्नति परिपक्वता के कारण

भी होती है। इसलिए परिपक्वता और शिक्षण को भ्रमवश एक ही नहीं समझना चाहिए। वस्तुतः इन दोनों प्रक्रियाओं में समानता होते हुए भी कुछ ऐसे मौलिक अन्तर हैं जिनके कारण हम दोनों को एक कदापि नहीं कह सकते। स्थल विशेष पर इन दोनों के अन्तरों पर प्रकाश डाला जायेगा। पिल्सबरी ने साहचार्य-स्थापन प्रक्रिया को ही शिक्षण प्रक्रिया के नाम से अभिव्यक्त किया है। उसके अनुसार दो प्रत्ययों (Ideas) अंशों अथवा चीजों में किसी प्रकार का साहचर्य (Association) स्थापन करना ही शिक्षण है। किसी कार्य को सीखने का तात्पर्य है उसके विभिन्न अंशों के पारस्परिक सम्बन्ध को जानना और समझना। इसी तरह से और भी कई परिभाषाएँ शिक्षण की है किन्तु, उन पर प्रकाश न डालकर अब हम इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि शिक्षण वह प्रक्रिया है जिससे अभ्यास के फल स्वरूप हमारे व्यवहार में किसी प्रकार का स्थायी संशोधन या परिवर्तन होता है और जिसके परिणामस्वरूप हम अपने को अभिनव वातावरण में सफलतापूर्वक अभियोजित करने में समर्थ होते हैं। स्थायी परिवर्तन इसलिए कहा गया है कि शिक्षण का मुख्य ध्येय वातावरण में अभियोजन करना है। इसका संस्कार हमारे नाड़ी मण्डल (Nervous system) के विभिन्न तन्तुओं पर स्थायी रूप से पडता है और यदि व्यवधानवश उसमें कुछ क्षीणता भी आती है तो अभ्यास (Exercise) से वह पुनः सजीव बन जाता है। इसलिए इस संशोधन को स्थायी ही कहना विशेष रूपेण उचित है। जिसमें स्थायित्व नहीं उसे शिक्षण कहना अनुचित होगा, क्योकि अस्थायी परिवर्तन शरीर की अन्य क्षणिक अवस्थाओ के कारण भी होते हैं। इसके पहले कि हम परिपक्वता (Maturation) और शिक्षण के अन्तरों पर प्रकाश डालें, शिक्षण का एक-दो उदाहरण यहाँ दे देना अप्रासंगिक नहीं होगा। आरम्भ में बच्चा किसी भयावह जन्तु से नही डरता किन्तु, जब उसके हानिकर परिणाम को जान जाता है तो उससे वह डरने लगता है। यह डरने की प्रतिक्रिया उसके शिक्षण का ही फल है। इसी प्रकार साइकिल चलाना, गाना, तलवार भाँजना, लिखना-पढ़ना आदि सभी सीखने के परिणामस्वरूप होते है। अतएव हम शिक्षण को व्यवहार में स्थायी संशोधन के ही रूप में समझ सकते हैं। यदि कोई बच्चा दीपक से बार-बार जलने पर भी उसे पकडने की कोशिश करता है तो वस्तुतः उससे अलग होना वह नहीं सीख सका है किन्तु, दूसरा बच्चा देर से क्लास में आने के कारण दण्डित (Punished) होने पर यदि वह अब ठीक समय पर स्कूल आता है तो उसने देर न करना या समुचित समय

पर स्कूल आना सीख लिया है। अब हम यह देखने की कोशिश करेंगे कि परिपक्वता और शिक्षण में क्या अन्तर है, क्योंकि इससे शिक्षण का स्वरूप और भी स्पष्ट तथा बोधगम्य हो जायेगा।

३. शिक्षण तथा परिपक्वता

हम पहले लिख चुके हैं कि शिक्षण और परिपक्वता मे इतनी अधिक समानता है कि बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने इन्हें एक ही आधार के दो भिन्न पहलू माना है। उनका ऐसा कहना कुछ अंशों में ठीक भी है किन्तु, इतना होते हुये भी इन दोनों में जो भेद है उसकी उपेक्षा हम नही कर सकते। इनके अन्तरों का वर्णन करने के लिये हमें यह नही भूलना होगा कि कुछ मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास था कि जन्म के पूर्व परिपक्वता की प्रक्रिया और उसके पश्चात शिक्षण-प्रक्रिया होती है परन्तु, प्रयोगात्मक प्रमाणों द्वारा यह विश्वास दोषपूर्ण प्रमाणित कर दिया गया है। अब प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक इससे पूर्णरूपेग सहमत हैं कि ये प्रक्रियाएँ जन्म के पूर्व और पश्चात दोनो अवस्थाओ मे पायी जाती हैं। हल, रे, पेइपर आदि ने गर्भस्थ शिशु पर प्रयोग करके यह सिद्ध कर दिया है कि इस अवस्था में भी उसमें शिक्षण-क्षमता विद्यमान रहती है। इसी तरह शर्ली ने जो प्रयोग बच्चो पर इन दोनों की घनिष्ठता को व्यक्त करने के लिये किया है उससे यह स्पष्ट है कि जन्मोपरांत शिक्षण के लिये परिपक्वता अनिवार्य है। कहने का अभिप्राय यह है कि परिपक्वता को जन्म के पूर्व और शिक्षण को उसके पश्चात मानना सर्वांशतः अनुचित है क्योकि, वस्तुतः ये दोनो प्रक्रियाये विकास-क्रम की किसी भी अवस्था में साथ-साथ पाई जाती हैं। यद्यपि इन दोनो से किसी न किसी प्रकार का परिवर्तन ही होता है परन्तु, इन परिवर्तनो मे हम प्राकारिक अन्तर (Difference in Kind) नही पाकर आंशिक अन्तर (Difference in Degree) ही पाते हैं।

यहाँ हमे यह स्मरणीय है कि शिक्षण से जीव की प्रतिक्रियाओ में परिवर्तन अथवा विवृद्धि होती है किन्तु, परिपक्वता से शरीर-रचना (Bodily Structure) मे विवृद्धि और परिवर्तन होता है। पेशी (Muscles) तथा स्नायुओं (Nerves) में विवृद्धि परिपक्वता के फलस्वरूप होती है किन्तु मोटर चलाना, गाना, विभिन्न भाषाओं का जानना और उनका प्रयोग करना शिक्षण के फल स्वरूप होता है।

शिक्षणके द्वारा वातावरण की परिस्थितियों मे किसी प्रकार का परिवर्तन होता है किन्तु, परिपक्वता से शारीरिक रचनामें रासायनिक (Chemical)

परिवर्तन होताहै। वायुयान संचालन, कवितापाठ आदि शिक्षण-प्रक्रियाओं में जो शारीरिक परिवर्तन होते है वे अगम्य होने के कारण नगराय है, इसलिये इसमें वातावरण के परिवर्तन का ही महत्त्व विशेष रूप से परिलक्षित होता है। उसी प्रकार परिपक्वता में भी ऐसा नहीं होता कि वातावरण का सर्वथा अभाव रहता है बल्कि, वह वातावरण इतना सूक्ष्म और आन्तरिक होता है कि उसके महत्त्व की परिगणना न करके आन्तरिक रासायनिक परिवर्तन के महत्त्व की ही परिगणना की जाती है।

शिक्षण का सम्बन्ध शरीर के विभिन्न अंगों की क्रियाओं से रहता है परन्तु, परिपक्वता का सम्बन्ध उनकी क्रियाओं से नही अपितु, उन अङ्गों की रचना से रहता है। पढ़ना, घोडे पर चढना, तैरना आदि शिक्षण कहे जाते हैं किंतु, स्नायु और मांस पेशियो का पुष्टिकरण (Strengthening) परिपक्वता का द्योतक है।

शिक्षण एक अर्जित (Acquired) प्रक्रिया है किन्तु, परिपक्वता जन्मजात प्रक्रिया है। बच्चा जन्म के समय ही मोटर नहीं चला सकता और न तो साइकिल पर ही चढ सकता है किन्तु, ज्यों ज्यों वह बड़ा होता है क्रमशः मोटर चलाना या साइकिल पर चढ़ना वह सीख लेता है। इसीलिये हम शिक्षण को अर्जित प्रक्रिया कहते है। परिपक्वता को हम जन्मजात इसलिये कहते हैं कि शारीरिक अंगों की रचनाओ मे पुष्टि सीखने से नही आती बल्कि, स्वतः समयानुसार आती है। दाँतों का निकलना, बढना, अंग विशेषों पर केशों का जमना आदि परिपक्वता के जन्मजात स्वरूप के ही साक्षी हैं।

शिक्षण के द्वारा व्यक्तिगत विशेषताओं (Individual characteristics) और प्रतिक्रियाओ में उन्नति और विवृद्धि होती है लेकिन, परिपक्वता से जातीय विशेषताओं (Racial characteristics) की ही उन्नति होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि जीव शिक्षण-प्रक्रिया के द्वारा ऐसी क्रियाओं और विशेषताओं को अपना सकता है जिन्हें उसी जाति के अन्य जीव नहीं अपना सकते। गाना और रेल चलाना सभी व्यक्तियों को नही आता, इसलिये इन्हे हम व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं के अन्तर्गत रख सकते हैं। हाँ, परिपक्वता से उन्हीं विशेषताओ की उन्नति होती है जो सभी व्यक्तियों पाई जाती हैं। दाँत का उठना, केश का जमना, मांस पेशियों का पुष्ट होना आदि जातीय विशेषतायें हैं, व्यक्तिगत नहीं, क्योंकि इनका आविर्भाव और विकास समयानुकूल सभी व्यक्तियों मे होता है।

शिक्षण में अभ्यास का स्थान महत्वपूर्ण है किन्तु, परिपक्वता में इसका कुछ भी हाथ नहीं रहता। यन्त्र चलाना, पंखा बनाना, नौकारोहण

(Boating) आदि में अभ्यास का क्या महत्व है, इसे व्यक्त करने की कोई आवश्यकता नहीं। किन्तु, क्या दाँतों के निकलने में भी अभ्यास का प्रभाव पड़ सकता है ? इसी प्रकार इन दोनोंमें और भी कुछ अन्तर दिखलाये जा सकते हैं परन्तु; अब उनका वर्णन न करके हम यहाँ यह देखने का प्रयास करेंगे कि इन विभिन्नताओं के होते हुए भी ये दोनो एक-दूसरे पर क्योंकर और कितना निर्भर करती है।

यदि हम इस पर विचार करें कि शिक्षणमे परिपक्वता और परिपक्वता मे शिक्षण का क्या हाथ रहता है, तब हमे यह मालूम होगा कि यद्यपि ये दोनों उपर्युक्त अंशों मे एक दूसरे से भिन्न हैं तथापि, ये अन्योन्याश्रयी (Interdependent) है। कारण, एक के बिना दूसरी प्रक्रिया अधूरी या अपूर्ण ही क्यो बल्कि, कई अंशो में कठिन ही नहीं अपितु, असंभव हो जायगी।

शिक्षण से परिपक्वता क्योंकर सहायक होती है इसको प्रदर्शित करने के लिये कई एक मनोवैज्ञानिक प्रयोग किये गये है जिनसे यह स्पष्ट है कि परिपक्वता के बिना कई प्रकार के शिक्षण असंभव है। इस दिशा में शर्ली, गुडएनफ, गेसेल, थाम्सन, ब्लाट्ज, मिलिशैम्प आदि के प्रयोग विशेषरूपेण उल्लेखनीय है जिनका वर्णन संवेगात्मक विकास मे स्थल विशेष पर किया गया है। इसलिये यहाँ उन सब पर प्रकाश न डालकर दो जुडवे बच्चो पर किये गये प्रयोग का ही वर्णन किया जायेगा जिससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि परिपक्वता शिक्षण को कितना प्रभावित करती है।

दो जुडवे बच्चो में से एक को, जिसकी उम्र ४६ सप्ताह थी, छः सप्ताह तक सीढ़ी पर चढने और कूदने की शिक्षा दी गयी किन्तु, दूसरे को ५२ सप्ताह तक यह शिक्षा नही दी गई। शिक्षा के अन्त मे, अर्थात ५२वें सप्ताह के अन्त में शिक्षित बच्चा सीढी कूदने में केवल २६ सेकण्ड लिया किन्तु, अशिक्षित बच्चा ५३ वें सप्ताह के अन्त में उसी सीढी को कूदने मे ४६ सेकण्ड मे समर्थ हुआ। किन्तु, दो सप्ताह शिक्षा देने के बाद उस सीढ़ी को वह सिर्फ १० सेकण्ड में ही कूद गया। इस प्रयोग से यह भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि बहुत से शिक्षणो की योग्यता का आविर्भाव तथा विकास परिपक्वता के कारण होता है। हम आगे चलकर भी देखेंगे कि इसका हाथ शिक्षण में कितना महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार कई स्थलो पर शिक्षण भी परिपक्वता को प्रभावित करता है। शिक्षण के अभाव में परिपक्वता प्रक्रिया भी पूर्णरूपेण कार्यान्वित नहीं हो सकती। अतएव हम यह कह सकते है कि ये दोनों प्रक्रियाएँ अधिकांश एक दूसरे के आश्रित हैं।

४. शिक्षण-सिद्धान्त (Theories of Learning)

शिक्षण-सिद्धान्त के सम्बन्ध में कई विचारधाराएँ हैं। व्यवहारवादी तथा उनके अनुयायी मनोवैज्ञानिकों के अनुसार जीव सभी कुछ सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन (Conditioned-Reflex) के द्वारा सीखता है। जेस्टाल्टवाद शिक्षण प्रक्रिया में अन्तर्दृष्टि (Insight) के महत्त्व पर ही जोर देता है और उसके अनुसार हम लोग जो कुछ सीखते हैं उसके सीखने में अन्तर्दृष्टि अथवा बुद्धि का हाथ रहता है। थार्नडाइक और उसके अनुयायियों का कहना है कि हमारा शिक्षण क्रियात्मक (By trial-error) ही होता है। इसी प्रकार और भी एकाध सिद्धान्त इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। इन्हीं सिद्धान्तों को कभी-कभी कुछ लोग शिक्षण-विधि के नाम से भी अभिव्यक्त करते हैं। यहाँ हम क्रमशः विभिन्न सिद्धान्तों का वर्णन करेंगे और यह देखने का प्रयास करेंगे कि वस्तुतः ये तीनों सिद्धान्त एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं अथवा एक ही के विभिन्न नाम हैं।

(१) सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन शिक्षण-सिद्धान्त

शिक्षण के इस सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन रूस निवासी पाँवलाव ने किया। शरीरविज्ञानवेत्ताओं में उसका स्थान बहुत ऊँचा है। इस दिशा मे उसके अधिकांश प्रयोग कुत्तो पर ही हुए है। इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रमाणित करने के लिए उसने एक हृष्ट-पुष्ट कुत्ते को भूखा रखकर उसे प्रयोगशाला के वातावरण से परिचित कराया। जब कुत्ता उससे पूर्णतः परिचित हो गया तब उसने प्रयोगात्मक अवस्था में कुत्ते को रखकर घण्टी बजाने के तुरत पश्चात भोजन दिया। इसी हालत में इसकी कई बार आवृत्ति की गई और अन्त मे देखा गया कि जो कुत्ता भोजन को देखकर अपने मुँह में पानी लाने की प्रतिक्रिया करता था वही अब घण्टी ध्वनि को सुनकर ही जीभ से लार टपकाने की प्रतिक्रिया करने लगा। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि लार प्रतिक्रिया के लिए समुचित और स्वाभाविक (Natural) उत्तेजना भोजन ही है, घण्टी ध्वनि नहीं। किन्तु, जब घण्टीध्वनि मात्र से ही लार आने की प्रतिक्रिया हो तो उसी को हम सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन कहते हैं, क्योंकि पहले घण्टी के शब्द मे लार प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं थी। यह क्षमता उसमें इसीलिए आ गई कि इसके पूर्व उसका सम्बन्ध एक ऐसी उत्तेजना से हो गया था जो लार के लिए स्वाभाविक उत्तेजना है। यहाँ अब इस अस्वाभाविक उत्तेजना का साहचर्य भोजन से तो हुआ है साथ-साथ उसका सम्बन्ध लार प्रतिक्रिया से भी स्थापित हो गया

है। यही कारण है कि घण्टीध्वनि से ही कुत्ते के मुँह में पानी आ जाता है। ऐसी हालत में घण्टीध्वनि को सम्बद्ध उत्तेजना (Conditioned Stimulus) और लार-प्रतिक्रिया को सम्बन्ध प्रतिक्रिया (Condition-ed Response) कहते हैं। उपर्युक्त विवेचना को ध्यान में रखते हुये हम यही कह सकते हैं कि जब किसी स्वाभाविक प्रतिक्रिया का सम्बन्ध स्वाभाविक उत्तेजना के अतिरिक्त उसी परिस्थिति में किसी ऐसी उत्तेजना से हो जाता है जो पहले उसे समुत्पन्न करने मे समर्थ नहीं थी तो उसे हम सम्बद्ध प्रत्यावर्तन शिक्षण कहते हैं। हाँ, हमें यहाँ नहीं भूलना चाहिये कि पॉवलॉव का यह सिद्धान्त पूर्णतः अभिनव नहीं है, क्योंकि इसके पहले ही प्रख्यात दार्शनिक (Philosopher) लॉक साहचर्य-नियम (Laws of Association) के महत्त्व को अभिव्यक्त कर चुका है। यह नियम इस तथ्य की अच्छी प्रकार व्याख्या कर देता है कि एक विचार, प्रत्यय अथवा स्मरण दूसरे को क्योंकर आविर्भूत करता है। इस साहचर्य नियम का भी मूल सारांश यही है कि जब हम दो घटनाओं को साथ साथ अथवा क्रमशः एक समय अथवा स्थल पर अनुभव करते हैं तो बाद में एक का स्मरण दूसरे का स्मरण दिलाता है। बाद में विलियम जेम्सने भी इसी नियम की परिपुष्टि की। किन्तु इतना होते हुये भी हम यह निस्सन्देह कह सकते है कि पॉवलॉव के सम्बद्ध प्रत्यावर्तन शिक्षण-सिद्धान्त और लॉक के प्रत्यय साहचर्य-नियम मे कुछ मौलिक भिन्नताएँ हैं। पॉवलाव के सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि यह उत्तेजना और प्रतिक्रिया में जो साहचर्य स्थापित होता है वह उसी पर जोर देता है, प्रत्यय-साहचर्य पर नहीं। दूसरी विशेषता यह है कि इन दोना के सम्बन्ध और प्रभाव (Effect) की माप हम संख्यात्मक (Quantitative) रूपसे कर सकते हैं। यही कारण है कि पॉवलॉव का यह सिद्धान्त वैज्ञानिक होने के कारण आधुनिक मनोवैज्ञानिक जगत में सर्वप्रिय है किन्तु, लॉक के सिद्धान्त को हम संख्यात्मक रूप से नहीं प्रदर्शित कर सकते। इसके अतिरिक्त भी पॉवलॉव ने इसकी व्याख्या इतनी सुन्दरता के साथ की है कि प्राचीन आधार होते हुये भी इसमे आधुनिकता और अभिनवता की गन्ध पूर्णतः परिव्याप्त है।

इसके पहले कि हम इस विधि से बच्चो के शिक्षण पर प्रकाश डाले इसका उल्लेख कर देना अनुचित नही होगा कि पॉवलॉव या उसके अन्य साथियो ने जो प्रयोग इस दिशा मे किया है उन सबसे यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की शिक्षण विधि मे यह आवश्यक है कि जिस अस्वाभाविक

(Unnatural) उत्तेजना का सम्बन्ध स्वाभाविक प्रतिक्रिया से प्रस्थापित करना है वह स्वाभाविक उत्तेजना के साथ-साथ या उससे कुछ पहले अवश्य उपस्थित हो। स्वाभाविक उत्तेजना के पश्चात उपस्थित होने से उसका सम्बन्ध कदापि उस प्रतिक्रिया से नहीं हो सकेगा। उन सभी उत्तेजनाओं का निराकरण करना आवश्यक है जो अस्वाभाविक उत्तेजना के प्रभाव को कम करके व्याघातक सिद्ध हों। अन्य व्याघातक (Disturbing) उत्तेजनाओं के रहने पर अस्वाभाविक उत्तेजना प्रभावशाली नहीं रह जाती, इसलिये उसका सम्बन्ध भी स्वाभाविक प्रतिक्रिया से नहीं होता। इतना ही नहीं, बल्कि उत्तेजना का प्रबल और मस्तिष्क (Brain) का अखण्ड रहना भी जरूरी है, क्योंकि निर्बल उत्तेजना या खण्डित मस्तिष्क की अवस्था में सम्बद्ध प्रत्यावर्तन विधि से शिक्षण कठिन और असम्भव है। इसी प्रकार ध्यानावस्था (Attentive State) और सक्रियता (Activity) भी आवश्यक विशेषतायें हैं, क्योंकि इनका भी होना जरूरी है।

मनोवैज्ञानिकों ने इसके विभिन्न पहलुओं को प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित किया है। विलम्बित सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (Delayed Conditioned-Reflex) जिसमें अस्वाभाविक उत्तेजना के बाद कुछ निश्चित व्यवधान पर प्रतिक्रिया होती है अथवा निषेधात्मक सम्बद्ध प्रत्यावर्तन (Negative Conditioned-Reflex) जिसमें स्वाभाविक प्रतिक्रिया होना रुक जाती है आदि, इसके कई पहलू हैं जिन पर यहाँ विस्तार के साथ प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है।

पॉवलॉव के इस सिद्धान्त की उपादेयता की परीक्षा बहुत से मनोवैज्ञानिकों ने की किन्तु, उन सब में अमेरिका वालों का प्रयास विशेष सराहनीय है। इसकी सत्यता की जॉच क्रेस्नोगोरस्की ने (Krasnogorski) जो पॉवलॉव का ही शिष्य था, बच्चों पर प्रयोग करके की। उसने भी अपने शिक्षक की ही विधियों को अपनाया और कई प्रकार की उत्तेजनाओं के साथ बच्चों को लार लाने की प्रतिक्रिया सिखलायी। उसके प्रयोगात्मक प्रदत्त (Data) इस बात के साक्षी हैं कि पहले वर्ष में ही वे इस विधि से सीखने लगते हैं। मैटीयर ने भी क्रेस्नोगोरस्की के निर्णयों की परीक्षा ५० सामान्य और कुछ असामान्य बच्चों पर प्रयोग करके की। उसके प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि जितनी देर में असामान्य बच्चे सम्बद्ध प्रत्यावर्तन के द्वारा लार आने की प्रतिक्रिया करते हैं उसके आधे समय में ही ऐसी प्रतिक्रिया सामान्य बच्चों में होने

लगती है। उसने बच्चों के शिक्षण में सम्बद्ध प्रत्यावर्तन पर विशेष रूपेण जोर दिया है और उसका कहना है कि उनके लिये यही एक सिद्धान्त महत्व-पूर्ण है। मारक्विस ने जो प्रयोग दो दिन से नौ दिनों के शिशुओं पर दूध पीने के ऊपर सम्बध प्रत्यावर्त्तन का किया है उससे यह प्रमाणित है कि जन्म के बाद ही एक दो दिन से शिशु सम्बद्ध प्रत्यावर्तन द्वारा सीखने लगता है। किन्तु वेगर के प्रयोग जो छोटे बच्चों पर हुये वे अल्पावस्था में इस सिद्धान्त की सत्यता मे कुछ अंश मे अविश्वास करते हैं, क्योंकि उनसे यह स्पष्ट है कि शिशु के शिक्षण में स्थायित्व (Permanence) नही रहता, बल्कि क्षण-भंगुरता रहती है। परन्तु वेंगर के निर्णय का खण्डन कई मनोवैज्ञानिक अपने प्रयोगों के आधार पर करते है। उनका कहना है कि सम्बद्ध प्रत्यावर्तन शिक्षण किसी कारण विशेष से अस्थायी स्थल विशेष पर प्रमाणित भले हो जाय, किन्तु, बच्चो के शिक्षण की यही एक मात्र विधि है। जो कुछ भी बच्चे, सयाने या अन्य जीव सीखते हैं उन सबका एक मात्र श्रेय इसी शिक्षण सिद्धान्त को है।

इस सम्बन्ध मे वाटसन का उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा, क्योकि उसने इस सिद्धान्त की सर्वव्यापकता और सार्थकता पर इतना जोर दिया कि इसका प्रयोग जीवन के सभी क्षेत्रोमे उसने किया। यद्यपि उसके सिद्धान्त को अधिकांश अमेरिका तथा अन्य देशों के मनोवैज्ञानिकों ने अप-नाया और आगे बढ़ाया किन्तु यहाँ हम जोन्स, हेनर आदि के प्रयोगों पर ही प्रकाश डालेगे। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वाटसन सम्बद्ध प्रत्या-वर्तन का समर्थन करते हुये बच्चो के शिक्षण में सम्बद्ध प्रत्यावर्तन का ही महत्व व्यक्त करता है। उसके अनुसार बच्चे जीवन मे सभी कुछ इसी के द्वारा सीखते हैं। यों तो इस दिशा मे उसके कई प्रयोग विश्वविख्यात हैं, किन्तु यहाँ हम उसी प्रयोग का संकेत मात्र करेंगे जिसमें अबलर्ट नामक छोटा बच्चा रोवेंदार जानवरों के साथ-साथ उनसे आबद्ध अन्य चीजों से भी डरने लगा और अन्त मे इसी विधि से उसने न डरना भी सीखा। जोन्स ने भी बच्चों को सम्बद्ध प्रत्यावर्तन द्वारा विभिन्न चीजों से डरना सिखलाया जिनके सविस्तार वर्णन की यहाँ कोई आवश्यकता नही। वाटसन और जोन्स के इस सम्बन्ध के प्रयोगों की विशेष जानकारी के लिए संवेगात्मक विकास को देख लेना श्रेयस्कर होगा।

कहने का अभिप्राय यह है कि वाटसन तथा उसके अनुयायियों ने इसी शिक्षण सिद्धान्त को विश्वजनीन माना है और सभी शिक्षणों की व्याख्या

इसी आधार पर करते हैं। परन्तु वस्तुतः इस सिद्धान्त के गुण-दोषों पर हम विचार करें तो हमें यह अच्छी तरह मालूम हो जायेगा कि इसे हम सर्वमान्य सिद्धान्त कदापि नहीं कह सकते और न इसे अन्य सिद्धान्त से पूर्णतः भिन्न ही कह सकते हैं, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा। इतना अवश्य है कि बच्चे ही क्यों, सयाने तथा अन्य जीव भी इसके द्वारा बहुत कुछ सीखते हैं। जहाँ तक प्रारम्भिक जीवन का सम्बन्ध है बच्चो मे यह सिद्धान्त पूर्णतः लागू होता है किन्तु, इस कारण हम कदापि यह नही कह सकते कि बड़े होने पर भी बच्चे इसी शिक्षण सिद्धान्त के आश्रित रहते हैं। भय करना, चाहना,न चाहना आदि सीखने मे इसका हाथ सर्वांशतः रहता है। इतना ही नहीं, यह शिक्षण का सरलतम रूप कहा जा सकता है। और इससे मस्तिष्क की कार्यवाही पर भी पर्याप्त प्रकाश प्रकाश पड़ता है। परन्तु, यह होते हुये भी हमें यह मानना पड़ेगा कि सभी स्थलों पर यह सिद्धान्त उपादेय नही प्रमाणित होता, जैसा कि बाद मे व्यक्त किया जायेगा। बच्चों के शिक्षण अधिकांश क्रियात्मक और बाद में अन्तर्दृष्ट्यात्मक भी होते हैं। इसलिये इस सिद्धान्त अथवा शिक्षण विधि के सम्बन्ध में हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि बच्चे बहुत कुछ अपने जीवन में इस विधि से सीखते हैं किन्तु, सभी कुछ इसके द्वारा सीखना असंभव है। इसके अतिरिक्त भी यह शिक्षण का कोई अभिनव एवं स्वतन्त्र सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि इसमें भी क्रियात्मक शिक्षण अथवा अन्तर्दृष्ट्यात्मक शिक्षण का पूर्णतः अभाव नहीं रहता, जैसा कि उन सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय मालूम होगा। इसके अतिरिक्त, हम विभिन्न सिद्धान्तो के विवेचन के पश्चात इसी निष्कर्ष पर आते हैं कि पॉवलॉव या वाटसन और अन्य मनोवैज्ञानिकों ने इसे कुछ ऐसे ढंग से उपस्थित किया है कि यह बिलकुल नया मालूम होता है। परन्तु, हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि एक ही तथ्य (Fact) की व्याख्या को अभिव्यक्त करने का इन लोगों का एक अपना ढंग है जिससे यह शिक्षण सिद्धान्त निराला और स्वतन्त्र प्रतीत होता है।

(२) अन्तर्दृष्ट्यात्मक शिक्षण सिद्धान्त (Learning by Inight)

हम ऊपर यह व्यक्त कर चुके हैं कि व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक किस प्रकार सम्बद्ध-प्रत्यावर्तन के शिक्षण सिद्धान्त पर जोर देते हैं। इसलिये हम यहाँ अन्तर्दृष्ट्यात्मक शिक्षण सिद्धान्त की ही व्याख्या करेंगे।

इस सिद्धान्त का प्रतिपादन जेस्टाल्टवादियों ने किया है जिनमें कोहलर, कोफ्का, आलपर्ट आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इसके पहले कि हम

इस शिक्षण की व्याख्या करें, यह व्यक्त कर देना जरूरी है कि जेस्टाल्टवादी सम्बद्ध प्रत्यावर्तन और क्रियात्मक शिक्षण सिद्धान्तो का खण्डन करते है। उनका कहना है कि बच्चो, जानवरो और सयानो, सभीका शिक्षण अन्तर्दृष्ट्यात्मक होता है। बिना अन्तर्दृष्टि या बुद्धि के शिक्षण हो ही नहीं सकता। सम्बद्ध प्रत्यावर्तन सिद्धान्त को भी वे अन्तर्दृष्टि, विहीन स्वीकार नही करते। उनका कहना है कि यदि कुत्ता या बच्चा पूर्ण परिस्थिति को नही समझता और यदि उसे परिस्थिति की सूझ नहीं रहती तो वह कई उत्तेजनाओ में से किसी उत्तेजनाविशेष की ही प्रतिक्रिया क्यो करता। किसी उत्तेजनाविशेष के प्रति प्रतिक्रिया करना ही जीवकी अन्तर्दृष्टिका द्योतक है। इसी प्रकार ये मनोवैज्ञानिक क्रियात्मक सिद्धान्त की, जिसका वर्णन बाद में किया जायेगा, भी आलोचना करते हुए कहते है कि असफल प्रतिक्रियाओ (Unsuccessful responses) का परित्याग और सफल प्रतिक्रियाका परिग्रहण ही इस तथ्य को व्यक्त करता है कि सीखनेवाले को पूरी परिस्थिति का ज्ञान है।

अब इस सिद्धान्त की व्याख्या करने के लिए इसका उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इस सिद्धान्तके मण्डन कर्त्ताओ का कहना है कि जीव जो कुछ भी सीखता है बुद्धि और विचार के द्वारा सीखता है। जब वह किसी अभिनव परिस्थिति मे पड़ जाता है तो उसकी प्रतिक्रियाएँ अनायास (Random) और ध्येयविहीन (Aimless) नहीं होती बल्कि, उनमे कुछ सार्थकता और लक्ष्य रहता है। जीव पूर्ण परिस्थिति को समझकर उसके प्रत्येक अंग के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। तब उस सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति किसी प्रतिक्रिया को करता है, अतएव सभी जीवो का शिक्षण अन्तर्दृष्ट्यात्मक होता है।

इस सिद्धान्त की सत्यता का दिग्दर्शन सर्वप्रथम कोहलर ने जानवरो पर किये गये प्रयोगो द्वारा कराया। उसने प्रयोग परिस्थिति (Experimental Situation) को यथा सम्भव स्वाभाविक रक्खा। एक बनमानुष जो भूखा था, पिजडे मे बन्द कर दिया गया। पिजडे के बाहर बहुत से पके केले बिखेर दिये गये और उसे दो ऐसी छड़ियाँ दे दी गई जिनमे से कोई भी अकेले केलों तक नहीं पहुँच सकती थी। उनकी बनावट भी कुछ ऐसी थी कि वे एक दूसरे में प्रवेश कर एक लम्बी छडी बन जाती थीं। जब पहले पहल वे छडियाँ उसे मिलीं तो उसने उनसे अलग अलग केलों को खींचने का प्रयास किया किन्तु, जब उसे किसी तरह की सफलता नहीं मिली तब निराश होकर वह स्वयं छड़ियों से खेलने लगा। खेलने के ही अन्तर्गत संयोगात

(Bychance) दोनों छड़ियाँ जुट गईं और उसने उनसे केला खींचना चाहा किन्तु, वे छड़ियाँ शीघ्र ही एक दूसरे से अलग हो गईं। अब दूसरी बार उस बनमानुष ने स्वयं ही उन छड़ियों को खूब अच्छी तरह मिलाकर केला खींचना प्रारम्भ किया और क्रमशः सभी केलों को खींचकर चट कर गया।

दूसरा प्रयोग उसने सुल्तान नामक बन्दर पर किया। इस बार केलों को कुछ ऊँचाई पर बाँध दिया गया और चारों तरफ यत्र तत्र बक्स बिखेर दिये गये। बन्दर भूखा होने के कारण उन केलों को लेने के लिये कोशिश करता रहा किन्तु, वह उन तक पहुँच न सका। इतने में प्रयोगकर्त्ता ने कुछ बक्सों को नीचे ऊपर रखकर केले को स्पर्श मात्र किया और पुनः बक्सों को बिखेर दिया। अब क्या था, बन्दर को पूरी परिस्थिति समझ में आ गई और झट बक्सों की सहायता से वह केलों को लेकर खाने लगा।

इन दोनों प्रयोगों में अन्तर्दृष्टि का महत्व व्यक्त करते हुये कोहलर का कहना है कि जब तक पूरी परिस्थिति का ज्ञान बनमानुष या बन्दर को नहीं था तब तक उनमें से कोई भी केलों को नहीं पा सका। किन्तु, ज्योंही पूर्ण परिस्थिति की सूझ हो गई त्योंही छड़ी और केला तथा बक्स और केलों में सम्बन्ध जो था उसका ज्ञान बनमानुष और बन्दर को क्रमशः हो गया। यदि अन्तर्दृष्टि काम न करती तो वे कदापि केलों को भीतर लेकर खाना नहीं सीख सकते थे। अतएव हमारे सभी शिक्षण अन्तर्दृष्ट्यात्मक ही होते हैं। हाँ, कभी अन्तर्दृष्टि का आविर्भाव सहसा होता है और कभी क्रमशः। इसीलिये कभी तुरन्त ही परिस्थिति की सूझ हो जाती है और कभी कुछ देर बाद।

कोहलर ने अपने प्रयोगों को जानवरों तक ही नहीं सीमित रक्खा है बल्कि, अपने सिद्धान्त की सर्वव्यापकता को प्रमाणित करने के लिये उसने बच्चों और सयानों पर भी प्रयोग किया है। उसने एक तीन वर्ष के बच्चे के सामने दो ऐसे बक्सों को रक्खा जिनमें से एक अधिक चमकीला था और दूसरा कम। अभ्यास द्वारा बच्चे को यह ज्ञान करा दिया गया कि सब से अधिक चमकीले बक्स में ही भोज्य पदार्थ उपलब्ध होता है। ऐसा ज्ञान करा देने के बाद पुनः कम चमकीले बक्स के बदले एक ऐसे चमकीले बक्स को रक्खा गया जो पहले से भी अधिक चमकीला था। इन दो बक्सों के साथ प्रयोग करने पर भी यही देखा गया कि सबसे अधिक चककीले बक्स में ही बच्चा भोजन के सामान को खोजता था, कम चमकीले बक्स में नहीं। इसीलिये कोहलर का यह कहना है कि बच्चों की भी प्रतिक्रियाएँ सम्पूर्ण परिस्थिति के प्रति होती हैं, किसी अंग विशेष के प्रति नहीं। यदि

इसमें सत्यता न होती तो बच्चा सबसे अधिक चमकीले बक्स में ही भोज्य पदार्थ (मिश्री) नहीं खोजता। अतएव हम कह सकते हैं कि बच्चों का शिक्षण सम्बद्ध प्रत्यावर्तनात्मक अथवा क्रियात्मक नहीं होता, बल्कि अन्तर्दृ-ष्ट्यात्मक होता है।

इसी की परिपुष्टि में अमेरिका में आलपर्ट ने ४४ बच्चों पर, जिनकी अवस्था १९ महीने से लेकर ४९ महीने तक की थी, विभिन्न प्रयोगों को किया। प्रयोग समस्याएँ (Experimental Problems) भी कोहलर की समस्याओं के समान थी। एक खिलौना ऐसे स्थान पर रख दिया गया जो बच्चों की पहुँच के बाहर था। करीब में एक दो कुर्सियाँ रख दी गईं। पहले तो बच्चों ने कूद कर ही खिलौना लेने का प्रयास किया, किंतु जब उन्हें खिलौना लेने मे कुर्सी की सार्थकता मालूम हुई तो वे उस पर चढकर खिलौने को लेकर खेलने लगे। इसी प्रकार जब खिलौना ऐसे स्थान पर रख दिया गया जहाँ से वे स्वयं उसे नहीं ले सकते थे तब उन्होने छड़ियो के सहारे खिलौने को लेने का प्रयास किया और उन्हें इसमें सफलता भी मिली। आलपर्ट ने इन प्रयोगो के आधार पर यह बताया कि बच्चो में जानवरों से शीघ्रतर अन्तर्दृष्टि (Insight) का आविर्भाव होता है। इसी तरह और भी कई विद्वानो ने इसकी विश्वव्यापकता को सिद्ध करने के लिए कई प्रयोगों को बच्चो पर किया है जिनका उल्लेख करना हम आवश्यक नहीं समझते। हाँ, इतना कह देना आवश्यक है कि जेस्टाल्ट-वादियों ने सभी स्थलों पर इसी के महत्त्व को बच्चो के शिक्षण में व्यक्त किया है। इसलिये उनके अनुसार बच्चो का शिक्षण अन्तर्दृष्ट्यात्मक होता है।

हम इस सिद्धान्त की विशद विवेचना नहीं करना चाहते, क्योंकि हम ऊपर देख चुके है कि बच्चो के शिक्षण में सम्बद्धप्रत्यावर्तन का क्या हाथ रहता है। आगे भी हम देखेंगे कि उनके जीवन को क्रियात्मक शिक्षण किस अंश तक प्रभावित करता है। इसलिए इसकी विवेचना स्वरूप हम इतना ही कहना प्रर्याप्त समझते है कि जेस्टाल्टवादियों का यह सिद्धान्त कई स्थलो पर उचित जँचता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सभी समय और सभी स्थलों पर यही मान्य है। यदि हम गंभीरतया विचार करें तो हमें मालूम होगा कि बच्चों में शिक्षण-प्रक्रिया जन्मोपरांत होने लगती हैं। उस समय उनमें बुद्धि पूर्णरूपेण विकसित नहीं रहती, इसलिये सभी परिस्थितियों का पूर्ण ज्ञान भी उन्हें नहीं होता। हाँ, इतना अवश्य है कि उनमें कुछ अंश में उनके व्यवहारों से बुद्धि भी परिलक्षित होती

है। इसलिये हम यही कह सकते हैं कि जो परिस्थिति उनके बुद्ध्यनुकूल रहती है उसके प्रति अभियोजन करना तो वे अन्तर्दृष्टि से सीखते हैं। किन्तु, जब परिस्थिति बहुत जटिल हो जाती है तब उस समय क्रियात्मक व्यापार का भी आविर्भाव होता है और उसी के अन्तर्गत वे समुचित प्रतिक्रिया करना सीख जाते हैं। यों तो किसी भी सिद्धान्त में, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा, हम अन्तर्दृष्टि अथवा सूझ की उपेक्षा नहीं कर सकते, लेकिन इतना होते हुए हमें यह मानना पड़ेगा कि हम बच्चों के सभी शिक्षणों की व्याख्या इस सिद्धान्त के आधार पर सन्तोपजनक नहीं कर सकते। वस्तुतः शिक्षण में अन्तर्दृष्टि का हाथ रहता है, किन्तु उसका आविर्भाव सभी स्थलों पर प्रारम्भ में नहीं होता। यदि परिस्थिति सरल रहती है तब तो शीघ्र ही इसका आविर्भाव होता है, अन्यथा कई प्रयासों के बाद और कभी कभी तो समस्याके हल हो जाने पर ही होता है। अतएव इसके महत्व को बच्चों के शिक्षण में स्वीकार करते हुए हम लोग यदि यह कहें तो कोई अनुचित नहीं होगा कि छोटे बच्चों का शिक्षण अधिकतर सम्बद्ध प्रत्यावर्तनात्मक अथवा क्रियात्मक होता है किन्तु, ज्यों-ज्यों अवस्था वृद्धि के साथ-साथ उनमें बुद्धि और विचार का विकास होता जाता है त्यों-त्यों उनका शिक्षण अन्तर्दृष्ट्यात्मक होता जाता है।

(३) क्रियात्मक शिक्षण-सिद्धान्त

(Trial-error theory of Learning)

हम ऊपर दो सिद्धान्तों की व्याख्या और उनकी सार्थकता की विवेचना कर चुके हैं। इसलिए अब यहाँ हमें यह देखना है कि क्रियात्मक शिक्षण-सिद्धान्त क्या है और इसका हाथ बच्चों के शिक्षण में कितना है। परन्तु इसके पहले कि हम इस सिद्धान्त की व्याख्या और विवेचना करें, यह व्यक्त कर देना अनुचित नहीं होगा कि इसके प्रतिपादकों में थार्नडाइक का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने ही इस सिद्धान्त को विश्वजनीन बनाने के लिए इसका प्रतिपादन भी किया है। उनका कहना है कि जीवों का शिक्षण क्रियात्मक होता है, अर्थात् जब कोई जीव किसी नई परिस्थिति मे पड़ता है तो वह उस परिस्थिति को न तो समझता है और न समझने की कोशिश करता है, वल्कि योंही किसी ध्येय के बिना अनायास (Random) व्यवहार करना प्रारम्भ कर देता है। आरम्भ में बहुत-सी अशुद्धियाँ (Errors) उसकी प्रतिक्रियाओं में होती हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों प्रयास-संख्या (Trial

number) बढ़ती जाती है त्यों-त्यों अशुद्धियों की संख्या में कमी आने लगती है। अन्त में अशुद्धियों का नामोनिशान मिट जाता है और शुद्ध प्रतिक्रिया (Right response) मात्र ही होती है। पुनः जब जीव उस परिस्थिति मे पड़ता है तो बिना गलतियों के ही समुचित प्रतिक्रिया करता है।

थार्नडाइक के इस सिद्धान्त को हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि जीव करके सीखता है। करने में उससे गलतियाँ होती हैं, किन्तु ज्यों-ज्यों अभ्यास बढ़ता जाता है त्यों-त्यों गलतियो की संख्या में कमी पड़ने लगती है और उचित प्रतिक्रिया होने लगती है। थार्नडाइक के अनुसार इस प्रकार के शिक्षण में बुद्धि और ध्येय का अभाव रहता है, इसलिए परिस्थिति के जाने बिना ही अनायास व्यवहार होना शुरू हो जाता है और उन्ही निरर्थक व्यवहारों के करते-करते जीव सार्थक व्यवहार करना जान जाता है। प्रयास संख्या की वृद्धि के साथ साथ समय और अशुद्धियों मे न्यूनता आने लगती है। मनोवैज्ञानिको ने इस सिद्धान्त को कई नामो से पुकारा है, इसीलिए कोई-कोई इसे प्रयत्न और भूल का सिद्धान्त भी कहते हैं।

अपने सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए सर्वप्रथम थार्नडाइक ने जानवरो पर प्रयोग किया। उसने एक बिल्ली को भूखा रखा; बाद मे उसने उसे भ्रांति-बक्स (Puzzle Box) मे बन्द करके उसके बाहर कुछ भूनी मछलियों को रख दिया। उस बक्स का किवाड़ इस तरह से बना हुआ था कि बटन विशेष के दबने से वह स्वयं खुल जाता था। जब पहले पहल वह बिल्ली बक्स मे रक्खी गई तो इधर-उधर कूदने लगी। उससे बाहर निकलने के लिए वह बक्स के छड़ों में मुँह डालती थी तो कभी पंजा। सारांश यह है कि उससे बाहर निकलने के लिए जितने भी व्यवहार प्रारम्भ में हुए वे सभी अशुद्ध और निरर्थक थे। उन्हीं व्यवहारों के अन्तर्गत उसका एक पैर सहसा खुलने वाली बटन पर पड़ा जिससे दरवाजा खुल गया। दरवाजा खुलते ही वह बक्स से निकलकर मछलियों को साफ कर गई। पुनः वही बिल्ली जब दूसरी बार उसी बक्स मे रखी गई तो इस बार बक्स से निकलने के लिए पहले की अपेक्षा कम गलतियाँ हुईं। इसी तरह ज्यो-ज्यो प्रयास संख्या बढ़ती गई अभ्यास के कारण अशुद्ध व्यवहारो की संख्या भी कम होती गई, अन्ततोगत्वा बिल्ली ने बटन दबा कर दरवाजा खोलना सीख लिया।

दूसरा उल्लेखनीय प्रयोग इस सम्बन्ध में थार्नडाइक का विलायती चूहों के सम्बन्ध में है। उसने कई सफेद चूहों को भूखा रख कर क्रमशः

भूलभुलैया (Maze) के केन्द्र में रखा। वह भूलभुलैया ऐसा था कि उचित रास्ते से जाने पर खाने की सामग्री मिलती थी और अनुचित रास्ते से जाने पर बिजली की चोट लगती थी। जब चूहे केन्द्र में रखे जाते थे तब वे अनायास दौड़ना शुरू कर देते थे। कई बार इधर-उधर दौड़ने और चोट खाने पर उन्हे सही रास्ता भी मिल जाता था और एक-एक कर सभी चूहे उस भूलभुलैया से निकलना सीख जाते थे। इसी प्रकार और प्रयोग थार्न-डाइक तथा उसके अनुयायियों द्वारा इस सिद्धान्त की सत्यता को प्रदर्शित करने के लिये गिये गये है, किन्तु उन सब पर प्रकाश डालने की यहाँ कोई आवश्यकता नही है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, थार्नडाइक ने इस सिद्धान्त को जान-वरों तक ही सीमित नही रक्खा है, बल्कि मनुष्यों पर भी लागू किया है। उसका कहना है कि जब किसी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने पर बच्चे को सन्तुष्टि (Satisfaction) मिलती है तो उन दोनों में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और यदि दण्ड (Punishment) मिलता है तो सम्बन्ध शिथिल पड़ जाता है। जब बच्चे को भूख लगती है तो वह रोता है और रोने पर उसे दूध पीने के लिये मिल जाता है। इसलिये भूख लगने पर बच्चा रोना सीख जाता है। इसी प्रकार वह सभी कुछ जीवन में क्रमशः क्रियात्मक विधि से सीख जाता है। जब झूठ बोलने पर उसे मार पड़ती है तो वह झूठ बोलना छोड़ देता है। इस सिद्धान्त की सफल व्याख्या के लिये उसने तीन नियमों का प्रतिपादन किया है जिन पर स्थलविशेष पर प्रकाश डाला जायगा। यहाँ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अन्य मनोवैज्ञानिकों ने भी बच्चों पर भूलभुलैया के साथ प्रयोग किया है और उन्हें भी बच्चों में विषम परिस्थितियों में क्रियात्मक शिक्षण देखने को मिला है।

अब तक इस क्रियात्मक शिक्षण की व्याख्या करते रहे हैं। इसलिये अब हमें यह देखना है कि वस्तुतः इस सिद्धान्त में वास्तविकता कितनी है। इसकी वास्तविकता के पूर्ण ज्ञान के लिये यदि हम बच्चो के शिक्षण पर ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि बच्चे बहुत कुछ अपने जीवन में करके ही सीखते हैं। जब बच्चा जूते का फीता खोलता है या पहनी हुई कमीज निकालना चाहता है तो बिना सोचे-समझे कमीज को नीचे ऊपर करने लगता है और ऐसा करते करते कमीज को खोलकर गले से बाहर निकालने का उसे उचित तरीका मालूम हो जाता है। जब प्रारम्भ में बच्चे किसी भाषा के अक्षरों को लिखना सीखते हैं तो उनसे कई तरह की गलतियाँ होती हैं, किंतु

बार-बार के अभ्यास से उन्हें ठीक-ठीक लिखना आ जाता है। इसी प्रकार सायकिल चलाना, कोई खेल विशेष खेलना, पढ़ना-लिखना कई गलतियों के बाद ही आता है। इसलिये जहाँ तक ऐसी क्रियाओं का प्रश्न है कोई भी कह सकता है कि बच्चो का सीखना क्रियात्मक होता है। परन्तु, इससे यह समझ लेना अनुचित होगा कि वे सभी कुछ इसी विधि से सीखते है। हम पहले ही देख चुके हैं कि जन्म के समय बच्चों में सभी प्रकार की प्रतिक्रियाओं को करने की योग्यता नहीं रहती, इसलिये आरम्भ में उनका शिक्षण सम्बद्ध प्रत्यावर्तनात्मक होता है, क्योंकि शिक्षण का आविर्भाव तो जन्म के बाद हो जाता है। हम यह भी देख चुके हैं कि बड़े बच्चों में बुद्धि भी विकसित हो जाती है, इसलिये उनके शिक्षण में अन्तर्दृष्टि का भी हाथ रहता है। इस विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि यह शिक्षण का एक मात्र सिद्धान्त कदापि नहीं कहा जा सकता। फिर भी यदि विचार करें तो मालूम होगा कि थार्नडाइक का यह सिद्धान्त कोई नया नहीं है, क्योंकि व्यवहारवादियों ने भी तो सम्बद्धप्रत्यावर्तन में उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध प्रस्थापन पर ही जोर दिया है। इस तरह हम देखते है कि थार्नडाइक ने एक पुरानी चीज को ही नई तरह से रखने का प्रयास किया है। यदि हम इसे एक नया और स्वतन्त्र सिद्धान्त भी मानें तो देखेंगे कि थार्नडाइक के सिद्धान्त का खण्डन उन्हीं की उक्तियों और प्रयोगो से हो जाता है। उनका कहना है कि क्रियात्मक शिक्षण में ध्येय और विचार का अभाव रहता है, परन्तु यदि हम उन्हीं के प्रयोगो पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि उनके चूहे और बिल्ली अनुचित रास्ते का चोट लगने के कारण परित्याग करते हैं और उचित रास्ते का भोजन मिलने के कारण अनुसरण करते है। यदि बिल्ली और चूहो में विचार का अभाव रहता तो वे अनुचित को छोड़ना और उचित को ग्रहण करना क्योंकर सीखते। फिर भी यदि चूहे या बिल्ली भूखी न रहती तो वह भ्रांति बक्स से निकल कर मछली खाने का प्रयास क्यों कर सकती। वे जानवर क्षुधा को शांत करने ही के लिये बाहर आना चाहते थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रियात्मक शिक्षण मे भी बुद्धि और ध्येय (Aim) रहता है। अतएव हम यही कह सकते हैं कि यद्यपि बच्चे जीवन मे बहुत कुछ क्रियात्मक सीखते है, किंतु सभी स्थलों पर यही विधि सार्थक नहीं होती, अपितु अन्य विधियों का भी आश्रय लेना पड़ता है।

हम ऊपर तीन सिद्धांतों पर प्रकाश डाल चुके हैं, किंतु उनके अतिरिक्त

दो-एक और भी सिद्धान्त हैं जिनका वर्णन करना हम आवश्यक नहीं समझते हैं। इसके पहले कि हम इस विषय को समाप्त करें, यह देख लेना जरूरी है कि इन तीनों सिद्धान्तों में पारस्परिक सम्बन्ध क्या है, अर्थात् वस्तुतः ये सिद्धान्त एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न और स्वतंत्र हैं कि इनमें कुछ सम्बन्ध भी है। इस पर यदि विचार करें तो हम यही कह सकते हैं कि यथार्थतः इन सिद्धान्तों में भिन्नता नहीं है, बल्कि इनकी व्याख्या के ढंग में भिन्नता है। एक ही तथ्य की व्याख्या इन तीनों ने अपने-अपने ढंग से की है। स्पष्टतः सम्बद्ध प्रत्यावर्तन में समुचित प्रतिक्रिया कई प्रयासो के बाद उत्पन्न होती और अन्तर्दृष्ट्यात्मक में भी समुचित प्रतिक्रिया के लिये कई अनायास प्रतिक्रियाओं का आश्रय लेना पड़ता है। उसी प्रकार सम्बद्ध प्रत्यावर्तन में कई उत्तेजनाओं में से किसी एक के प्रति प्रतिक्रिया करना अन्तर्दृष्टि का परिचायक है और क्रियात्मक शिक्षण में भी अनुचित प्रतिक्रिया को छोड़ना और उचित को अपनाना अन्तर्दृष्टि का ही द्योतक है। उत्तेजना और प्रतिक्रिया में सम्बन्ध स्थापन किसी एक में ही नहीं होता, बल्कि सभी शिक्षणो में होता है। इस प्रकार हम देखते है कि उपर्युक्त तीनों सिद्धान्तो मे प्रयास, अभ्यास, अन्तर्दृष्टि आदि सभी कुछ विद्यमान हैं। अतएव हम किसी को भी एक दूसरे का विरोधी सिद्धान्त नहीं मान सकते, बल्कि इन्हें एक दूसरे का परिपूरक मानना ही विशेष उचित होगा। दूसरे शब्दों में हम यही कहना समुचित समझते हैं कि बच्चे अपने जीवन में केवल एक ही शिक्षण सिद्धान्त से लाभान्वित नहीं होते, बल्कि सभी सिद्धान्तों का आश्रय वे समयानुसार लेते हैं।

५ शिक्षण-नियम (Laws of learning)

थार्नडाइक ने अपने शिक्षण-सिद्धान्त की सन्तोषप्रद व्याख्या के लिये कुछ नियमों तथा उपनियमों का प्रतिपादन किया है। हम सभी का वर्णन तो यहाँ नहीं कर सकते, लेकिन प्रधान शिक्षण-नियम, जैसे, अभ्यास-नियम, परिणाम-नियम तथा तत्परता-नियम पर प्रकाश डालेंगे।

(१) अभ्यास-नियम (Law of Exercise):—अभ्यास-नियम का मुख्य सारांश यह है कि बार-बार के दुहराने अथवा अभ्यास करने से किसी कौशल अथवा क्रिया के करने में दक्षता और परिपक्वता आती है। इसके अनुसार यदि बच्चा क, ख, ग आदि व्यंजन वर्णों को बराबर लिखने का अभ्यास करता रहे तो वह इन अक्षरों को शुद्ध शुद्ध लिखना जान जायेगा।

इसी प्रकार सायकिल चलाना, पतंग उड़ाना, पढना-लिखना आदि सभी में दक्षता अभ्यास के फलस्वरूप आ जाती है। इस नियम के दो पहलू हैं जिसे हम अभ्यास नियम तथा अनभ्यास-नियम (Law of Disuse) कह सकते हैं। अभ्यास-नियम का तात्पर्य यह है कि यदि किसी उत्तेजना के उपस्थित होने पर किसी प्रतिक्रिया विशेष को बार-बार किया जाय तो उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में घनिष्ठता आती है जिसके फलस्वरूप जब वह उपस्थित होती है तब उससे आबद्ध प्रतिक्रिया जीव में आविर्भूत होती है। अनभ्यास-नियम प्रतिक्रिया और उत्तेजना के सम्बन्ध की शिथिलता को व्यक्त करता है। इसके अनुसार यदि किसी उत्तेजना के प्रति जो प्रतिक्रिया होती है उसे दुहराया न जाय तो उन दोनों के बीच के सम्बन्ध में शिथिलता आ जाती है। जैसे, यदि बच्चा बार-बार लिखता न रहे तो उसे लिखने का ढंग नहीं आयगा, क्योंकि वह उसे भूल जायगा।

अब हमें यह देखना है कि थार्नडाइक के इस नियम में कहाँ तक सार्थकता है। यदि हम इस पर विचार करें तो मालूम होगा कि वस्तुतः यह नियम कई स्थलों पर अक्षरशः लागू होता है। किन्तु, इससे यह समझ लेना उचित नहीं होगा कि सभी स्थलों पर इसकी सार्थकता है। यदि हम बच्चों के शिक्षण पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि अक्षरों के लिखने, कविता-पाठ सीखने, कबड्डी खेलने, चित्रकारी आदि के सीखने मे अभ्यास का बहुत बड़ा हाथ रहता है। उनको बार-बार करने ही से तो बच्चा उनको करने का ढंग सीख जाता है। इसी प्रकार शाब्दिक शिक्षण (Verbal learning) में अनभ्यास का भी प्रभाव देखने मे आता है। यदि किसी अभिनव पाठ को बच्चा पहले पहल सीखता है और उसे बार-बार दुहराता नहीं है तो पहले का सीखा हुआ पाठ भी भूल जाता है। इसी प्रकार की बात अन्य तरह के शिक्षणो मे भी होती है। जब बच्चा किसी सीखी हुई क्रिया को दुहराता नहीं और बहुत दिनों तक उसकी उपेक्षा कर देता है तो वह क्रिया अथवा काम भूल जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यह नियम बच्चों के शिक्षण में अधिकांश लागू होता है, किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं यह शिक्षण की व्याख्या पूर्ण रूपेण करने में असमर्थ है। शिक्षण में केवल अभ्यास मात्र की ही आवश्यकता नहीं पड़ती, बल्कि और बातें भी अपेक्षित हैं।

मनोविज्ञान जगत में एक ऐसे बालक की कथा प्रसिद्ध है जिसे अंगरेजी भाषा में 'मैं घर गया हूँ' शुद्ध-शुद्ध लिखने नहीं आता था। उसके

शिक्षक ने उसे सौ बार लिखने का आदेश दिया और उसने लिखना भी शुरू कर दिया, किन्तु जब उसके शिक्षक घर चले गये तब अन्त में भी उसने अशुद्ध ही लिखा। इसी प्रकार बच्चे और सयाने कई उत्तेजनाओं का अनुभव दिन में कई बार करते हैं, किन्तु उनकी वे परवाह कुछ भी नहीं करते। इसलिये जब उनसे उनके विषय में कुछ पूछा जाता है तो वे मौन रह जाते हैं। वस्तुतः यदि दुहराने से सब कुछ सीख लिया जाता तो ऐसा कदापि नहीं होता। इस के अतिरिक्त भी डनलप ने यह प्रमाणित कर दिया है कि बार बार के दुहराने से जैसे हम कोई चीज सीखते है वैसे ही भूलते भी हैं। अतः इस दृष्टिकोण से भी यह नियम सर्वमान्य नहीं कहा जा सकता।

सच्ची बात तो यह है कि अभ्यास का हाथ शिक्षण में अवश्य रहता है, किंतु उसकी सफलता के लिये सीखने वाले में किसी ध्येय और अभिरुचि का होना आवश्यक है। बिना इन दोनों के केवल अभ्यास मात्र से ही कुछ सीखना असंभव है। यही कारण है कि स्कूलों में शिक्षक एक ही बात को कई बार बतलाते हैं, किन्तु जिन लड़कों की इच्छा और अभिरुचि उसमें नहीं रहती वे उस बात को कभी सीखने में सफलमनोरथ नहीं होते हैं। फिर भी यदि कोई जीव अशुद्ध प्रतिक्रिया को हजारों बार दुहराता रहे तो भी वह कुछ सीखने में सफल नहीं हो सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह नियम शिक्षण प्रक्रिया को अच्छी तरह स्पष्ट करने में समर्थ नहीं हो सका है, इसीलिये थार्नडाइक ने परिणाम-नियम का प्रतिपादन किया है जिस पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है।

(२) परिणाम-नियम (Law of effect):—थार्नडाइक ने अपने अभ्यास-नियम की असफलता को देखकर परिणाम-नियम का प्रतिपादन किया। इस नियम के अनुसार यदि किसी उत्तेजना के प्रति प्रतिक्रिया करने पर जीवको संतुष्टि मिलती है अथवा किसी तरह का पुरस्कार (Reward) मिलता है तो उत्तेजना और प्रतिक्रिया में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। जहाँ पुरस्कार नहीं मिलकर किसी तरह का दंड मिलता है वहाँ उत्तेजना और प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में घनिष्ठता न हो कर निर्बलता और शिथिलता आ जाती है। परिणामतः जीव उस प्रतिक्रिया को नहीं सीखता। इस नियम की सार्थकता को देखने के लिये मनोवैज्ञानिको ने बच्चों और जानवरों पर कई तरह का प्रयोग किया है। एक बार पाठशाला के विद्यार्थियो का तीन समूह बनाया गया और उन्हें एक दूसरे से अलग अलग रक्खा गया। गणितके प्रश्नों को हल करना उन्हे सिखलाया जाता था। एक समुदाय को प्रश्नों के बना

लेने पर प्रशंसा मिलती थी, दूसरे को बराबर दुत्कार मिलती थी और तीसरे को कुछ भी नहीं मिलता था। प्रयोग-विधि के बाद देखा गया कि जिन बच्चों को काम करने पर प्रशंसा मिलती थी वे गणित के सभी प्रश्नों को सीख लिये, जिन्हे फटकार मिलती थी वे कुछ भी नहीं सीख सके, किन्तु जो नियंत्रित (controlled) समूह था वह फटकार वालों की अपेक्षा अच्छा और प्रशंसावालों की अपेक्षा कम सीख सका। ऐसे और भी कितने प्रयोग इस सम्बन्ध मे किये गये है। यदि हम इस नियम की उपादेयता पर विचार करें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि इसका हाथ बच्चों के शिक्षण में महत्त्वपूर्ण रहता है। जिन बच्चों को माता-पिता और उनके शिक्षक अच्छा कामो को करने और कोई पाठ याद करने पर पुरस्कार देते हैं या उनकी प्रशंसा करते हैं, वे सभी कुछ सीखने की कोशिश करते हैं। किन्तु, जिन्हे बराबर मारपीट या फटकार मिलती है वे उस अंश तक सीखने में सफल नहीं होते हैं। किंतु, यह नियम भी सभी समय के लिये सत्य नहीं हैं। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि बहुत सी प्रतिक्रियाएँ प्रत्यक्षतः दुखद होती हैं, किंतु जीव उन्हें सीखता है। इसके अतिरिक्त, यदि सीखनेवाले की इच्छा और अभिरुचि सीखने में न हो तो किसी तरह का पुरस्कार सफल नहीं होता। वस्तुतः यह नियम सम्बद्ध प्रत्यावर्तन से भिन्न नहीं है, केवल कहने के ढंग में ही अन्तर है। इस तरह हम देखते हैं कि यह नियम कार्यान्वित होते हुये भी दोषरहित नहीं है। हाँ, यदि परिणाम को ही इच्छा और अभिरुचि का रूप सीखने वाले दे दें तो यह सर्वाङ्ग सुन्दर नियम हो जायगा और पुनः शिक्षण प्रक्रिया की व्याख्या के लिये इधर-उधर झाँकना नहीं पड़ेगा।

इन नियमो के अतिरिक्त भी कई उपनियमो का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उन सब का वर्णन करना यहाँ आवश्यक नही है। वे सभी इन्हीं दो नियमो के अन्तर्गत आ जाते हैं।

६—शिक्षण-वक्र (Learning curves)

शिक्षण-क्रम को हम ग्राफ पर रेखा आलेखन द्वारा चित्रित कर सकते है जिसे शिक्षण-वक्र कहना विशेष उचित जॅचता है। बात कुछ ऐसी है कि बच्चे या अन्य जीव जब कुछ सीखते हैं तो उनके शिक्षण में उत्कर्ष (Rise) और अपकर्ष (Fall) होता है। इसी उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान दूसरो को शिक्षण वक्र के द्वारा बहुत आसानी से होता है। यह वक्र कम से कम तीन दृष्टिकोणों

से तैयार किया जाता है। यदि अशुद्धियों के आधार पर वक्र का निर्माण किया जाय तो प्रारम्भ में इसमें उत्कर्ष प्रतीत होगा और क्रमशः प्रयासों की संख्या-नुसार उसका अपकर्ष (Fall) होता हुआ दिखलाई पड़ेगा। यदि प्रत्येक प्रयास में लगे हुये समय के आधार पर शिक्षण क्रम को अंकित करें तो भी उस रेखा की पूर्ववत अवस्था ही रहेगी। किन्तु, यदि इसी शिक्षण-विकास का अंकन हम शिक्षण-परिणाम के आधार पर करें तो इसका रूप पूर्णतः परिवर्तित दृष्टिगोचर होगा। यहाँ हम शिक्षण-परिणाम के आधार पर ही आधारित कुछ शिक्षण-वक्रों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

हम सर्वप्रथम उस शिक्षण-वक्र का उल्लेख करना श्रेयस्कर समझते हैं जो आदि से अन्त तक उच्चलित (नीचे-ऊपर) होता रहता है। कभी सीखने वाला उन्नति प्रदर्शित करता है, कभी अवनति। कभी ऐसा भी होता है कि किसी प्रयास में वक्र का रूप ऊँचे टीले की तरह हो जाता है। यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें कि रेखा में यह उच्चलन या टीला का रूप क्योकर होता है तो हमें कहना पड़ेगा कि सीखने वाले वच्चे मे सीखने की क्षमता है, किन्तु अभी तक उसे समुचित विधि नही मालूम हुई है जिसके कारण उसमें उच्चलन-क्रम देखा जाता है। दूसरी विशेषता के सम्बन्ध में जहाँ टीला का रूप वनता है कहा जा सकता है कि बच्चे में वहाँ तक सीखने की योग्यता है। इसलिये उसे शिक्षण का और अवसर मिलना आवश्यक है ताकि वह उस कौशल को पूरी तरह योग्यतानुसार सीख सके।

दूसरे शिक्षण-वक्र में अधिक उतराव-चढ़ाव नहीं देखने में आता है, वल्कि वह सरल रेखा से कुछ मिलता जुलता है इसका अर्थ यह होता है कि वच्चा उस शिक्षण से पूर्णतः अनभिज्ञ न था, वल्कि पहले से भी उसे उसकी कुछ जानकारी थी, लेकिन अभी उसका शिक्षण चरमसीमा पर नही पहुँच सका है।

किसी-किसी शिक्षण में शुरू में ही उन्नति दिखलाई देती है जिसके कई कारण हो सकते हैं। सम्भव है कि बच्चा पहले से उसे जानता रहा हो या सहसा समुचित प्रतिक्रिया को जान गया हो। इसके और भी कई कारण हो सकते हैं, किन्तु यहाँ हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कोई एक ही कारण हो सकता है, सभी कारण नहीं हो सकते।

वहुत से शिक्षण-वक्र प्रारम्भ, मध्य अथवा अन्त में सहसा उत्कर्ष को व्यक्त करते हैं जिसका तात्पर्य यह होता है कि वच्चे को शिक्षणविधि सहसा

मालूम हो गई है। प्रायः ऐसा भ्रान्तिवक्स के शिक्षण अथवा विचारात्मक शिक्षण में होता है।

इसी प्रकार और भी कई तरह के शिक्षण-वक्र होते हैं जो शिक्षण की क्रमशः गति को व्यक्त करते हैं या अन्त में परिश्रान्ति के परिचायक होते हैं, किन्तु उन सबका यहाँ वर्णन न करके हम शिक्षण-पठार (Plateau) पर प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं।

शिक्षण-पठार का बोध हम उस रेखा से करते हैं जो शिक्षण-क्रम की निरन्तर अवरुद्धता का द्योतक होती है। प्रारम्भ में बच्चा क्रमशः अपने शिक्षण में उन्नति करता है किन्तु, कुछ प्रयासो के बाद कई प्रयासों तक उसकी एक ही गति रहने के कारण कुछ दूर तक सरल रेखा-सा रूप धारण कर लेता है। इस अवस्था का आविर्भाव मनोवैज्ञानिकों ने कई कारणों से व्यक्त किया है।

पठार के कई कारणों मे से हम यहाँ प्रमुख कारणो का ही उल्लेख करेंगे। इसका पहला कारण तो यह हो सकता है कि बच्चा जिसको सीख रहा था और जहाँ तक वह सीख सका है उसके आगे सीखने की योग्यता उसमें नहीं है। इसका दूसरा कारण यह हो सकता है कि सीखनेवाले विषय में कई अंश हैं, इसलिये सरल अंश जो थे उन्हें बच्चेने आसानी से सीख लिया है, किन्तु अब जो कठिन और विषम अंश है उन्हें वह सीखने में असमर्थ है, इसीलिये उसकी शिक्षणगति मे उन्नति नहीं हो रही है। इसका कारण यह भी हो सकता है कि जिस अंश को बच्चा चाहता था उसे उसने सीख लिया है और जिसका शिक्षणक्रम अवरुद्ध है उसे वह नही सीखना चाहता है। कभी कभी शिक्षण में पठार का आविर्भाव उत्साह, इच्छा, थकावट (Ftatigue) आदि अनेक कारणो से होता है। कोई भी व्याघातक अंग शिक्षणक्रम में पठार उत्पन्न कर सकता है। यहाँ इस सम्बन्ध मे यह नहीं भूलना चाहिये कि शिक्षण-वक्र की इस विचित्र अवस्था का अन्वेषण पहले पहल ब्रायन तथा हार्टर ने किया था और तब से इस पर कई मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोग किया है जिनपर यहाँ प्रकाश डालना असम्भव है। यहाँ इसका भी उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नही होगा कि सभी बच्चों से ही क्यों, बल्कि सभी जीवों में एक शिक्षणसीमा होती है जो शारीरिक योग्यता और सामर्थ्य पर निर्भर करती है। कोई भी पद्धति या प्रयास शिक्षण को उससे आगे बढ़ाने मे समर्थ नहीं होता। यों तो सभी बच्चे उस चरमसीमा तक नहीं पहुँचते, किन्तु यदि बच्चा हर तरह की सुविधा देने पर भी उस सीमा से

आगे नहीं बढ़ता है तो समझना चाहिये कि ऐसा दैहिक सीमा (Physiological limit) के ही कारण है और फिर आगे बढ़ाने के लिये व्यर्थ का प्रयास या अभ्यास करवाना श्रेयस्कर नहीं है।

७. शिक्षण स्थानान्तरण (Transfer of Learning)

आज से बहुत दिन पहले लोगों का ऐसा विश्वास था कि बच्चे का एक विषय का सीखना उसके किसी विषय के शिक्षण में अवश्य ही सहायक होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि विद्वानों का ऐसा विचार था कि यदि एक बालक गणित के प्रश्नों को हल करना सीख गया है तो वह दूसरे प्रकार के किसी शिक्षण को भी पहले की अपेक्षा विशेष आसानी से सीख सकता है। इसीलिये पाश्चात्य देशों में बच्चों को लैटिन, फ्रेंच आदि भाषाओं को सिखाने पर विशेष जोर दिया जाता था। किन्तु, इस सम्बन्ध में कई मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया है कि सभी प्रकार के शिक्षणों में स्थानान्तरण नहीं होता, क्योंकि शिक्षण-स्थानान्तरण कई अंगों पर निर्भर करता है। यदि बच्चा किसी हिन्दी भाषा की कविता को सीख लेता है और बाद में वह संस्कृत के किसी श्लोक को सीखता है तब इस अवस्था में उसे हिन्दी कविता के पूर्व शिक्षण से कुछ अंशों में सहायता मिलने के कारण संस्कृत श्लोक का सीखना अवश्य आसान हो जायगा। किन्तु, यदि कोई बच्चा किसी कौशल को सीखकर उसके द्वारा शासन के शिक्षण में सहायता लेना चाहता है तो वह कदापि लाभान्वित नहीं हो सकता। गणित का सीखना बीज-गणित के सीखने को सरल बना सकता है, किन्तु गणित-शिक्षण साहित्य-शिक्षण को सरल नहीं बना सकता। शिक्षण स्थानान्तरण पर थार्नडाइक, उडवर्थ, टेलर, गेट आदि मनोवैज्ञानिकों ने अपने प्रयोगो द्वारा अत्यधिक प्रकाश डाला है, किन्तु यहाँ हम उनका उल्लेख नहीं करेंगे। हाँ, शिक्षण-स्थानान्तरण के अंगों का उल्लेख करते हुये यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि इसको सफल और सम्भव बनाने के लिये पहले शिक्षण और दूसरे शिक्षण में पद्धति और सीखे जाने वाले विषयों में समानता तथा एकरूपता (uniformity) हो। जो बच्चा हिन्दी भाषा सीख चुका है वह संस्कृत आसानी से सीख लेगा, क्योंकि इन दोनों के व्याकरण, वर्ण आदि में अत्यधिक समानता है।

इतना ही नहीं, बल्कि यह स्थानान्तरण शिक्षण-परिमाण पर भी निर्भर करता है। पहले शिक्षण का अभ्यास जिस अंश तक बालक करेगा उसी अंश तक स्थानान्तरण की भी सम्भावना रहती है।

सीखने वाले की बुद्धि और विधि का भी, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है, हाथ शिक्षण-स्थानान्तरण में कम नहीं रहता। जो बच्चा जितना अधिक बुद्धिमान रहेगा वह अपने पूर्व शिक्षण का उपयोग वर्तमान शिक्षण मे करने में उतना ही समर्थ होगा, किन्तु कुण्ठितबुद्धि बालक परिस्थिति को पूर्ण रूपसे न समझने के कारण अपने पूर्व शिक्षण से लाभान्वित नही हो सकता। इसी प्रकार इसमें और भी कई अंगों का हाथ रहता है, किन्तु उन सब पर प्रकाश न डालकर इतना कहना उचित समझते हैं कि अधिकांश परिस्थितियों मे शिक्षण स्थानान्तरण का व्यापार देखने में आता है, किन्तु उसकी मात्रा उपर्युक्त कई अंगों पर निर्भर करती है।

यहाँ यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि शिक्षण स्थानान्तरण के धनात्मक और निषेधात्मक दो पहलू होते है। धनात्मक स्थानान्तरण से सीखने वाले को नई प्रतिक्रिया सीखने में सहायता मिलती है, किन्तु निषेधात्मक स्थानान्तरण में पहली प्रतिक्रिया अभिनव प्रतिक्रिया में व्याघात का काम करती है।

मनोवैज्ञानिक प्रयोगशालाओं में बच्चों पर प्रयोग करके शिक्षण स्थानान्तरण के दोनों पहलुओ को देखा जा सकता है। धनात्मक पहलू को देखने के लिये काँचविवृत यन्त्र (Mirror drwaing apparatus) और निषधात्मक पहलू के लिये अंकित पत्रचयन (Card-Sorting) विधि का प्रयोग किया जा सकता है। स्थानाभाव के कारण उन प्रयोगो का सविस्तर वर्णन करना यहाँ समुचित प्रतीत नही होता।

८. शिक्षण के विभिन्न अंग (Factors)

शिक्षण कई अंगो पर निर्भर करता है, इसलिये उनका उल्लेख बच्चो के सम्बन्ध में आवश्यक है। यों तो बहुत से अंग बाल-शिक्षण को प्रभावित करते हैं, किन्तु हम प्रमुख अंगों पर ही संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

बालको का शिक्षण उनकी परिपक्वता और उनके शारीरिक तथा मानसिक विकास पर निर्भर करता है। जन्म के बाद बच्चा सभी कुछ एक ही साथ नही सीख लेता है, किन्तु क्रमशः समयानुसार सीखता है। सभी प्रकार के शिक्षणों के लिये परिपक्वता और विकास अपेक्षित है। जब तक बच्चे का मानसिक विकास पूर्ण रूपेण नहीं होता तब तक वह विषम परिस्थितियों को सुलझाना नहीं सीखता, क्योंकि उनके लिये अधिक विचारविमर्श की आवश्यकता पड़ती है। उसी प्रकार घोड़े की सवारी करना, सायकिल चलाना

आदि एक निश्चित शारीरिक विकास और परिपक्वता के बाद ही हो सकता है। यदि छोटा शिशु चाहे कि वह सायकिल चलाना सीख ले तो वह ऐसा करने में कदापि समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि उसके पहले हाथ-पैर की गतियों का नियन्त्रण करना आवश्यक है। जिस शिशु को जोड़ने-घटाने की भी योग्यता नहीं है वह बीज गणित कैसे सीख सकता है? किन्तु, परिपक्व बुद्धि के बालक उसे आसानी से सीख सकते हैं। इसलिये माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों को वे ही विषय सिखलावें जिनके लिये उनमें योग्यता और क्षमता है, क्योंकि शक्ति के बाहर विषयों को वे कदापि सीखने में समर्थ नहीं हो सकते।

प्रेरणा (Motivation) का हाथ बाल-शिक्षण में कम नहीं है। जब तक बच्चे किसी इच्छा से प्रेरित नहीं होते तब तक वे कुछ भी नहीं सीखते। शिक्षण-नियम का वर्णन करते समय इस पर प्रकाश डाला जा चुका है, अतएव यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही कहना हम पर्याप्त समझते हैं कि जब कोई चीज बच्चों को सिखलानी हो तो अभिभावक तथा शिक्षकों को प्रेरणा के महत्त्व की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। जब भी वे किसी बच्चे को कुछ सिखलाना चाहें तो उसके पहले बच्चे में उसको सीखने की इच्छा उत्पन्न कर दें ताकि वह उसे सीखने के लिये लालायित रहने के कारण उसे सरलता से सीख ले।

बालशिक्षण में अभ्यास का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है इसका उल्लेख पहले कर दिया गया है। अतएव यहाँ इस सम्बन्ध में इतना ही कह देना काफी है कि शिक्षक अथवा माता-पिता को चाहिये कि जब वे बच्चे को सीखने के लिये किसी विषय का अभ्यास करावें तो यह ध्यान में रक्खें कि बच्चे अभ्यास आवश्यक अंग अथवा प्रतिक्रिया का ही करें, निरर्थक का नहीं। यह भी ध्यान में रखना अपेक्षित है कि उनका अभ्यास सारविहीन न हो बल्कि ध्येययुक्त हो, अन्यथा वे कुछ भी अभ्यास से लाभान्वित नहीं हो सकेंगे। यही कारण है कि मनोवैज्ञानिकों ने परिणाम-नियम पर काफी जोर दिया है। इसलिये जब कभी बच्चे को अभ्यास कराया जाय तो उसे यह व्यक्त कर दिया जाय कि सीख लेने पर उसे मिठाई, खिलौना या अन्य वस्तु दी जायेगी। बच्चों का पुरस्कार भी उनके आवश्यकतानुसार ही होना चाहिये, क्योंकि ऐसा न होने पर उसको प्राप्त करने की इच्छा से वे प्रेरित नहीं हो सकते। छोटे बच्चों के सीखने के लिए फल, खिलौना, सीटी, मिठाई आदि होना विशेष श्रेयस्कर है और बड़े बच्चों को हाथ-सायकिल, आवश्यक

सामान खरीदने के लिये पैसे या रुचिकर कहानी की पुस्तकें या प्रशंसा आदि विशेष उचित जँचते हैं। विभिन्न प्रयोगों की परिणाम-तालिका से यह स्पष्ट है कि सन्तोषप्रद पुरस्कार दुःखद पुरस्कार की अपेक्षा बच्चों की शिक्षण-प्रक्रिया में विशेष सहायक होता है। यही कारण है कि बुद्धिमान शिक्षकों ने परीक्षा-फल को सन्तोषप्रद और उच्चकोटि का करने के लिये पाठशालाओं में पुरस्कार-वितरण का नियम चलाया है।

समय तथा परिस्थिति भी बालशिक्षण को प्रभावित करते हैं। यदि बच्चे समुचित वातावरण मे और समुचित समय पर कोई विषय सीखते है तो उसके सीखने मे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। किन्तु, यदि उन्हे इन दोनो सुविधाओं का अभाव रहता है तो वे उसको सीखने में असमर्थ हो जाते हैं। यदि किसी स्थान पर संगीत का बाजार गर्म हो और वहाँ हम बच्चे को गणित सिखलावें तो उसका मन सीखने मे कैसे लग सकता है? इसी प्रकार जहाँ सब लडके और लडकियाँ अपने खेलो में संलग्न हो तब उस समय हम बच्चो को खेल ही सिखला सकते हैं, अन्य चीज नहीं। कहने का तात्पर्य यह है कि जब कभी भी कोई विषय बच्चों को सिखलाया जाय तो इसका बराबर ध्यान रहे कि सीखने का समय और वातावरण उसके पूर्णतः अनुरूप हों अन्यथा बच्चे कुछ भी नहीं सीख सकते। यही कारण है कि बहुत से माता-पिता और शिक्षक असामयिक अध्यापन से अपने बच्चो को उससे लाभ पहुँचाने में पूर्णतः असमर्थ होकर उन्हे तरह तरह की अवांछित उपाधियों से सुशोभित करते हैं जिसका प्रभाव बच्चों के जीवन पर बहुत हानिकर पड़ता है।

उपर्युक्त जितने भी अंगों का वर्णन किया गया है उनसे शिक्षण-विधि का स्थान कम महत्त्व का नहीं है। हम सिद्धान्तों का वर्णन करते समय यह भी कह चुके हैं कि इन सिद्धान्तों को कभी-कभी शिक्षणविधि भी कहते हैं। इसलिये यहाँ यह व्यक्त कर देना अत्यावश्यक है कि उन सिद्धान्तो के अतिरिक्त भी सीखने की कई विधियाँ हैं जिनमें से किसी एक अथवा कभी-कभी एक से अधिक विधियों को सीखनेवाला काम में लाता है, जैसे, पूर्ण-विधि (Whole method), आंशिक विधि (Part method), निरन्तर विधि (Continuous method), व्यवधान विधि (Discrete method) आदि। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वस्तुतः प्रेरणा, अभ्यास आदि की सफलता भी शिक्षण-विधि पर निर्भर करती है। बहुत से विषय, यन्त्र आदि ऐसे हैं जिनको सीखने के लिये पूर्ण रीति

लाभप्रद सिद्ध होती है और बहुत चीजों को सीखने के लिये आंशिक रीति की जरूरत पड़ती है। उचित विधि को अपनाये बिना किसी चीज को सीखने में पूर्ण सफलता की गुंजाइश कदापि नहीं है। यदि बच्चे को आठ पंक्तियों की कोई कविता सिखलानी है या किसी साधारण यंत्र को चलाने का ढंग सिखलाना है तो इस स्थल पर निस्सन्देह पूर्ण विधि श्रेयस्कर सिद्ध होगी, किन्तु यदि किसी बहुत लम्बे पाठ या विषम यंत्र को सिखलाना है, तब तो वहाँ आंशिक रीति का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर होगा। शिक्षण-विधि की उपयोगिता के सम्बन्ध में जितने प्रयोग हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि विधि की सार्थकता सीखे जाने वाले विषय और सीखने वाले पर निर्भर करती है। इसलिये हम किसी विधि को उपयोगी या अनुपयोगी नहीं कह सकते। सभी विधियाँ अपने-अपने स्थान पर उपयोगी सिद्ध होती हैं। अतएव अभिभावकों तथा शिक्षकों का यह परम कर्त्तव्य है कि बच्चे को कुछ सिखलाते समय शिक्षण-विधि को ध्यान में रक्खें और बच्चे को विषय की उपयुक्त विधि को अपनाने की सलाह दें। इसी प्रकार और भी कितने अंग बाल-शिक्षण को प्रभावित करते हैं, किन्तु उन सब का उल्लेख करना आवश्यक नहीं, क्योंकि प्रधान अंगों के विषय में काफी कहा जा चुका है।

९. प्रौढ़ (Adult) और बच्चों के शिक्षण में अन्तर

प्रौढ़ तथा बच्चों के शिक्षण के अन्तरों पर प्रकाश डालते समय हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि इन दोनों के शिक्षण में एक ही सिद्धान्त और नियम पाये जाते है। जिन सिद्धान्तों और नियमों का प्रभाव जानवरों और प्रौढ़ों में देखा जाता है उनसे भिन्न बच्चों के सिद्धान्त और नियम नहीं होते। वस्तुतः बच्चों और सयानों में किसी तरह का आकारिक अन्तर नहीं पाया जाता, इसलिये उनके शिक्षण में भी इस प्रकार का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, उनमें विकासात्मक भेद अवश्य पड़ता है, इसलिये उनके शिक्षण मे भी कुछ भेद पड़ जाता है।

इस प्रकार हम यदि बच्चे और सयाने के शिक्षण में अन्तर प्रदर्शित करें तो यही कह सकते हैं कि बहुत विषय ऐसे हैं जिन्हें छोटे बच्चे नहीं सीख सकते हैं, किन्तु प्रौढ़ सीख सकते हैं, क्योंकि जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, शिक्षण के लिये शारीरिक और मानसिक विकास आवश्यक है। इसलिये जिनके सीखने के लिये पूर्ण विकास की आवश्यकता है, उन्हें तो

प्रौढ़ ही सीख सकते हैं, नादान बच्चे नहीं। हाँ, जो बच्चे कुछ अधिक विकसित रहते हैं वे भी उसे सीखने में सयानों की तरह सफल हो सकते हैं।

सीमित विकास होने के कारण बच्चे अपने शिक्षण में सभी विधियों को काम में नहीं ला सकते किन्तु, प्रौढ़ आवश्यकतानुसार किसी विधि का भी उपयोग कर सकते हैं। प्रयोग करने पर यह देखा गया है कि प्रौढ़ जितनी सफलता के साथ अपने शिक्षण में पूर्ण रीति का व्यवहार करते हैं वह सफलता बच्चो को प्राप्त नहीं होती। यही कारण है कि छोटे बच्चे प्रायः आंशिक रीति का ही आश्रय लेते हैं।

प्रौढ़ जिन विषम परिस्थितियो में अभिनव प्रतिक्रियाएँ चिन्तन और भाषा के आश्रय द्वारा करने मे समर्थ होते हैं उन्हीं परिस्थितियों में बच्चे चिन्तन और भाषा का आश्रय लेने में असमर्थ होने के कारण शारीरिक क्रियाओं द्वारा अभिनव प्रतिक्रियाओं को सीखते हैं। यह अन्तर इन दोनो के शिक्षण मे इसलिये पड़ता है कि प्रौढ़ों का अनुभव अत्यधिक रहता है, किन्तु बच्चों का अनुभव अत्यन्त सीमित होता है।

प्रौढ़ और बड़े बच्चे निरीक्षण और अनुकरण से अपने शिक्षण में लाभान्वित होते हैं, किन्तु छोटे बच्चे उनसे लाभान्वित नहीं होते। यद्यपि उनमें अनुकरण की जन्मजात प्रवृत्ति होती है, किन्तु पूर्णविकसित न होने के कारण उनमें बुद्धि और विचारकी पूर्णता नहीं रहती। ध्यान-प्रक्रिया (Attention) भी उतनी विकसित नहीं रहती। इन्हीं सब कारणों से इस दृष्टिकोण से इन दोनो के शिक्षण मे अन्तर पड़ता है।

जहाँ तक प्रेरणा का सम्बन्ध है उसके विषय में हम यही पाते हैं कि प्रौढ़ों की प्रेरणाएँ बच्चो की प्रेरणाओं से भिन्न होती हैं। इसलिए जिन इच्छाओं से प्रौढ़ कुछ सीखते हैं उन इच्छाओं का महत्त्व बच्चों के जीवन में नहीं रहता।

इन दोनो मे अन्तर दिखलाने के लिये हम यह कह सकते हैं कि बच्चो के बहुत शिक्षण अपरिपक्वता के कारण अस्थायी हाते हैं, किन्तु प्रौढ़ों के शिक्षण स्थायी होत है। यही कारण है कि किसी बात को बार-बार सिखलाने पर भी बच्चे भूल जाते हैं, किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति को एक बार का सिखलाना ही पर्याप्त होता है। इसी प्रकार इन दोनो के शिक्षणों में और भी कई अन्तर दिखलाये जा सकते है, किन्तु ये ही प्रधान अन्तर हैं।

१०. बाल्य-जीवन में शिक्षण का महत्त्व

बाल्य-जीवन में शिक्षण का क्या महत्त्व है, इसके सम्बन्ध में बहुत कुछ

विषय-प्रवेश में कहा जा चुका है, किन्तु पुनरावृत्ति दोष होते हुये भी हम इतना कहना आपत्तिजनक नहीं समझते हैं कि शिक्षण पर बच्चों के जीवन की सफलता निर्भर करती है। उन्हें सभी कुछ इसी के द्वारा प्राप्त होता है। हम शिक्षण के अंगों का वर्णन करते समय यह भी देख चुके हैं कि माता-पिता तथा शिक्षक को बच्चे को कोई विषय किस तरह सिखलाना चाहिये। अतएव इतना ही कहकर हम इस अध्याय को समाप्त करेंगे कि शिक्षण के द्वारा बच्चों की योग्यताओं का सुचारु रूप से विकास होता है। जिन कार्यों को प्रारम्भ में करने के लिये अधिक समय की जरूरत पड़ती है, सीखने पर वे ही कार्य थोड़े समय में हो जाते हैं। शिक्षण के द्वारा बच्चे निरर्थक क्रियाओं का परित्याग करते और सार्थक प्रतिक्रियाओं को अपनाते हैं और उन्हें पहले जो निरर्थक प्रतीत होता है, सीखने पर उसी में सार्थकता आ जाती है। यदि हम यह कहें कि बच्चों को कौशल, ज्ञान आदि जो कुछ भी प्राप्त होते हैं सभी शिक्षण के ही प्रताप से तो इसमें किसी तरह की अतिशयोक्ति न होगी। इतना ही नहीं, बल्कि शिक्षण का महत्त्व उनके जीवन में इतना है कि उसी के चलते वे अपने को विभिन्न प्रकार के वातावरण में अभियोजित करने में समर्थ होते हैं। यदि शिक्षण की योग्यता उनमें नहीं होती तो वे कदापि वातावरण में सन्तुलन नहीं ला सकते। अतएव हम यह कह सकते हैं कि शिक्षण का महत्त्व बच्चों के जीवन के सभी पहलुओं में है।

नवाँ अध्याय

V. V. [illegible]

कल्पना-विकास

(Development of Imagination)

१. कल्पना का स्वरूप

कल्पना (Imagination) पद का व्यवहार मनोवैज्ञानिकों ने कई अर्थों मे किया है, परन्तु यहाँ हम इसका प्रयोग अत्यन्त सीमित अर्थ में करेंगे । कोई बच्चा अथवा प्रौढ एक सुन्दर वाटिका में टहलने के लिये जाता है और वहाँ सुन्दर-सुन्दर फूलों तथा अन्य दृश्यो का अवलोकन करता है। टहलने के बाद जब वह अपने घर आता है तो उसके मानस पटल पर उस वाटिका का एक सुन्दर चित्र अंकित हो जाता है। मानस पटल पर की यह चित्रांकन-प्रक्रिया कल्पना कहलाती है। दूसरा व्यक्ति कही किसी घोड़े को देखता है और कहीं सोना देखता है, बाद में वह अपने मानस पटल पर एक स्वर्णाश्व (Golden horse) का चित्र अंकित करता है। यहाँ भी मानस पटल पर स्वर्ण-अश्व को चित्रित करने की प्रक्रिया को कल्पना ही कहेंगे। किन्तु, हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यद्यपि मनोवैज्ञानिकों ने इन दोनो प्रक्रियाओं को कल्पना का नाम दिया है लेकिन, इन दोनो मानसिक प्रक्रियाओ में कुछ अन्तर है। पहले उदाहरण पर विचार करने पर ज्ञात होगा कि उस अवस्था में किसी नई रचना का निर्माण मानस पटल पर नहीं हुआ है, किन्तु गत अनुभवो को ही उनकी पूर्वावस्था में चित्रित किया गया है। परन्तु, दूसरे उदाहरण मे गत अनुभवों के आधार पर एक नई रचना रची गयी है। वस्तुतः गत अनुभवो को ही मानस पटल पर नया रूप देना कल्पना है। इसीलिये कुछ मनोवैज्ञानिकों ने पहली प्रक्रिया को प्रतिमा (Imagery) और दूसरी को कल्पना के नाम से अभिव्यक्त किया है। परन्तु, यहाँ हम दोनो प्रक्रियाओ का उल्लेख कल्पना के ही अन्तर्गत करेंगे। बाद में पढते समय पाठको को इन दोनों का अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जायगा।

ऊपर के उदाहरणो से यह स्पष्ट है कि कल्पना में हम अपने अतीत अनुभवों को काम मे लाते हैं। लेकिन, इससे यह नही समझना चाहिए कि स्मृति का ही दूसरा नाम कल्पना है, क्योकि कल्पना में मानस पटल पर अंकित चित्र, स्मृति से भिन्न होते है। स्मृति के समय हमारे पुराने अनुभवो की मौलिकता में बहुत कम परिवर्तन होता है किन्तु, कल्पना के समय

न्यूनाधिक के कारण उसकी मौलिकता में अत्यधिक अन्तर पड़ता है। इस तरह हम देखते हैं कि कल्पना के लिये गत अनुभवों का होना आवश्यक है। हम जिस चीज का अनुभव नहीं किए रहते हैं उसकी कल्पना करने में भी असमर्थ होते हैं। यह विश्वविदित है कि बहरा व्यक्ति स्वर और अंधा व्यक्ति रूप की कल्पना नहीं कर सकता। कल्पना के लिये स्मृति की प्रबलता की भी जरूरत पड़ती है, क्योंकि हम पहले देख चुके हैं कि हमारी कल्पना गत अनुभवों पर निर्भर करती है। इसलिये इसके लिये पुराने अनुभवों का स्मरण अत्यावश्यक है। इसके अभाव में कल्पना असम्भव है। इसके स्वरूप को और भी स्पष्ट करने के लिये यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि परिस्थिति के अनुसार इसमें और भी कई प्रक्रियाएँ होती हैं। हम ऊपर स्वर्णाश्व की कल्पना में देख चुके हैं कि इसमें संयोजन क्रिया क्योंकर होती है। इसी तरह मौलिक अनुभव में से किसी अंग को कल्पना में अलग कर देने से विच्छेद, एक पहलू या अंग के स्थान पर दूसरा अंश स्थापित करने से स्थानापन्नता (substitution) और घटा बढ़ा देने से न्यूनीकरण अथवा विवृद्धि की प्रक्रियाएँ होती है।

२. कल्पनोत्पादक परिस्थितियाँ (Imagination arousing situations)

कल्पनाओं का अनुभव बच्चों या प्रौढ़ों को सभी समय नहीं होता, बल्कि अवसर विशेष पर होता है। प्रतिकूल परिस्थिति रहने पर इनका आविर्भाव होना असम्भव है। हम लोगों के अतीतानुभव के उपकरण अथवा वर्तमान संवेदनात्मक (Sensory) अनुभव ही इनको उत्पन्न करने में सदा सहायक होते है। यदि हम कल्पनोत्पादक परिस्थितियों पर विचार करें तो मालूम होगा कि जब हम लोगों के सामने कोई ऐसी घटना अथवा परिस्थिति मौजूद हो जाती है जिसका अर्थ हम नहीं समझते हैं तब उस समय हम लोगों मे विभिन्न कल्पनाओं का आविर्भाव होता है। किसी परिस्थिति के सम्बन्ध मे हमारा अधूरा चिन्तन भी कल्पना को जन्म देता है। जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा, कल्पना का ध्येय किसी इच्छा को सन्तुष्ट करना रहता है, इसलिये परिस्थिति की अनभिज्ञता या उसके प्रति अपूर्ण विचार कल्पना को उत्पन्न करता है।

जब दो ऐसी परिस्थितियाँ उपस्थित होती हैं जो एक दूसरे से स्वरूप में भिन्न होती हैं तब उस समय भी हममे कल्पना का आविर्भाव होता है।

ऐसे समय हम लोग एक ऐसी परिवर्तित परिस्थिति की कल्पना करते हैं जिसमें हमारी किसी इच्छा विशेष की संतुष्टि हो सके।

किसी परिस्थिति में परिवर्तन लाने के लिये भी कल्पना का आविर्भाव होता है। जब हम पुस्तकालय की पुस्तकों के रखने में एक नया रूप देना चाहते हैं तब उस समय कल्पना उत्पन्न होती है।

इतना ही नहीं, बल्कि जब हम प्रतिकूल परिस्थिति के कारण वास्तविकता का सामना करने में असफल होते हैं तो उस समय अपनी अतृप्त इच्छा की संतृप्ति के लिये अपने मनोनुकूल कल्पनाओ का निर्माण करते हैं, क्योंकि कल्पना संसार मे हमारी इच्छाएं संतृप्त होती हैं। इसी तरह और भी कई परिस्थितियाँ हमारी कल्पना को जन्म दे सकती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी समय कल्पनाओं का अनुभव करना सम्भव नहीं, बल्कि अवसर विशेष पर कल्पनानुकूल परिस्थिति होने पर ही उसका अनुभव किया जा सकता है।

३. कल्पना-प्रकार (Kinds of Imagination)

यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना की सत्ता को बच्चों या सयानों में अस्वीकार किया है, किन्तु विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा यह प्रमाणित कर दिया गया है कि कल्पनाओं की सत्ता उतनी ही सत्य है जितनी की विश्व में अन्य दृश्य पदार्थों की। फोरसीथ, हिक्स, गाल्टन, एलपॉर्ट आदि मनोवैज्ञानिकों के प्रयोग इस सम्बन्ध में विशेष उल्लेखनीय हैं जिन्होंने बच्चो की कल्पनाओं पर प्रयोग करके उनकी सत्ता का प्रस्थापन किया है। कल्पना प्रक्रिया केवल सयानो में ही विद्यमान नहीं रहती, बल्कि उसकी योग्यता बच्चों में भी रहती है। अब कल्पना-प्रकार का उल्लेख करने के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि कल्पना का विभाजन कई दृष्टिकोणों से किया गया है, परन्तु यहाँ हम बच्चो की कल्पना का विभाजन मौलिकता के ही आधार पर करेंगे। इस आधार पर कल्पना के दो प्रकार होते हैं—पुनरावृत्यात्मक (reproductive) कल्पना और रचनात्मक (constructive) कल्पना।

(१) पुनरावृत्यात्मक कल्पना :—जब हम अपने पुराने अनुभवों को उनकी अनुपस्थिति मे अपने मानस पटल पर लाते हैं तो इसे पुनरावृत्यात्मक कल्पना कहा जाता है। ऐसी कल्पना में हम किसी अभिनव वस्तु का अनुभव नहीं करते, बल्कि हमें अपने अतीत अनुभव अपनी पूर्वावस्था मे

अनुभूत होते हैं। इस प्रकार इसका आधार सदा हमारा अतीत संवेदनात्मक या प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है। ऐसी कल्पना में मौलिक अतीत अनुभव को ही वर्तमान में अपने मानस पटल पर चित्रण रूप में अंकित करते हैं। लेकिन, इसे स्मृति समझना अनुचित होगा, क्योंकि इसमें और स्मृति (Memory) में अन्तर होता है। इस पर प्रकाश डालने की आवश्यकता इस स्थल पर विशेष नहीं है। मानलें, हमारे सामने एक सुन्दर महल है जिसको हम देख रहे हैं, जब हम उससे दूर चले जाते हैं तो हम उसका चित्र अपने मानस पट पर चित्रित करते हैं। यों तो इस प्रकार के अनुभव को मनोवैज्ञानिकों ने सामान्यतः कल्पना के ही नाम से अभिव्यक्त किया है, किन्तु इसे प्रतिमा (Imagery) कहना विशेष उचित जँचता है, जैसा कि और भी मनोवज्ञानिकों ने इसके सम्बन्ध में उल्लेख किया है। वस्तुतः कल्पना में पुराने अनुभवों के आधार पर नवीन सृष्टि की रचना होती है जिसका इसमें अभाव रहता है। इसलिये आगे हम इस प्रकार की कल्पना को प्रतिमा के ही नाम से अभिव्यक्त करेंगे।

यों तो कुछ मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना की सत्ता को अस्वीकार किया है, किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो इसकी सत्ता को बच्चों में होना स्वीकार नहीं करते। परन्तु, ये दोनों उपर्युक्त दृष्टिकोण सामान्यतः दोषपूर्ण हैं, क्योंकि बच्चों पर इस सम्बन्ध में जो प्रयोग किये गये हैं उनसे स्पष्ट है कि उनमें इस प्रकार की कल्पना की शक्ति सबसे अधिक होती है। कभी-कभी तो उनकी प्रतिमाएँ इतनी स्पष्ट (Clear) और सजीव (Lively) होती हैं कि वे उन्हें भ्रमवश प्रत्यक्ष ही समझते हैं। इसके सम्बन्ध में आगे चलकर प्रकाश डाला जायेगा। पहले बच्चे उन्हीं पदार्थों की प्रतिमाओं का अनुभव करते हैं जो उनके सामने मौजूद रहते हैं, किन्तु ज्यों ज्यों उनका मानसिक तथा शारीरिक विकास होता है त्यों-त्यों उनकी प्रतिमाओं की संख्या में विवृद्धि होती जाती है। ग्रीफिथ ने जो प्रयोग बच्चों पर किया है उससे यह स्पष्ट है कि बच्चे अधिकांश स्थिर (Static) पदार्थों (दरवाजा, दावात, चारपाई आदि) की ही प्रतिमा का अनुभव करते हैं। गत्यात्मक (Dynamic) पदार्थों (चलती गाड़ी, रिक्सा, दौड़ता कुत्ता आदि) की प्रतिमाओं की संख्या स्थिर प्रतिमाओं के आधे के लगभग होती है। अन्य स्वरूप की प्रतिमाओं अथवा कल्पनाओं की संख्या बहुत कम होती है। कहने का अभिप्राय यह है कि इन प्रतिमाओं का अभाव बच्चों में नहीं रहता, बल्कि उनके विकास के साथ-साथ इनकी शक्ति और संख्या बढती जाती है।

ऐसी प्रतिमाएँ बच्चों के जीवन में बहुत लाभदायक होती हैं। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षक को चाहिए कि वे बच्चों को ऐसी प्रतिमाओं की शक्ति बढ़ाने में समुचित उपायों से सहायक हो।

प्रतिमा-प्रकार (Types of Imagery or Image-Types)

इसके पहले कि हम रचनात्मक (Constructive) कल्पना का उल्लेख करें, प्रतिमा-प्रकार का वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। हम पहले ही व्यक्त कर चुके हैं कि पदार्थ की अनुपस्थिति में जब उसका चित्र अपने मानस पटल पर खींचते हैं तो उसे प्रतिमा कहते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि अनुभव के आधार पर हमारी प्रतिमाएँ कई प्रकार की होती हैं। जब हम देखे हुए पदार्थ की प्रतिमा का अनुभव करते हैं तो उसे दृश्य प्रतिमा (Visual Image) कहते है, उसी प्रकार घ्राण-प्रतिमा, (Olfactory Image), स्वाद प्रतिमा (Gustatory Image), स्पर्श-प्रतिमा (Tactual Image), श्रव्य प्रतिमा (Auditory Image), स्नायविक प्रतिमा (Kinesthetic Image) का नामकरण किया जा सकता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रतिमाओं की स्पष्टता और सजीवता के आधार पर मनोवैज्ञानिको ने मनुष्यो का प्रतिमा-प्रकार में विभाजन किया है। इस दिशा मे सर्व प्रथम गाल्टन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। कुछ मनोवैज्ञानिको का मत है कि मनुष्यो को विशुद्ध प्रतिमा-प्रकार मे बॉटा जा सकता है। किंतु, ब्रेट के प्रयोग से यह प्रमाणित है कि विशुद्ध प्रतिमा-प्रकार असंभव है, क्योंकि सभी व्यक्तियो में न्यूनाधिक अंश मे सभी प्रकार की प्रतिमाओं की शक्ति विद्यमान रहती है। अतएव मिश्रित प्रतिमा-प्रकार (Mixed Imagery type) का ही व्यक्ति होता है। विभिन्न प्रयोगो स यह भी स्पष्ट है कि यद्यपि सभी प्रकार की प्रतिमाएँ किसी मे हो सकती हैं, किन्तु दृश्य, श्रव्य, तथा स्नायविक प्रतिमाओं का ही बाहुल्य रहता है। किन्तु, इसस यह नही समझ लेना चाहिए कि अन्य प्रकार की प्रतिमाओ की प्रबलता किसी व्यक्ति मे नहीं होती। कोई व्यक्ति घ्राण अथवा स्वाद प्रतिमा का अनुभव अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा अधिक कर सकता है, किन्तु ऐसा बहुत कम स्थलो पर देखने में आता है। इस उपर्युक्त विवेचन के आधार पर प्रतिमा-प्रकार के सम्बन्ध में हम यही कहना समुचित समझते हैं कि जिस व्यक्ति में जिस प्रकार की प्रतिमा की शक्ति अन्य प्रतिमाओं की अपेक्षा अधिक हो उसे उस प्रतिमा-प्रकार मे बाँटना अनुचित नहीं। मिश्रित-प्रतिमा-प्रकार इसलिए

विशेष उचित नहीं जँचता कि बहुत से ऐसे बड़े-बड़े विद्वान और मनीषी मिले हैं जिनमें किसी प्रतिमा विशेष की सत्ता का पूर्णतः अभाव रहा है।

यों तो प्रतिमा-प्रकार का निश्चयन कई विधियों से होता है, किन्तु यहाँ हम गाल्टन की प्रश्नावलि पद्धति (Questionnaire method) का ही उल्लेख करना पर्याप्त समझते हैं। अधिकांश मनोवैज्ञानिक इसी का आश्रय लेते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह पद्धति पहले पहल गाल्टन के द्वारा काम में लाई गई थी। इसके द्वारा प्रतिमा-प्रकार का निर्धारण करने के लिये प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों से आबद्ध प्रश्न तैयार कर लिये जाते हैं और उन्हीं प्रश्नों को प्रयोज्य (Subject) से पूछा जाता है। प्रयोज्य को प्रश्न से आबद्ध प्रतिमा की स्पष्टता को व्यक्त करने का आदेश दिया जाता है। विभिन्न मात्रा की स्पष्टता के लिए अंक निश्चित रहते हैं। यदि वह प्रतिमा का अनुभव करने में असमर्थ होता है तो उसे शून्य अंक दिया जाता है, यदि वह प्रतिमा बहुत क्षीण (Faint) तथा धुँधली (Hazy) होती है तो एक। इसी प्रकार सामान्य स्पष्टता के लिये दो, अत्यन्त स्पष्ट के लिये तीन और प्रत्यक्ष-सा स्पष्ट के लिए चार अंक दिया जाता है। प्रयोक्ता (experimenter) अपनी सुविधा तथा आवश्यकतानुसार प्रतिमा की स्पष्टता की विभिन्न मात्राओं के द्योतक माप-दण्ड (Scale) को तैयार कर सकता है। प्रश्नों के स्वरूप निम्नांकित प्रकार के होते हैं :—

१—क्या तुम पके आम की कल्पना कर सकते हो ?

२—क्या तुम बाँसुरी के स्वर की प्रतिमा का अनुभव कर सकते हो ?

३—क्या दौड़ने की कल्पना कर सकते हो ?

४—क्या रसगुल्ला के स्वाद की कल्पना कर सकते हो ?

५—क्या गर्म जल के स्पर्श की कल्पना कर सकते हो ?

६—क्या गुलाब के गन्ध की कल्पना कर सकते हो ? आदि। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों से आबद्ध बराबर संख्या में प्रयोज्य से प्रश्न पूछे जाते हैं और तब विभिन्न प्रकार की प्रतिमाओं की स्पष्टता का निश्चय किया जाता है।

(२) रचनात्मक कल्पना (Constructive Imagination):— रचनात्मक कल्पना का स्वरूप पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना से पूर्णतः भिन्न होता है, क्योंकि इस प्रकार की कल्पना से हम एक अभिनव सृष्टि का निर्माण करते हैं। इसके आधार हमारे गत अनुभव रहते हैं, किन्तु उनकी कल्पना इस प्रकार की होती है कि वे पूर्णतः नवीन प्रतीत होते हैं। इसे हम यों कह सकते हैं कि रचनात्मक कल्पना के आविर्भाव का श्रेय हमारे अन्तस्थल

को रहता है, प्रत्यक्ष ज्ञान को नहीं। जब किसी वस्तु विशेष के विभिन्न अंगों को मिलाकर कलाकार उसे एक नये वस्तु के रूप में परिणत कर देता है तो हमें रचनात्मक कल्पना का उदाहरण मिलता है। वस्तुतः यही अभिनव सृष्टि-निर्माण कल्पना है। साधारणतः इसके दो भेद होते हैं—ग्रहणात्मक (Receptive) और आविष्कारात्मक (Inventive)।

बच्चों मे पहले ग्रहणात्मक कल्पना का आविर्भाव होता है। जब वे अपनी बूढ़ी दादी या माता से कथा-कहानी सुनते है तो वे कहानियाँ उनकी कल्पना का विषय बन जाती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि इस कल्पना का आधार दूसरो के द्वारा वर्णित घटनाएँ, किस्सा कहानी आदि होती है। बच्चे किसी को कुछ कहते हुए सुनते हैं और उसकी कल्पना वे स्वयं अपने मन में करने लगते हैं।

आविष्कारात्मक कल्पना की शक्ति बच्चों मे पर्याप्त मानसिक विकास के बाद होती हैं। ऐसी कल्पना का आविर्भाव वे अपने अनुभव के आधार पर करते हैं। इसमे यद्यपि बीजतत्त्व (Elements) पुराने रहते हैं, किन्तु इसकी रचना बच्चे अपने अनुभव के सहारे करते हैं। यह बच्चो के जीवन मे बहुत उपयोगी सिद्ध होती है। इसी के सहारे बच्चे अपनी समस्याओं (Problems) को हल करने मे समर्थ होते है। नए-नए आविष्कार इसी के प्रसाद से होते है। बहुत बच्चों मे इसकी योग्यता सात आठ वर्ष की अवस्था मे भी देखने मे आती है। यदि हम बच्चों के खेलों का सूक्ष्म अवलोकन करें तो हमें उनके खेलो मे इसका महत्त्व दृष्टिगोचर होगा। लेखक स्वयं एक ऐसे प्रख्यात आधुनिक कवि को जानता है जिसने अपनी कविता सर्वप्रथम सात वर्ष की अवस्था में लोअर प्राइमरी कक्षा के भवन में बनाई थी। बच्चों की कहानियाँ, खेल आदि उनकी रचनात्मक कल्पना के ही द्योतक होते हैं।

४. बाल-कल्पना की विशेषताएँ

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने जो प्रयोग बच्चों पर कल्पना के सम्बन्ध मे किया है उन सभी प्रयोगों से विदित होता है कि उनमे दृश्य-प्रतिमा की विशेषता रहती है। यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि बच्चो की कल्पनाओं में दृश्य-प्रतिमा का क्यों बाहुल्य रहता है? यदि इस प्रश्न के उत्तर पर विचार किया जाय तो यही कहा जा सकता है कि उनके मानस जीवन पर जितना प्रभाव किसी दृश्य पदार्थ या घटना का पड़ता है उतना और किसी का नहीं। इसलिए उनमें इस स्वरूप की प्रतिमा की अधिकता

होती है। बच्चों का अनुभव अत्यन्त सीमित रहता है, अतएव वे जिन चीजों को देखते हैं उन्हीं की कल्पना करने में समर्थ होते हैं। यही कारण है कि उनमें प्रायः दृश्य प्रतिमा पाई जाती है।

इतना ही नहीं, बल्कि प्रयोग करने पर यह भी पाया गया है कि वे अधिकतर समूर्त (Concrete) कल्पना में ही सफल होते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि वे घोड़ा, हाथी, पुस्तक आदि पदार्थों को अपने मानस पटल पर चित्रित करते हैं, इन शब्दों को नहीं। यही कारण है कि कभी-कभी वे अपनी कल्पना को भ्रमवश समूर्त समझ जाते हैं। जब कोई बच्चा कोयल की कल्पना करता हो तो उसके मानस पट पर कोयल का चित्र खिंच जाता है, इसी प्रकार अन्य पदार्थों की प्रतिमा का वह साकार अनुभव करता है, अन्य प्रकार का नहीं।

बच्चों की कल्पनाएँ अत्यधिक परिमाण में पाई जाती हैं। वे जो कुछ भी सोचते हैं अपनी कल्पनाओं के आधार पर। कहने का तात्पर्य यह है कि उनमें कल्पनाओं का बाहुल्य रहता है। यहाँ भी यह प्रश्न हो सकता है कि बाल्यजीवन में कल्पना का बाहुल्य क्यो रहता है? इसके उत्तरस्वरूप यहाँ कहा जा सकता है कि मनुष्य मे जितनी उच्च मानसिक प्रक्रियाओं का विकास होता है उन सबमें पहले कल्पना शीघ्र विकसित हो जाती है। अतएव उनका कल्पनात्मक (Imaginative) पहलू अत्यधिक समृद्ध रहता है।

बच्चों पर जितने भी प्रयोग कल्पना सम्बन्धी किए गए हैं उन सबसे प्रमाणित होता है कि उनकी कल्पनाएँ बहुत स्पष्ट और सजीव होती हैं। यदि उनकी कल्पनाओं की स्पष्टता और सजीवता के कारण पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि उनका ज्ञान अत्यन्त सीमित रहता है। उन्हें सभी विषयों का ज्ञान उपलब्ध नहीं रहता। इस ज्ञान की अपरिपक्वता के कारण उनमें जिन प्रतिमाओं या कल्पनाओं का आविर्भाव होता है वे बहुत ही सबल और स्पष्ट होती हैं। प्रयोग करने पर पता चला है कि बाल्य जीवन में प्रतिमाएँ जितनी स्पष्ट और प्रबल होतीं हैं उतनी और किसी अवस्था में नहीं होतीं। इसीलिये जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वे अपनी कल्पना को वास्तविक समझ बैठते हैं और परिणामतः उनसे कई तरह की हानियाँ हो जाती हैं।

उनकी कल्पनाओ में प्रतीकता (Symbolism) का सामंजस्य रहता है। वे अपनी कल्पना में मिट्टी की मूर्ति को बच्चा, लाठी के घोडे को सचमुच का घोड़ा और धूल से घेरे हुए स्थान को महल आदि समझते हैं।

यदि हम उनके खेलों का निरीक्षण करें तो उनकी प्रतिमा की यह विशेपता और भी स्पष्ट हो जायगी, क्योंकि जब वे कागज की नाव को पानी में तैरने के लिए छोड़ देते या कागज की टोपी अपने मस्तक पर रख लेते हैं तो वे यह नहीं अनुभव करते कि वस्तुतः यह खिलवाड मात्र है। उन्हें तो ऐसा मालूम होता है कि सचमुच वे टोपी ओढ़े हुए है और उनकी नाव पानी में तैर रही है। कहने का सारांश यह है कि बच्चे अपनी कल्पनाओं में एक पदार्थ को दूसरे पदार्थ का प्रतीक समझते हैं।

उपर्युक्त विशेषताओं से रुचिकर विशेषता उनकी कल्पनाओं की परिवर्त्तन-शीलता है। निरंतर उनकी कल्पनाएँ एक ही स्वरूप की नही होतीं, बल्कि अवस्था वृद्धि के साथ-साथ उनके स्वरूप में परिवर्त्तन होता रहता हैं। स्थल विशेष पर कहा जा चुका है कि प्रारम्भ में बच्चों की कल्पनाएँ पुनरावृत्त्यात्मक (Reprcductive) होती हैं। वे जो अपनी आँखों से देखते हैं उसी का चित्र अपने मानस पटल पर चित्रित करने में समर्थ होते हैं। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किंडरगार्टेन अथवा पूर्व पाटशालीय बच्चो (pre-school children) पर किये गए प्रयोग इसके साक्षी हैं कि इस अवस्था के बच्चों में अनुकरणात्मक (Imitative) एवं पुनरावृत्त्यात्मक कल्पनाओं का ही बाहुल्य रहता है। एंड्रयुज ने सौ बच्चो पर प्रयोग करके यह प्रदर्शित किया है कि तीन से चार बर्ष के बच्चो मे रचनात्मक कल्पनाओं का आधिक्य रहता है जब कि उनकी अभिरुचि भूत-प्रेत और परियों की कहानियों के कहने और सुनने मे रहती है। इस उम्र के बच्चे अधिकांश इसी प्रकार के कल्पना-जगत मे विहार करते हैं और ऐसी-ऐसी बातें करते हैं जिन पर विश्वास करना कठिन होता है। जब उनकी अवस्था में विवृद्धि होती है और जब वे दस-बारह वर्ष के हो जाते है तब उस समय उनमें ऐसी कल्पनाएँ नहीं रहतीं। अब इनकी कल्पनाएँ व्यावहारिकता का रूप ग्रहण कर लेती हैं, अर्थात् वे ऐसी ही कल्पना करते है जिसकी सत्ता विश्व में सम्भव रहती है। इसे दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि दस से तेरह वर्ष के बच्चे सम्भव (Possible) की ही कल्पना करते हैं असम्भव (Impossible) की नहीं। उनके खेलों का अवलोकन करने से उनकी कल्पना पर अच्छा प्रकाश पडता है। इस समय उनकी कल्पनाएँ आत्मगत (subjective) न होकर विधेयात्मक (objective) होती हैं जिनका एकमात्र ध्येय किसी लक्ष्य को प्राप्त करना रहता है। स्ल्युभ ने अपने प्रयोगों द्वारा विभिन्न अवस्थाओं के बच्चों

की कल्पनाओं का दिग्दर्शन कराकर उनकी परिवर्त्तनशीलता पर पर्याप्त प्रकाश डाला है।

किशोरावस्था में बालकों का मन अत्यन्त संवेगात्मक (Emotional) रहता है। उनमें तरह-तरह के भावों और विचारों का सामंजस्य रहने के कारण उनकी कल्पनाओं में भी तरह-तरह का सामंजस्य रहता है। इस समय भी उनकी कल्पनाएँ आत्मगत होती हैं और वे अधिकांश दिवा-स्वप्न (Day Dreaming) के शिकार बने रहते हैं। किन्तु, दिवा-स्वप्न में विचरण करने वालों में अन्तर्मुखी (Introvert) बच्चों का ही आधिक्य रहता है। इस समय की कल्पनाओं को भी हम पहली अवस्था की कल्पनाओं के स्वरूप का कह सकते हैं, क्योंकि दोनो के स्वरूपों में बहुत अधिक समानता रहती है। लेकिन, जब बच्चा इस अवस्था का अतिक्रमण कर जाता है तब फिर उसकी कल्पनाएँ व्यावहारिक हो जाती हैं जिनका आविर्भाव किसी लक्ष्य विशेष की प्राप्ति के लिये होता है। अब उनकी कल्पनाएँ इतनी लाभप्रद प्रमाणित होती हैं कि उनका सदुपयोग करने से बच्चे आगे चलकर अपने जीवन में बहुत बड़े बड़े काम कर डालते हैं।

५. प्रौढ़ तथा बच्चों की कल्पना में अन्तर

हम ऊपर बच्चों की कल्पनाओं का उल्लेख कर चुके हैं, इसलिये उन विशेषताओं को ध्यान में रखकर सयानों और बालकों की कल्पना में जो भेद हैं उनका उल्लेख करना विशेष सुविधाजनक होगा।

बच्चों का अध्ययन करने से यह ज्ञात हुआ है कि उनकी कल्पनाएँ प्रायः दृष्टिगत होती है। इसलिए उनमें दृश्य प्रतिमाओं का बाहुल्य रहता है। यद्यपि उनमें अन्य प्रकार की कल्पनाओं की योग्यता विद्यमान रहती है, किंतु उनका पूर्ण विकास नहीं रहता। सयानो के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है, क्योंकि यदि कोई विशेष प्रकार का दोष न रहे तो वे किसी प्रकार की कल्पना का अनुभव करने में समर्थ होते हैं। जितने प्रयोग इस दिशा मे हुए हैं उनसे यही प्रमाणित होता है कि सामान्य व्यक्ति में न्यूनाधिक मात्रा से सभी प्रकार की कल्पनाएँ संभव हैं।

बालकों की कल्पनाएँ समूर्त होती हैं, किंतु सयानों के सम्बन्ध में यह लागू नहीं होता। जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, घोड़ा कहने पर बच्चे के मानस पटल पर एक घोड़े का चित्र खिंच जाता है, किंतु यह आवश्यक नहीं कि सयाने भी राशिभूत (Concrete), कल्पना का

अनुभव करें। वे घोड़े की शब्द-प्रतिमा (Word-Image) का भी अनुभव कर सकते हैं।

प्रयोगात्मक प्रमाणों से यह स्पष्ट है कि बच्चों की कल्पनाएँ सयानों की अपेक्षा अत्यधिक स्पष्ट और सजीव होती हैं। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि सयानों में सभी प्रकार की कल्पनाओं की क्षमता विद्यमान रहती है, किंतु उनका अनुभव वे बहुत धुँधलापन के साथ करते हैं। यही कारण है कि वे बच्चों की तरह अपनी कल्पनाओं को प्रत्यक्ष नहीं समझते।

बच्चों की कल्पनाएँ प्रौढ़ों की अपेक्षा विशेष स्पष्ट और प्रबल (Intense) ही नहीं होतीं बल्कि, सयानों की अपेक्षा बच्चों में उनका आधिक्य भी रहता है। कल्पना शक्ति का पूर्ण विकास बाल्य-काल में हो जाता है, तत्पश्चात अन्य उच्च प्रक्रियाओं का विकास होता है। यही कारण है कि बाल्यजीवन में सयानों की अपेक्षा कल्पनाओं की समृद्धि रहती है।

हम ऊपर देख चुके हैं कि बच्चों की कल्पनाएँ अवस्था-वृद्धि के साथ परिवर्तित होती रहती हैं, किन्तु प्रौढ़ों में, यह परिवर्त्तन-क्रम नहीं दृष्टिगोचर होता, क्योंकि सयानों का पूर्ण विकास अपनी चरम सीमा पर रहता है, किन्तु बच्चों में क्रमशः विकासक्रम होता है। इसलिये ज्यों-ज्यों उनका मानसिक विकास होता है वैसे-वैसे उनकी कल्पनाएँ भी परिवर्तित होती रहती हैं।

अन्त में इन दोनों की कल्पनाओं के अन्तर को व्यक्त करते हुए हम यह भी कहना आवश्यक समझते हैं कि जिस तरह बच्चों की कल्पना में प्रतीकता देखने में आती है उस तरह की प्रतीकता का अभाव प्रौढ़-कल्पना में रहता है। किन्तु, इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि कभी-कभी सयाने भी अपनी कल्पना-सृष्टि में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उनमें भी यह व्यापार देखने में आता है, परन्तु ऐसा बहुत कम होता है। इसी प्रकार और भी अन्तर इन दोनों में दिखलाए जा सकते हैं, किन्तु प्रधानतः भेद उपर्युक्त ही हैं।

६. बालकों के काल्पनिक साथी

(Imaginery Companions)

अधिकांश ऐसा देखने में आता है कि कोई बच्चा अकेले बैठकर तरह-तरह का खेल लगातार कई घंटों तक खेलता रहता है। वह अपने आप हँसता, बोलता, खेलता या गाता है। यों तो सयानों को देखने में ऐसा मालूम होता है कि बच्चा अकेले इन व्यवहारों का प्रदर्शन करता है, किन्तु वस्तुतः बच्चा उस समय अकेले नहीं रहता। तीन से दस वर्ष की अवस्था तक बच्चे अपने

काल्पनिक साथियों के साथ मस्त रहते हैं और उन्हीं के साथ अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत करते हैं। प्रयोगों से ऐसा मालूम हुआ है कि कम से कम एक तिहाई बच्चे अपने काल्पनिक साथियों के साथ खेलते-कूदते हैं। यों तो इन साथियों का अनुभव सभी प्रकार के बच्चे करते हैं, किन्तु जिन बच्चों को अकेले रहना पड़ता है वे अत्यधिक ऐसे साथियों का अनुभव करते हैं। उन्हें ऐसा कदापि नहीं मालूम होता कि वे जिनके साथ मस्त रहते हैं वे कल्पना जगत के साथी हैं। नॉर्सवर्दी ने एक ऐसे बच्चे का उदाहरण दिया है जो अपनी माता के एक तिपाई पर बैठ जाने के कारण रोने लगा। जब माता ने उसके रोने का कारण पूछा तो मालूम हुआ कि उसके बैठ जाने से उसका साथी कुचल गया है।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यों तो सभी बच्चों के जीवन में ऐसा अनुभव होता है और यह उनके मानसिक विकास में सहायक भी होता है। किंतु, जब बच्चे ऐसा अनुभव दस वर्ष के बाद भी करते हैं तब यह उनके लिए घातक सिद्ध होता है, क्योंकि वे अपने अन्य साथियो के साथ खेलने की आवश्यकता नहीं समझते। वे अन्तर्मुखी स्वरूप के हो जाते हैं और आगे चलकर समाज में अभियोजित (Adjust) करने में असफल हो जाते हैं। इसलिए माता-पिता को चाहिए कि इसके घातक परिणाम से वंचित रखने के लिये वे अपने बच्चों को अन्य साथियों के साथ खेलने के लिए प्रोत्साहित करें। जिस परिवार मे अन्य बच्चों के साथ खेलने की सुविधा न हो वहाँ माता-पिता को ही बच्चे के साथ अपना कुछ समय देना चाहिए ताकि वे काल्पनिक साथी के अभ्यस्त आवश्यकता से अधिक न हो सकें।

७. कल्पना-विकास के सहायक अंग

(१) भाषा ज्ञान :—बच्चों के कल्पना-विकास में भाषा ज्ञान का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि हम लोग जानते हैं, उनका ज्ञान प्रारंभ में प्रत्यक्ष (Percept) तक ही सीमित रहता है। इसलिये उनमें कल्पनाएँ बहुत सीमित रहती हैं और उनका स्वरूप भी दृष्ट्यात्मक (Visual) होता है। उनकी ऐसी अवस्था लगभग पाँच वर्षों तक रहती है, किन्तु जब उसके बाद उनमें भाषा का पर्याप्त विकास हो जाता है तब वे नये-नये शब्दों को सीख जाते हैं। वे दूसरो से भी बहुत कुछ देखते-सुनते हैं और उनकी भाषा परिपक्व हो जाती है जिसके परिणामस्वरूप उनमें विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं को अनुभव करने की क्षमता हो जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कल्पना-विकास का सम्बन्ध भाषा-विकास से इतना घनिष्ठ है कि ज्यों-ज्यो भाषा-विकास होता है त्यो-त्यों कल्पना-विकास भी होता है। यही कारण है कि जिन बच्चों में भाषा-विकास पूर्णतः नहीं होता उनकी कल्पना-शक्ति भी कुण्ठित हो जाती है। इसलिये माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों का परम कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों के भाषा विकास में विभिन्न समुचित प्रोत्साहनों द्वारा सहायक हो ताकि बच्चों का कल्पना-विकास सुचारु रूपसे हो सके।

(२) कहानी (Story) :—कल्पना-विकास मे कहानी का हाथ कम नहीं रहता। बच्चे जब अपनी माता या अपने अन्य संरक्षको से कहानियाँ सुनते हैं तो वे बहुत प्रसन्न होते हैं और उनकी इच्छा बराबर कहानी सुनने की बनी रहती है। जैसा कि हम लोग जानते हैं जब बच्चे दूसरों से कुछ सुनते हैं तो उनका वही सुनना उनकी ग्रहणात्मक (Receptive) कल्पना का आधार बन जाता है और वे उसके सम्बन्ध में तरह-तरह की कल्पनाएँ करने लगते है। कहानी सुनने से उनकी भाषा भी परिपुष्ट होती है और भाषा की परिपुष्टता उनकी कल्पना को परिपुष्ट करती है। अतएव संरक्षकों को चाहिए कि वे अपने बच्चो को वैसी ही कहानियाँ सुनावें जो उनमें सुन्दर कल्पना को जन्म देने में समर्थ हों। संस्कृत भाषा मे पंचतंत्र प्रभृति कई ऐसे रत्नग्रन्थ विद्यमान हैं जिनमे बच्चो के योग्य कहानियाँ भरी पडी हैं। दूसरी बात कहानी सुनाते वक्त ध्यान देने योग्य यह है कि कहानियाँ बच्चो के मानसिक-विकास के अनुरूप हों, अन्यथा वे उनके कल्पना-विकास में सहायक कदापि नही हो सकतीं। अन्य भाषाओं में भी ऐसी कहानियाँ विद्यमान है जो बच्चो को सुनाई जा सकती हैं।

यद्यपि मैडम माण्टसरी ने बच्चों को कहानियों के सुनाने का विरोध किया है, क्योंकि उसका मत है कि इससे बच्चों के मानसजीवन पर घातक प्रभाव पड़ता है, तथापि हम उससे सर्वांशतः सहमत नही है। यह ठीक है कि कुछ कहानियों का असर बच्चो पर घातक पड़ता है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि बालको को कहानी सुनाना सर्वथा अनुचित है। प्राचीन भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों ने भी बालकों के मानसिक विकास में कहानी के महत्व को स्वीकार किया है। कहानियों से उनकी जानकारी बढती है जिसके कारण उनमे विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं को अनुभव करने की क्षमता का आविर्भाव होता है।

(३) अभिनय (Drama) :—कहानी की तरह अभिनय भी बच्चो

के कल्पना-विकास में सहायक होता है। अभिनय के द्वारा बच्चों में नए-नए अनुभवों की विवृद्धि होती है जो कि उनकी कल्पना के लिये लाभप्रद होते हैं। बच्चे जो कुछ अभिनय में देखते हैं उसकी वे स्वयं कल्पना करना प्रारम्भ कर देते हैं और जब अभिनय समाप्त हो जाता है तब उसकी एक-एक घटनाओं का चित्र अपने मानस पटल पर आनन्द के लिये खींचते हैं। अभिनय उनकी रचनात्मक कल्पना को जन्म देता है और उसी के आधार पर वे कई प्रकार का आविष्कार करने में समर्थ होते हैं। बच्चों में अनुकरण (Imitation) की मात्रा बहुत अधिक होती है इसलिये वे स्वयं भी अभिनय करना शुरू कर देते हैं जिसका परिणाम यह होता है, कि अपने अभिनय को सफल बनाने में उन्हें तरह-तरह की कल्पनाओं का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार उनकी कल्पना का स्वाभाविक विकास होता है। बच्चों के लिये अभिनय का देखना उतना ही आवश्यक है जितना कि स्वयं अभिनय करना। किसी भी अवस्था में अभिनय कल्पना-विकास में सहायक होता है, अतएव शिक्षकों को चाहिए कि किसी कहानी को समझाते समय बच्चो से उसका अभिनय करवाएँ ताकि वैसा करने के लिये बच्चों को विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करनी पड़ें। हम थोड़े शब्दों में यही कह सकते हैं कि अभिनय कल्पना-विकास का एक बहुत ही प्रभावशाली और सुन्दर अंग (उपकरण) है।

(४) चलचित्र (Cinema):—कुछ दिनो से अभिनय का स्थान चलचित्र ने ले लिया है। आज का कोई भी राष्ट्र ऐसा नहीं है जो इसके प्रभाव से वंचित हो। पहले जो स्थान कल्पना-विकास में अभिनय का था वही स्थान आज चलचित्र का है। जिस प्रकार अभिनय में विभिन्न घटनाओं का क्रमशः प्रदर्शन होता है उसी प्रकार चलचित्र में भी। जब बच्चे चलचित्र की घटनाओं को देखते हैं तो वे उनकी अनुपस्थिति में भी उनकी कल्पना करते हैं, क्योंकि वे उनको बहुत रुचिकर और मनोहारी प्रतीत होती हैं। चलचित्र प्रदर्शन से उनका अनुभव विवृद्ध होता है और उन्हें अन्य भाषाओं को सीखने का अवसर मिलता है जिसके फलस्वरूप उनकी कल्पनाशक्ति भी विकसित होती है। यद्यपि कुछ मनोवैज्ञानिको ने बच्चों के चलचित्र प्रदर्शन का विरोध किया है, क्योंकि उनका कहना है कि बच्चे इसके कारण कई प्रकार के अपराधों (Crimes) का शिकार बन जाते हैं। किन्तु, उनका यह कथन सर्वथा उचित नहीं जँचता, क्योकि यह हम अच्छी तरह जानते हैं कि बच्चों का मन अत्यन्त कोमल होता है, इसलिये किसी चीज का असर

उनके मन पर बहुत गहरा पडता है। इसलिये यदि उनके लिये शिक्षाप्रद उचित चित्रों का आयोजन किया जाय तो वे उनके द्वारा बहुत कुछ अच्छी बातें सीख सकते हैं और हानि न होकर उनका उपकार ही होगा। अतएव किसी भी राष्ट्र का यह धर्म है कि वह अपने बच्चो के समुचित मानसिक-विकास और शिक्षा के लिये शिक्षाप्रद चलचित्रों का प्रबन्ध करे। माता-पिता को भी बच्चों की कल्पना के समुचित विकास के लिये उन्हें सिनेमा देखने का उचित प्रबन्ध करना चाहिए किन्तु, यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बच्चा चल-चित्र का ऐसा शिकार न बन जाय कि उसके अन्य आवश्यक काम बिगड़ जायें और बच्चा भी निकम्मा बन जाय। कल्पना-विकास मे चलचित्र का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है इसका अनुमान इसी से किया जा सकता है कि आजकल नगर के छोटे-छोटे बच्चे भी गाने के शौकीन हो गये हैं और जिनमें भाषा-विकास की समृद्धि है वे सिनेमा के ढंग पर नए-नए गाने बनाने लगे हैं। उनके गाने भले ही काव्य की दृष्टि से दोषपूर्ण हो, परन्तु इतना तो मानना ही पडेगा कि वे उनकी आविष्कारात्मक (Inventive) कल्पना के द्योतक हैं।

(५) **चित्रकारी, खेल, लेख आदि (कला) :**—बालको के कल्पना-विकास मे उनकी **चित्रकारी** (Drawing) खेल, लेख आदि के भी हाथ रहते हैं जिन्हे हम कला के नाम से पुकार सकते है। जब बच्चे तरह-तरह के मिट्टी के खिलौने तैयार करते हैं तो उनको तैयार करते समय कल्पना भी करनी पड़ती है। चित्रकारी कल्पनाविकास मे कितनी और क्योंकर सहायक होती है इस पर बाद मे स्थल विशेष पर प्रकाश डाला जायगा। अतएव यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि विभिन्न प्रकार की चित्रकारियों के लिये बच्चे को विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करनी पडती हैं जिसके परिणाम-स्वरूप उसकी कल्पना समुचित रूप से विकसित होती है। जब बच्चे किसी प्रकार की कहानी, लेख या कविता का निर्माण करते हैं तो उस समय उन्हें आविष्कारात्मक कल्पना की शरण लेनी पड़ती है। हम स्थल विशेष पर देख चुके है कि बच्चे दूसरो की सुनी हुई बात की भी कल्पना करते है किन्तु, जब उन्हें स्वयं कहानी या कविता लिखनी पडती है तब वे विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ करते है और अन्त मे वे अपने लेख या कविता का रूप निर्धारित करते हैं। इसलिये शिक्षको को उचित है कि जब वे बच्चो को कोई पाठ पढावें तो उसके सम्बन्ध मे उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछें और उसका सारांश भी उनसे सुनें। जब बच्चे ऐसा करने लगें

तब उसके बाद वे उन्हें स्वयं उन्हीं उपकरणों के आधार पर नयी कहानी, कविता या लेख लिखने के लिये प्रोत्साहित करें। बच्चों से तरह-तरह का चित्र बनवाना भी उनकी कल्पना के विकास में कम सहायक नहीं होता।

(६) स्वास्थ्य :—कल्पना के समुचित विकास के लिये स्वास्थ्य एक अपेक्षित अंग है। हम सभी जानते हैं कि स्वस्थ बच्चे में भाषाज्ञान और क्रिया आदि का विकास सुन्दर रूप से होता है। जो बच्चा बराबर रुग्ण रहता है उसका मन किसी चीज में नहीं लगता, इसलिये किस्सा-कहानी, अभिनय और चलचित्र की ओर वह आकर्षित नहीं होता। इस प्रकार उसका अनुभव बहुत सीमित रह जाता है और किसी प्रकार का विकास भी अच्छी तरह नहीं होता। इस कारण उसकी कल्पना-शक्ति पूर्णरूपेण विकसित नहीं होती है। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि स्वस्थ बच्चा किसी चीज को जल्दी सोच और समझ लेता है किन्तु, जन्म से रुग्ण रहनेवाला बच्चा ऐसा करने में असमर्थ होता है। हम थोड़े शब्दों में यह कह सकते हैं कि कल्पना-विकास के लिये स्वास्थ्य अपेक्षित है, क्योंकि इसके बिना किसी भी ऐसी शक्ति का विकास नहीं होता जो कल्पना के लिये आवश्यक है। अब इसके पहले कि हम बाल-जीवन में कल्पना के महत्त्व का उल्लेख करें यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि बच्चों की कल्पनाएँ उनकी कहानी, खेल और चित्रकारियों द्वारा अभिव्यंजित होती हैं। इसलिये यहाँ हम बच्चों की कहानियों और चित्रकारियों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालना आवश्यक समझते हैं क्योंकि बिना उनके उल्लेख के कल्पना का वर्णन अधूरा रह जायगा। खेल में उनकी कल्पनाएँ क्योंकर अभिव्यंजित होती हैं, इसका उल्लेख खेल के सम्बन्ध में किया जा चुका है, इसलिये उसका उल्लेख करना यहाँ अनावश्यक होगा। हम पहले उनकी कहानियों पर प्रकाश डालेंगे तत्पश्चात उनकी चित्रकारी के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करेंगे।

९. बालकों की कहानियाँ

यदि हम बच्चों के जीवन-क्रम पर ध्यान दें तो हमें मालूम होगा कि वे कई अवस्थाओं (Stages) से गुजरते हैं। उन विभिन्न अवस्थाओं की अपनी खास विशेषताएँ होती हैं। किन्तु, यहाँ हमें उनकी कहानियों पर प्रकाश डालते हुए यह देखना है कि उनका स्वरूप क्या है और वे बच्चों की कल्पनाओं का क्योंकर प्रकाशन करती हैं।

बालकों का मन सयानों की तरह पूर्ण विकसित और सर्व सम्पन्न नहीं रहता, बल्कि बहुत ही कोमल होता है। उनकी कल्पनाओं का एक निश्चित स्वरूप होता है जिसमें अवस्थावृद्धि के साथ-साथ परिवर्त्तन होता रहता है। हमलोग इसे अच्छी तरह जानते हैं कि उनकी कल्पनाएँ प्रत्यक्ष पर ही निर्भर करती हैं, अर्थात् वे उसी की कल्पना करने में सफल होते हैं जिसको वे अपनी आँखों से देखते अथवा कानो से सुनते हैं। वे अधिकांश ग्रहणात्मक कल्पनाओं का ही अनुभव करते हैं। कहने का सारांश यह है कि दूसरों की कही हुई बातों या कहानियों के आधार पर वे अपनी कल्पना-सृष्टि का निर्माण करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों में ग्रहणात्मक कल्पना की शक्ति विशेष रहती है जिनका आधार सयानो की कथावस्तु होता है।

यदि हम इसपर विचार करें कि बच्चो को कैसी कहानियाँ अच्छी मालूम होती हैं तो हमें मालूम होगा कि जिस तरह की कहानियाँ प्रौढ़ व्यक्तियों को अच्छी लगती है उस प्रकार की बच्चों को नहीं। इस भिन्नता का प्रधान कारण यह है कि उनके मन का स्वरूप हमसे भिन्न होता है, इसलिये उनकी अभिरुचि भी हमसे भिन्न होती है। यही कारण है कि हमे जो कहानियाँ अच्छी लगती हैं वे उन्हे अच्छी नही लगती। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न हो सकता है कि बच्चे कहानी सुनना क्यों पसन्द करते हैं? इसके उत्तर-स्वरूप हम यही व्यक्त करना पर्याप्त समझते हैं कि उनमें जीवन के विभिन्न पहलुओं को जानने की उत्कट इच्छा रहती है जिसकी पूर्ति कहानियों द्वारा होती है। इसलिये उनकी इच्छा बराबर कहानी सुनने की बनी रहती है। उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि बच्चे उन्हीं कहानियों को सुनना पसन्द करते हैं जिनसे उनकी इच्छा की संतृप्ति होती है। उनके मानस जीवन के अध्ययन से ज्ञात हुआ है कि उनमें जीवन-सम्बन्धी विविध साहसिक (Adventurous) अभिलाषाएँ रहती हैं जिनकी परितृप्ति उस जीवन में प्रत्यक्ष रूपसे नहीं होती किन्तु, जब वे दानवों के दमन और परियो के उड़ने या किसी बच्चे को दूध पिलाने की कहानियाँ सुनते हैं, तव उनकी संतृप्ति होती है। ऐसी कहानियो को सुनने की व्याख्या हम दूसरे तरीके से भी कर सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिको का यह मत है कि जिस तरह अन्य जीव अपने विकास-क्रम मे पुनरावृत्ति करते हैं उसी तरह मनुष्य भी करते हैं। मनुष्य जब बर्बरावस्था मे था तो उस समय उसकी रुचि भूत-पिशाच की कहानियों मे थी, इसलिये वैसी कहानियों को सुनकर वह प्रसन्न होता था। यही कारण

है कि बच्चे ऐसी कहानियों में अपनी रुचि प्रदर्शित करते हैं। यहाँ हम देखते हैं कि ऐसी कहानियों को सुनने के कई कारण हैं जिनमें से किसी की सत्यता को भी हम अस्वीकार नहीं कर सकते।

अब प्रश्न यह है कि बच्चे स्वयं कैसी कहानियों की रचना करते है ? इसका उत्तर सरलतया दिया जा सकता है, क्योंकि ऊपर हम यह देख चुके हैं कि बच्चों को कैसी कहानियाँ प्रिय लगती हैं और यह भी व्यक्त किया जा चुका है कि आरंभ में उनमें ग्रहणात्मक कल्पना का ही बाहुल्य रहता है। वे जैसी कहानियाँ अपने बड़े-बूढ़ों से सुनते हैं वैसी कहानियों की वे स्वयं कल्पना करने लगते हैं और उसीका प्रकाशन अपनी कहानियों द्वारा करते हैं। इसी कारण उनकी कहानियों में भूत, पिशाच, राक्षस, देवता, परी आदि के बीजतत्व विशेष रूपसे सन्निहित रहते हैं। इसके अतिरिक्त आरंभ में बच्चों का जीवन पूर्णतः संवेगात्मक होता है जिसका प्रकाशन वे अपनी कहानियो द्वारा करते हैं। उनकी कहानियो का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि बच्चे कहानियो द्वारा अपनी समस्याओ को क्योंकर अभिव्यंजित (Express) करते है। एक विदेशी बालक जो मछलियों से बहुत डरता था, अपने भय का प्रकाशन मछलियों के सम्बन्ध में विभिन्न कहानियाँ बनाकर करता था। अन्य बच्चो की कहानियो का अध्ययन करने से यही तथ्य अभिगत होता है। लन्दन-निवासी बच्चो पर स्याही-धब्बों (Ink-Blots) के साथ जो प्रयोग किया गया उसमे यह देखा गया कि अधिकांश बच्चो को वे धब्बे पंखयुक्त स्त्री (परी), जानवर और विचित्र-विचित्र रूप के व्यक्ति मालूम हुए और उन धब्बो के आधार पर उन्होने वैसी ही कहानियो का निर्माण किया। धब्बों द्वारा इस प्रकार की कल्पना को अभिव्यंजित करने वाले बच्चों की संख्या चौंसठ प्रतिशत के लगभग थी। हम पुनरावृत्ति दोष होते हुए भी थोड़े शब्दो मे यह कहेगे कि बच्चों को भूत, प्रेत तथा परियों की कहानियाँ अच्छी लगती हैं और वे उनके आधार पर वैसी ही कहानियों की रचना करके और दूसरो को सुनाकर अपनी ग्रहणात्मक कल्पना का परिचय देते हैं। बहुत कम बच्चे किसी कारण-विशेषवश दूसरी तरह की कहानियाँ कहते या सुनते हैं।

इस सम्बन्ध मे दूसरा विचारणीय प्रश्न यह है कि बच्चों को किस प्रकार की कहानियाँ सुनानी चाहिए। इसपर विचार करने से यही कहना उचित जँचता है कि उनको सुनाई जानेवाली कहानियाँ छोटी और सरल हों। इस बात का हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि वे उनकी योग्यता के अनुरूप हो

ताकि वे उन्हें आसानी से समझ सके। इसके अतिरिक्त भी ऐसी कहानियों का निर्माण करना चाहिए जिनसे बच्चो मे विभिन्न वांछित गुणों का विकास हो। यद्यपि माण्टसरी ने बच्चों के जीवन में कहानियों का धनात्मक (Positive) महत्व स्वीकार नही किया है किन्तु, उसका ऐसा मत उचित नही जँचता, क्योंकि बच्चों के मानसिक विकास के लिये कहानियाँ अत्यन्त लाभप्रद सिद्ध हुई है और जिसके सम्बन्ध मे भारतीय ऋषि, महर्षि तथा पाश्चात्य विद्वानों ने काफी प्रकाश डाला है। हमारे यहाँ के पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि ग्रन्थ इसी के साक्षी है कि बालको के सुचारु विकास के लिये कहानियाँ नितान्त आवश्यक है। विदेशो में भी ऐसे ग्रन्थों का अभाव नहीं है।

९. बालको की चित्रकारी (Drawing of children)

बहुत दिनों तक लोगों ने बच्चो की चित्रकारियों को तिरस्कृत किया था। वे लोग उनका महत्व बच्चों के जीवन मे नही समझते थे। किन्तु, हर्ष का विषय है कि अब मनोवैज्ञानिकों का ध्यान इधर आकृष्ट हुआ है।

यदि हम बच्चों की चित्रकारी के विकासक्रम पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि प्रारम्भ मे वे किसी तरह का चित्र बनाने में समर्थ नहीं होते। जब कोई उनके हाथ मे कागज-पेंसिल दे देता है तो वे अपने हाथ को इधर-उधर घुमाकर कागज पर कुछ खींच देते है किन्तु, उनके ऐसा करने मे उनका कोई ध्येय विशेष नहीं रहता। इसे हम वयस्कों (Adults) का अनुकरण मात्र कह सकते है। सम्भवतः वे ऐसा इसलिये करते हैं कि उसके द्वारा उनकी संचित जीवन-शक्ति (Energy) का समुचित निस्सरण (Outflow) होता है। यद्यपि पेंसिल से कागज पर खींचना पूर्णतः ध्येय-विहीन होता है किन्तु, कभी-कभी संयोगवश वह किसी पदार्थ का प्रतिरूपक (Representation) बन जाता है।

तीन चार वर्ष की अवस्था में किसी पदार्थ को चित्रित करने की उनमें प्रबल इच्छा होती है जिसे हम चित्र-निर्माण की आरंभिक अवस्था कह सकते हैं। इस अवस्था मे बच्चे मनुष्य के चित्रों को बनाने की कोशिश करते हैं और यदि वे मनुष्य के समान नहीं बनते हैं तो भी वे उसी के प्रतिरूपक होते हैं। बच्चों की चित्रकारियों का जो अध्ययन हुआ है उससे यह निर्विवाद है कि यह प्रवृत्ति नब्बे प्रतिशत बच्चों में पाई जाती है। इस समय के सभी बच्चे चलती-फिरती चीजों के ही चित्र बनाते है, स्थिर चीजों

के नहीं। जब वे किसी आदमी का चित्र बनाते हैं तो उसे चलते हुए, हाथ घुमाते हुए या हुक्का पीते हुए दिखलाते हैं। उनके मकान के चित्र में भी चिमनी से धुआँ निकलता हुआ दिखलाई देता है। किन्तु, उनकी चित्रकारी में यह विशेषता बहुत दिनों के बाद आती है। हाँ, यह विचारणीय है कि वे आदमियों तथा अन्य चलती चीजों के चित्रों को ही क्यों बनाते हैं। यदि हम इसपर विचार करें तो मालूम होगा कि वे उन्हीं पदार्थों से निरंतर घिरे रहते हैं अन्य चीजों का उन्हें ज्ञान नहीं रहता, इसलिए वे उन्हीं का चित्र बनाते हैं।

हम ऊपर यह कह चुके हैं कि प्रारंभ में उनका चित्र बहुत ही अधूरा (Imperfect) होता है, इसलिए वह किसी पदार्थ के समान नहीं होता, बल्कि उसका प्रतिरूपक मात्र होता है। इस अवस्था में वे यदि किसी वृत्त (Circle) या वर्ग (Square) के नीचे दो रेखाएँ खींच देते हैं तो वह मनुष्य का प्रतिरूपक हो जाता है। ये वृत्त और वर्ग भी ज्यों-त्यों बनाए जाते हैं। डा० ल्युकेन्स ने अध्ययन करके यह दिखलाने का प्रयास किया है कि बच्चों की इस वृत्ति का विनाश पाँचवें वर्ष में हो जाता है। यद्यपि इस अवस्था के बाद बच्चे बेकार की रेखाओं को नहीं अंकित करते हैं तथापि वे किसी चीज के बारे में जो जानते हैं उसी को चित्रित करते हैं, जो देखते हैं उसको चित्रित नहीं करते। यदि वे किसी आदमी का चित्र बनाते हैं तो वे दोनों भुजाओं और आँखों को अपने चित्र में दिखलाते हैं। घोड़े पर बैठे हुए आदमी के दोनों पैरों को दिखलाना या घर के बाहरी भागों को दिखलाना बच्चों की चित्रकारी की खास विशेषता होती है। सात वर्ष के पहले के बच्चों में सुसज्जित चित्रकारी की क्षमता नहीं होती। मेटलैण्ड के सोलह सौ बच्चो की चित्रकारी के अध्ययन से जिनकी अवस्था पाँच से सात वर्ष तक थी, यह स्पष्ट है कि उनमें इसकी योग्यता बहुत कम होती है। बच्चे इस अंग का तिरस्कार इसलिये करते हैं कि अभी तक वे पदार्थों को उनके व्यवहार (Use) के ही अनुसार जानते हैं। अतएव जिनके व्यवहार को वे जानते हैं उन्हें अपने चित्र में भी प्रदर्शित करते हैं और जिन अंगो की उपयोगिता उन्हें नहीं मालूम रहती उनको वे अपनी चित्रकारी में तिरस्कृत कर देते हैं।

हम चौदह वर्ष की अवस्था तक के बच्चो की चित्रकारी को लैभिनस्टेन प्रभृति विद्वानों के आधार पर पाँच अवस्थाओं मे विभाजित कर सकते हैं। पहली अवस्था में कुछ चित्रण मात्र रहता है जिसका स्पष्ट ज्ञान नही होता।

दूसरी अवस्था वह है जिसमें बच्चे रेखाओं द्वारा कुछ चित्रित करने का प्रयास करते है। उसमे प्रतिरूपकता का अभाव रहता है। इसलिये इसे हम प्रतीकात्मकावस्था (Symbolic stage) कह सकते हैं। इस अवस्था में वे कभी मनुष्य के मस्तक को वृत्त द्वारा तो कभी चतुर्भुज द्वारा व्यक्त करते हैं। तीसरी अवस्था मे प्रतिरूपकता और प्रतीकता का सम्मिश्रण रहता है जिसमें बच्चे मनुष्य के विभिन्न अवयवों को उचित रूप से प्रदर्शित करने का प्रयास करते हैं। चौथी अवस्था मे उनका चित्र अधिकांशतः किसी वस्तु या मनुष्य का प्रतिरूपक होता है, किन्तु इस समय भी उन्हें त्रय-विस्तार (Threedimentions) दिखलाने की योग्यता नहीं रहती। यह चौथी अवस्था दस वर्ष के बच्चों मे देखी जाती है। ग्यारहवें वर्ष के बाद उनके चित्रों की पाँचवी अवस्था आती है जबकि वे अपने चित्रों में त्रय-विस्तार प्रदर्शित करने मे समर्थ होते है और उनका चित्र भी पूर्णतः प्रतिरूपक होता है। इन्हीं पाँच अवस्थाओं का विभाजन ग्रीफिथ ने ग्यारह अवस्थाओं में किया है जिनके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नही है।

१०. बाल-चित्रकारी में कल्पना की अभिव्यंजना (Expression)

हम लिख चुके हैं कि बालकों की चित्रकारी का महत्त्व आधुनिक युग में सभी मनोवैज्ञानिक समझने लगे हैं क्योंकि यह सभी को विदित हो गया है कि बच्चे अपने संवेग, कल्पना, इच्छा आदि का प्रकाशन अपनी चित्रकारी, खेल, कहानी आदि के द्वारा करते हैं। इस दिशा में प्रकाश डालने वालों मे फ्रायड, अनाफ्रायड, क्लायन आदि के नाम विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। हमने यह देखा है कि बच्चों की आरम्भिक चित्रकारी वयस्कों का अनुकरण मात्र होती है जो उनकी अनुकरणात्मक कल्पना का द्योतक है। बाद की परिपूर्ण चित्रकारियों मे उनकी आविष्कारात्मक कल्पना परिलक्षित होती है। जब तीन-चार वर्ष के बच्चे खेलने के वास्ते मिट्टी के घरौंदे बनाते हैं तो उनमें भी उनकी आविष्कारात्मक कल्पना की अभिव्यंजना रहती है। हमने यह भी देखा है कि उनकी विकसित चित्रकारियाँ पूर्णतः व्यावहारिक होती हैं जो इसका द्योतक है कि उनमें इस अवस्था मे व्यावहारिक कल्पना का साम्राज्य रहता है। जैसा कि हम लोग जानते हैं बच्चे अपनी चित्रकारियों मे अपने मानसिक संघर्ष (Mental conflicts) को व्यक्त करते हैं। जब उनके हाथ मे कागज-पेंसिल दे दी जाती है तो वे जिन चित्रों को बनाते है, प्रश्न करने पर उनकी मनोनुकूल व्याख्या भी करते हैं।

यदि कोई बच्चा अपने पिता की बहुत इज्जत करता है तो वह अपने चित्र में उसे आसन पर बैठाता या माला पहनाता है। जिस विद्यार्थी को अपने शिक्षक के प्रति घृणाभाव रहता है वह अपने चित्रों मे उसके प्रति घृणा का प्रकाशन करता है। वह कभी एक आदमी का चित्र बनाकर उसके गले में एक रस्सी बाँधकर ऊँचे से लटका देता है तो कभी दूसरा ही विकृत रूप देता है। चित्रों द्वारा बच्चे ही अपनी कल्पनाओं का प्रकाशन नही करते बल्कि, वयस्क लोग भी करते हैं। भारतीय मूर्तियाँ कल्पनाओं का द्योतक नहीं तो और क्या है ? यही कारण है कि किसी राष्ट्र की चित्रकारियों के आधार पर हम वहाँ की संस्कृति को समझने में समर्थ होते हैं। अतः उपर्युक्त व्याख्या से यह स्पष्ट है कि बच्चे चित्रकारियों में अपनी कल्पनाओं को क्योंकर अभिव्यंजित करते हैं।

११. बच्चे और वयस्क की चित्रकारी में अन्तर

बच्चे और वयस्क की चित्रकारी में अन्तर व्यक्त करने के लिये इसका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बच्चों के चित्र इतने अधूरे और भद्दे होते हैं कि उन्हें देखकर हम यह नहीं कह सकते कि वे किनके प्रतिरूपक हैं, अतएव उन्हें प्रतीक मात्र ही कहा जा सकता है। परन्तु, सयानो के चित्र पूर्ण और बारीक होते हैं जिनको देखते ही यह समझ मे आ जाता है कि वे अमुक पदार्थ के प्रतिरूपक हैं, अतएव उन्हें हम प्रतीक मात्र नही कह सकते। दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि बच्चों के चित्रों में सार्थकता (Meaningfulness) का अभाव रहता है, किन्तु सयानों के चित्र पूर्णतः सार्थक होते हैं।

बच्चा जिस चीज को जानता है और जिसे देखता है उसके अन्तरों को अलग करने मे वह असमर्थ होता है। इसलिये वह अपनी चित्रकारी में सभी जानी हुई बातों को प्रदर्शित करता है। सयाना इन अन्तरों को अच्छी तरह जानता है, इसलिये वह ऐसा ही चित्र बनाता है जिसका कि वह स्वयं अनुभव करता है। यदि बच्चा किसी आदमी का घोड़े पर बैठने का चित्र बनाता है तो वह उसमें उसके दोनों पैरों को दिखलाता है, किन्तु सयाना एक ही पैर को दिखलाता है, क्योंकि उसे यह मालूम रहता है कि देखनेवाला उसे क्योंकर देखेगा।

बच्चे अपने चित्रों में काम में आनेवाले अंगों को ही दिखलाते हैं, किन्तु सयाने किसी पदार्थ के सभी अंगों को प्रदर्शित करते हैं, चाहे उनका वे उपयोग करते हों या नहीं।

बच्चों के चित्र प्रायः उन्हीं पदार्थों के होते हैं जिनका वे नित्य-प्रति अनुभव करते हैं। अनुभव से परे की चीजों का प्रदर्शन वे अपनी चित्रकारी मे नहीं करते, अर्थात् उनकी चित्रकारी अनुभवगत तथा समूर्त होती है। परन्तु, सयाने उन चीजों का भी चित्र बनाते हैं जिनकी वे कल्पनामात्र कर सकते हैं, प्रत्यक्षीकरण नहीं, यथा, स्वर्ग, नरक, सत्यता आदि। इस प्रकार हम बच्चों की चित्रकारी को समूर्त कह सकते हैं, किन्तु सयानो के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वे अपनी कल्पना के आधार पर अमूर्त (Abstract) को भी चित्रित कर देते है।

बच्चों की चित्रकारी पूर्णतः कलामयी नहीं होती, किन्तु सयानों की चित्रकारी कला से परिपूर्ण होती है जिसका ज्ञान उनकी चित्रकारियों को देखकर प्राप्त किया जा सकता है।

बच्चो की चित्रकारी कई अवस्थाओं से होकर गुजरती है, जिसका उल्लेख किया जा चुका है; किन्तु सयानो में यह नहीं होता, क्योंकि इस अवस्था का वे अतिक्रमण किए रहते हैं।

बच्चे सभी चीजों का और सभी परिस्थितियों का चित्र बनाने में असमर्थ होते हैं, किन्तु सयाने किसी अवस्था और किसी चीज का भी चित्र बनाने में समर्थ होते हैं जैसा कि ऊपर के वर्णन से स्पष्ट है। इसी प्रकार और भी कई छोटे-मोटे अन्तर दिखलाए जा सकते हैं किन्तु, प्रधान अन्तर उनकी चित्रकारियों में उपर्युक्त ही हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि उनकी चित्रकारियो मे अन्तर क्यों पडता है? यदि हम इसके उत्तर पर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट हो जाएगा कि सयानों का शारीरिक और मानसिक विकास पूर्ण रहने के कारण उनमें कल्पना और चिन्तन की कमी नही रहती। इसलिये वे जिन चीजो को चित्रकारी का रूप देना चाहते है आसानी से दे देते है। उनका अनुभव भी इतना समृद्ध रहता है कि वे अपने मनोनुकूल चित्रों का निर्माण करते है। बच्चो के सम्बन्ध में ऐसा नही होता, उनका शारीरिक और मानसिक विकास अपूर्ण रहता है। उनका अनुभव भी प्रत्यक्ष तक ही सीमित रहता है। उनकी कल्पना और चिन्तन शक्ति भी अविकसित रहती है, इसलिये वे अनुभूत पदार्थों का ही चित्र खींचने में सफल होते है, अननुभूत (Unexperienced) पदार्थों का नहीं। इस तरह हम देखते हैं कि इन दोनो के विकास मे अन्तर के कारण उनकी चित्रकारियो में भी अन्तर पड़ता है।

१२. बालजीवन में कल्पना का स्थान

अब तक हम बालकों की कल्पना के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करते आए हैं, अतएव यहाँ कल्पना का महत्त्व बाल-जीवन में कितना है, इसका उल्लेख करके इस अध्याय को समाप्त करेंगे।

कल्पना बच्चों के जीवन मे आनन्द प्रदान करती है। जब बच्चे सुन्दर-सुन्दर पदार्थों का अवलोकन करते हैं तो उनकी यही इच्छा होती है कि वे पदार्थ निरन्तर उनके सामने बने रहें ताकि वे उनके आनन्द को लूटते रहें। परन्तु, ऐसा सम्भव नहीं। इसलिये उन पदार्थों की अनुपस्थिति में बच्चे उनकी कल्पना से उतना ही आनन्दित होते हैं जितना कि उनके प्रत्यक्ष से। वे किसी मेले में जाते हैं, वहाँ तरह-तरह के खिलौनों और तमाशों को देखते हैं जो उन्हें बहुत ही आनन्दकर प्रतीत होते हैं। जब वे अपने घर लौट आते हैं तब भी मेले के कल्पना-चित्र से वे अपने को आनन्दित पाते हैं। वे भूत (Past) मात्र की ही कल्पना नहीं करते, अपितु अपने भविष्य की भी कल्पना करते हैं और अपने भावी जीवन के विभिन्न पहलुओं को सोचकर प्रसन्नता का अनुभव करते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि कल्पना के सहारे बच्चे अपने जीवन को आनन्दमय बनाने मे सफल होते हैं।

कल्पना के सहारे वे अपने विचारों को दूसरो के समक्ष प्रकट करने में सफल होते हैं। वे अपने विचारों का प्रकाशन इतनी अच्छाई के साथ करते हैं कि दूसरे भी उनसे प्रभावित हो जाते हैं। जो बच्चा जितना कल्पना-शक्ति में निपुण होता है वह उतनी ही सुन्दरता के साथ अपने भावो को दूसरों के सामने उपस्थित करता है। उनकी बातों से सुननेवालो को भी आनन्द प्राप्त होता है।

बच्चे दूसरे के भावो और विचारो को अच्छी तरह समझने मे कल्पना के ही प्रसाद से सफल होते हैं। जो कल्पना में जितना अधिक दक्ष होता है वह उतनी ही खूबी के साथ दूसरों को समझाने मे समर्थ होता है। इसलिये वह अपना व्यवहार परिस्थिति के अनुकूल करके अपने वांछित अभियोजन का परिचय देता है। हम दूसरे शब्दों मे यह कह सकते है कि बच्चे इसी के चलते अपने को अच्छी तरह वातावरण में अभियोजित करते हैं।

कल्पना के कारण बच्चो का मानसिक विकास सुचारु रूप से होता है। प्रयोग करने पर यह देखा गया है कि जो बच्चा जितना अधिक कल्पना-शील होता है उसका उतना ही सुन्दर मानसिक विकास होता है। कहने का आशय यह है कि जो जितना अधिक कल्पना करने में प्रवीण होता

है उसका उतना ही अधिक मानसिक विकास होता है। इस तरह बच्चों की कल्पना उनके मानसिक विकास में सहायक होती है।

कल्पना के प्रसाद से बच्चे आगे चलकर नए-नए आविष्कारों और रचनाओं के करने में समर्थ होते हैं। हम पहले देख चुके हैं कि रचनात्मक कल्पना के सहारे वे क्योंकर नए-नए चित्रों, कहानियों और काव्यो का निर्माण करते हैं। आश्चर्य मे डालनेवाले आधुनिक वायुयान, अणुबम, रेडियो आदि कल्पना के प्रतिफल स्वरूप हैं।

आज कल कल्पनाएँ बच्चों के जीवन में और भी महत्वपूर्ण प्रमाणित हुई हैं, क्योंकि अब मनोवैज्ञानिक उनकी कल्पनाओं का अध्ययन करके उनके व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओ (रुचि, संवेग, भावनाग्रंथि) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। यदि उन्हें किसी प्रकार का अवांछनीय अंग मिलता है तो वे उन्हें मनोवैज्ञानिक उपायों से दूर करने की कोशिश करते हैं। फ्रायडवादियों ने बाल-जीवन के अध्ययन के लिये उनकी कल्पनाओ पर विशेष जोर दिया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि बालको के जीवन में कल्पना का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है, क्योंकि इसके कारण उनका मानसिक विकास सुचारु रूपसे होता है। किंतु उनके जीवन में कल्पनाएँ उसी समय तक लाभप्रद सिद्ध होती हैं जब तक कि वे सामान्य और नियंत्रित रहती हैं। वे ही कल्पनाएँ जब स्वतन्त्र विचरण करने लगती हैं तब उनका प्रभाव बच्चो के जीवन पर घातक पड़ता है। कभी-कभी सामान्यावस्था में भी वे हानिकर सिद्ध होती हैं, इसलिये उनके घातक प्रभावों का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है।

हम स्थलविशेष पर यह देख चुके हैं कि उनकी कल्पनाएँ स्पष्ट और सजीव होती हैं। इसलिये इस स्पष्टता और सजीवता का प्रभाव उनके जीवन पर इतना अधिक पडता है कि कभी-कभी वे वास्तविकता (Reality) और कल्पना को अलग करने में असफल हो जाते हैं और परिणामतः वे झूठ बोलना शुरू कर देते है। मिथ्या-भाषण पर प्रकाश डालते समय इसका विशेष वर्णन किया जायगा, इसलिये यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त प्रतीत होता है कि कल्पना के चलते बच्चे झूठ बोलते हैं। बच्चे बडो से भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनते हैं या स्वयं घातक जानवरो को देखते हैं। जब वे उनकी कल्पना करते हैं तो उनकी कल्पना इतनी सजीव होती है कि उन्हें मालूम होता है कि वस्तुतः भूत, चुड़ैल या घातक जानवर घर के एक कोने में बैठा हुआ है। इस कारण वे घर मे जाने से डरने लगते है या अकेले रहना भी पसंद नहीं करते। उनको इस तरह का आतंक (Phobia)

हो जाता है कि उनका स्वभाव भिन्न हो जाता है जो वर्त्तमान में तो अरुचिकर मालूम ही होता है आगे चलकर भी बहुत घातक सिद्ध होता है।

हम यह भी देख चुके हैं कि बच्चे अपने काल्पनिक साथियों के साथ क्योंकर खेलते-कूदते और खाते पीते हैं। यद्यपि दस वर्ष तक के बच्चों में तो ऐसा होना स्वाभाविक है, किन्तु यदि इसके बाद भी ऐसा होता है तो उसका बहुत घातक परिणाम उनके जीवन पर पड़ता है। इस सम्बन्ध में यहाँ विशेष लिखना आवश्यक नहीं है।

इतना ही क्यों, कभी-कभी बच्चे इतना अधिक कल्पना-संसार में मग्न हो जाते हैं कि वे जीवन के आवश्यक कार्यों को भूल जाते हैं। खाना पीना, पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना आदि सभी को वे तिलांजलि दे देते हैं और निरन्तर अपनी कल्पना मे तन्मय रहते है। वह संसार इतना सुखद प्रतीत होता है कि उन्हे कुछ भी करने की इच्छा नही होती और फलस्वरूप वे निकम्मे, अन्तर्मुखी आदि बन जाते हैं और जीवन में सदा असफल रहते है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नियन्त्रित कल्पना बच्चों के लिए लाभप्रद और असंयित कल्पना हानिप्रद सिद्ध होती है। अतएव बाल-जीवन मे इसका जो महत्त्वपूर्ण हाथ है उसे हम भूल नही सकते। इसलिये माता-पिता तथा शिक्षको को चाहिए कि वे बच्चो की कल्पनाओं को समुचित रूपेण विकसित होने में सहायक हों।

दसवाँ अध्याय

खेल और उसका विकास

(Play and its Development)

१. व्याख्या तथा स्वरूप

खेल-व्यापार मनुष्य तथा अन्य जीवों में भी देखने में आता है। इसलिये इसे हम प्राणी का व्यापक व्यवहार कह सकते है। आज से कुछ वर्ष पहले लोग इसे एक निरर्थक व्यापार समझकर तिरस्कृत किये हुए थे, किन्तु धीरे-धीरे इधर बालहित-संलग्न महापुरुषों का ध्यान आकृष्ट होने लगा और उन्होंने इसके महत्व को समझ कर इसके स्वरूप, व्याख्या आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया। उन्हे यह भलीभाँति मालूम हो गया कि वस्तुतः खेल और काम मे प्रकार-भेद नही, बल्कि मात्रा-भेद है। कोई भी खेल काम में और काम खेल में परिणत हो सकता है। किन्तु, जितना व्यापक यह व्यापार हम लोगो को प्रतीत होता है उतनी ही विषमता इसके स्वरूप को व्यक्त करने में है। इस सम्बन्ध मे कई सिद्धान्त मौजूद हैं, किन्तु, कोई भी सिद्धान्त अकेले यह व्यक्त करने मे असमर्थ है कि कोई बच्चा क्यों खेलता है और खेल क्या है ? इसके पहले कि हम विभिन्न सिद्धान्तों पर यहाँ प्रकाश डालें, इसकी व्याख्या द्वारा इसके स्वरूप का दिग्दर्शन करा देना आवश्यक हो जाता है।

यदि हम खेल की व्याख्या करे तो थोड़े शब्दो में कह सकते है कि खेल एक ध्येयहीन स्वाभाविक तथा स्वतन्त्र (Free) क्रिया है जिसके करने से आनन्दानुभूति होती है। कहने का सारांश यह है कि खेलने से बच्चे या सयाने को किसी विधेयात्मक ध्येय (Objective aim) की प्राप्ति नही होती। इसका एक मात्र लक्ष्य खेलना ही रहता है। खेलना खेलने के लिये होता है, किसी चीज को पाने के लिये नहीं। यही कारण है कि इसे ध्येयविहीन कहा गया है। किन्तु, इस सम्बन्ध में कुछ लोग आपत्ति उठा सकते है कि खेलने से भी किसी लक्ष्य विशेष की प्राप्ति होती है। पर इस आपत्ति उठानेवाले को यह ध्यान में रखना चाहिये कि खेलनेवाला किसी अन्य मकसद (Aim) से नहीं खेलता, यदि उससे किसी प्रकार के लक्ष्य की प्राप्ति होती है तो उसे गणौ

ही समझना चाहिये, क्योंकि खेलते समय उस ध्येय की चेतना (Consciousness) कदापि नहीं रहती।

स्वाभाविक (Spontaneous) क्रिया खेल को इसलिये कहते हैं कि यह क्रिया बाध्य होकर नहीं की जाती, बल्कि स्वतः की जाती है। जब दो चार बच्चे कहीं मिलते हैं तब वे अपने समय को व्यर्थ व्यतीत नहीं करते, अपितु स्वतः कुछ खेलना शुरू कर देते हैं।

खेल को स्वतन्त्र क्रिया इसलिये कहते हैं कि इसे बच्चे या अन्य व्यक्ति जब तक चाहते है करते है और जब चाहते हैं स्थगित कर देते हैं, क्योंकि उन्हें किसी बाह्यशक्ति की परवाह नहीं रहती। अभी लड़के घर बनाने के खेल में संलग्न हैं, किन्तु इच्छा होने पर अधूरा घर छोड़ कर किसी दूसरे काम में वे लग सकते हैं। यहाँ यह भी कह देना जरूरी है कि स्वतन्त्र क्रिया का यह मतलब नहीं कि बच्चे खेल में किसी नियम और अनुशासन को स्थान ही नहीं देते, बल्कि इससे यह समझना चाहिये कि जो नियम या अनुशासन बच्चों को खेल में मानना पड़ता है वे स्वनिर्मित होते है और खेल को सफल बनाने के लिये बच्चे उसे सहर्ष अपनाते हैं। उस नियम के पालन मे किसी प्रकार की बाध्यता (Compulsion) नही रहती।

इस परिभाषा को और भी स्पष्ट करने के लिये दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि खेल एक सुखद (Pleasant) प्रक्रिया है। यह सुखद इसलिये है कि इसे करते वक्त बच्चा या सयाना किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता, क्योंकि वह स्वयं संचारित रहती है। जब उसकी इच्छा होती है वह खेलना आरम्भ कर देता है। जिस प्रकार किसी कौतूहल का दर्शन बच्चे को सुखद एवं प्रिय मालूम होता है उसी प्रकार खेल-क्रिया भी। उसके करने मे वह अन्य कामों की तरह किसी प्रकार के बोझ का अनुभव नहीं करता। उसकी मनोवृत्ति (Attitude) इस तरह रहती है कि वह कुछ नहीं समझता है और फलतः वह सुखद मालूम होती है। कितने विद्यार्थियों को मनोवृत्ति विशेष के कारण पढ़ना खेल होने के कारण सुखद मालूम होता है। उसी मनोवृति के अभाव के कारण वही दूसरों को भार-सा मालूम होता है। इसलिये कितने महापुरुषों ने अपने कार्य को खेल कहकर जीवन में एक भी कार्य नहीं करने का दावा किया है।

इतना ही नहीं, बल्कि खेल आत्मप्रेरित (Self-motivated) रहता है। कहने का सारांश यह है कि खेल में आन्तरिक प्रेरणा इतनी रहती है कि खिलाड़ी उसी में ध्यानमग्न होकर अपनी सारी शक्ति लगा देता है।

जब दो बच्चों में पेड पर चढ़ने की बाजी लग जाती है तो दोनों इस प्रकार पेड़ पर चढ़ने की क्रिया में अपनी शक्ति लगा देते हैं कि उसमें सजीवता (Liveliness) आ जाती है। कोई भी बच्चा अपनी क्रिया में किसी प्रकार की शिथिलता नहीं लाता। अतः खेल को हम सुखद, ध्येयविहीन, स्वतन्त्र एवं आत्मप्रेरित क्रिया कह सकते हैं। इसे और भी बोधगम्य बनाने के लिये खेल और काम के अन्तरों, खेल प्रकार, खेल को प्रभावित करनेवाले विभिन्न अंगों, आदि पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

२. खेल और काम (Play & work) में अन्तर

काम और खेल मे प्रकार-भेद नही, अपितु मात्रा या अंश भेद है, क्योंकि कोई क्रिया खेल है या काम, इसका निर्णय क्रिया करने वाला ही कर सकता है, उसको अवलोकन करने वाला नहीं। कोई भी क्रिया खेल से काम में और काम से खेल मे परिवर्तित हो सकती है, क्योंकि खेल या काम पूर्णतः कर्त्ता की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। अब इन दोनों के अन्तरों को व्यक्त करने के लिये यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि खेल एक स्वतंत्र, आत्मप्रेरित तथा स्वाभाविक क्रिया है, किन्तु काम को हम ऐसा नही कह सकते। जब तक बच्चा चाहता है तब तक खेलता है और जब उसकी इच्छा खेलने की नहीं होती, वह खेलना स्थगित कर देता है। खेलने की प्रेरणा उसे स्वतः मिलती है, अतः वह खूब तन्मय होकर खेलता है। किंतु, सभी कामों को मनोनुकूल प्रचारित या स्थगित नहीं किया जा सकता, क्योंकि उसको किसी ध्येय को प्राप्त करने के लिये किया जाता है। उसमे कुछ बाहरी प्रतिबन्ध रहता है, इस कारण उसे हम स्वाभाविक क्रिया नहीं कह सकते।

जैसा कि ऊपर व्यक्त किया जा चुका है, खेलने का ध्येय खेलने के अतिरिक्त कुछ नही होता, किन्तु काम का ध्येय किसी अभिष्ट को प्राप्त करना रहता है। जब बच्चे कबड्डी, आँखमिचौनी आदि खेल खेलते है तो उनका एकमात्र ध्येय खेलना रहता है, परन्तु जब कोई श्रमिक (Labourer) किसी कार्य को करता है तो उसका लक्ष्य जीविकोपार्जन करना रहता है। कभी-कभी किसी खेल से भी किसी अभीष्ट की सिद्धि होती है, किन्तु उसको गौण (Secondary) समझना चाहिये, क्योंकि उस अभीष्ट को ध्यान में रखकर नहीं खेला जाता है।

हम ऊपर कह चुके हैं कि खेल एक सुखद क्रिया है, किन्तु काम को हम सुखद नही कह सकते। काम अधिकांश इच्छा के प्रतिकूल करने मे रसहीन प्रतीत होता है। जब बच्चे होड लगाकर किसी दूरी को तय करते हैं तो वह खेल होने के कारण सरस प्रतीत होता है, किन्तु यदि उसी दूरी का तय करना किसी निश्चित स्थान पर पहुँचने के लिये होता है तब वह नीरस मालूम होने लगता है, क्योंकि वह बाधित क्रिया है। बाध्यता की चेतना उसे नीरस बना देती है।

खेल सदा बच्चे की शक्ति, प्रवृत्ति, तथा अभिरुचि के अनुसार होता है, किंतु कार्य के लिये इन उपर्युक्त शीलगुणो को अनुरुप होना आवश्यक नहीं है। काम प्रायः किसी लक्ष्य-प्राप्ति के लिये किया जाता है, इसलिये योग्यता, रूचि आदि के प्रतिकूल भी करना पड़ता है।

खेल से शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है, क्योंकि वह किसी ध्येय से प्रेरित होकर नहीं किया जाता है। पर काम के लिये यह आवश्यक नही कि उसके करने से शारीरिक एवं मानसिक विकास हो। कभी-कभी तो ऐसा काम करना पड़ता है जिससे दोनो प्रकार के विकास अवरुद्ध हो जाते हैं और इस प्रकार महान क्षति होती है।

खेल पर उम्र, लिंग और वातावरण आदि अंगो का अत्यधिक प्रभाव पड़ता है, किंतु काम पर नहीं, क्योंकि काम सदा किसी मकसद विशेष से ही करना पड़ता है। हम लड़के या लड़की किसी से भी बोझा ढोने का काम मजदूरी देकर करवा सकते हैं, कितु खेल तो लड़का लड़के काही खेलेगा, और लड़की दुलहिन, माता, नर्स, आदि काही खेलेगी।

खेल में कई प्रकार की क्रियाएँ निहित रहती हैं, किन्तु काम की क्रियाएँ सीमित होती हैं। बच्चा एक ही खेल को कई प्रकार से खेलता है, किन्तु मजदूर को किसी काम को करने के लिए किसी क्रिया विशेष को ही अपनाना पड़ता है।

खेल में खेलने वाला अपने को सफलता पूर्वक अभियोजित कर लेता है, क्योंकि सदा वह उसकी योग्यता के अनुरूप होता है, किन्तु काम में पूर्णतः अभियोजन असम्भव है, कारण काम सदा योग्यता के अनुसार ही नहीं करना पड़ता, बल्कि उससे अधिक भी करना पड़ता है।

यों तो इसी प्रकार और भी कई अन्तर इन दोनो में दिखलाये जा सकते हैं, किन्तु ये ही प्रधान है। फिर भी यह ऊपर व्यक्त कर दिया गया है कि काम

और खेल में प्रकार-भेद नहीं, अपितु मात्रा-भेद है, क्योंकि प्रवृत्ति पर काम या खेल निर्भर करता है।

३. खेल के प्रकार (Kinds of Play)

खेल इतना प्रशस्त है कि इसका वर्गीकरण (Classification) विभिन्न आधारों पर किया जा सकता है, परन्तु यहाँ हम इसके सामान्य प्रकार पर ही प्रकाश डालेंगे। कार्लग्रूस महोदय ने खेल को निम्नांकित पाँच प्रकारों में विभक्त किया है—(१) परीक्षणात्मक खेल (Experimental play), (२) गतिशील खेल (Movement play), (३) विवाद खेल (Fighting play), (४) रचनात्मक खेल (Constructive play) तथा (५) मानसिक खेल (Mental play)

(१) **परीक्षणात्मक खेल :**—ऐसे खेलों में बालक का कोई प्रयोजन नहीं रहता, वह स्वतः कौतूहलवश अपने सामने रखी हुई चीजों, अपने कपड़े आदि को उलटने-पुलटने लगता है। देखते-देखते उन्हें वह छिन्न-भिन्न करना आरम्भ कर देता है। सम्भवतः ऐसा करके वह अपने सामर्थ्य का परिचय देता है। इन खेलों से वह स्वयं भी अपनी शक्तियो को जान जाता है।

(२) **गतिशील खेल :**—गतिशील खेलों में बालक इधर-उधर दौड़ते, एक दूसरे को पकड़ने की कोशिश करते, किसी ऊँचे स्थान पर दौड़कर चढ़ते और उसके नीचे उतरते हैं। आँख मिचौनी आदि सामूहिक खेलों को हम इस नाम से पुकार सकते हैं। ऐसे खेलो से बालक के अंग-प्रत्यंग हृष्ट-पुष्ट होते है।

(३) **विवाद खेल:**—लड़ने-झगड़ने वाले सामूहिक खेलों को जिसमें प्रतियोगता का भाव निहित रहता है विवाद खेल कह सकते हैं। शतरंज, हाकी, कबड्डी आदि खेलो की परिगणना इसके अन्तंगत हो सकती है। इन खेलों से बच्चे एक सामाजिक जीव बन जाते है और उनका व्यक्तित्व-विकास सुन्दर रूप से होता है। ऐसे खेलो की विशेषता यह है कि बच्चो में प्रतियोगिता की प्रवृत्ति निहित रहती है, इसीलिये बच्चे प्रायः लड़ाई-झगड़े कर लिया करते है।

(४) **रचनात्मक खेल:**—जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, बच्चे इस प्रकार के खेलो में तरह-तरह की चीजें बनाते हैं। आरंभ में तो इनकी रचना सयानों का अनुकरण मात्र रहती है, किन्तु वे रचनायें बाद में मौलिक हो जाती हैं। घर, पुल, रेलगाडी आदि बनाने के खेलो को रचनात्मक खेल

कहते हैं। ऐसे खेलों से बच्चे के मानसिक विकास में अत्यधिक सहायता मिलती है और आगे चलकर बच्चे कुशल कलाकार, वैज्ञानिक (Scientist) आदि होते हैं। जो बालक जितना अधिक बुद्धिमान होता है उसका खेल उतना ही रचनात्मक होता है।

(५) मानसिक खेलः—जिन खेलों का सम्बन्ध बुद्धि एवं विचार से रहता है उन्हें मानसिक खेल कहा जाता है। बुझौवल, शतरंज, ताश, शब्द-निर्माण (Word-making) आदि खेलो को मानसिक खेल कहते हैं। इन खेलों से बच्चे की विचार-शक्ति की उन्नति होती है। इन्हें सभी बालक नहीं खेल सकते, क्योंकि विचार और बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है।

स्थान के आधार पर खेल को हम दो प्रकार में बाँट सकते हैं—(१) बाह्य खेल और (२) आन्तरिक खेल।

(१) बाह्य खेल (Outdoor Play):—जिन खेलों को बच्चे घर से बाहर खुले मैदान में खेलते हैं उन्हें बाह्य खेल कहते हैं। प्रायः ऐसे खेल सामूहिक होते हैं जैसे, कबड्डी, चकवा, हाकी, फुटबाल आदि। इन खेलो का प्रभाव बच्चो के सामाजिक एवं शारीरिक विकास पर पड़ता है।

(२) आन्तरिक खेल (Indoor Play):—वे खेल जिन्हें बच्चे घर के अन्दर या प्रांगण में खेलते हैं उन्हें आन्तरिक खेल कहते हैं। कैरम, शतरंज, ताश, शब्दनिर्माण आदि को हम आन्तरिक खेल कह सकते हैं। इनसे खेलनेवालों की संख्या एक से लेकर चार पाँच से अधिक नहीं होती। घर में खेले जानेवाले बहुत खेल ऐसे होते हैं जिन्हें बच्चा अकेले भी खेल सकता है। ऐसे खेलों का असर मानसिक विकास पर अत्यधिक पड़ता है।

पुनः सक्रियता अथवा सजीवता के आधार पर हम खेल को निम्नांकित प्रकार में बाँट सकते हैं—(१) विनोद खेल, (२) सीमित संख्या खेल तथा (३) विहार खेल।

(१) विनोद खेल (Amusement):—इस प्रकार के खेल में खेलनेवाले की प्रवृत्ति निष्क्रिय (Passive) सी रहती है। उसे दौड़ना धूपना नही पड़ता। तमाशा, चित्र, आदि को देखना, कहानी आदि को सुनना हम विनोद खेल कह सकते हैं। इनसे बच्चे को आनन्द मिलता है, किन्तु इन खेलों के लिये उसे दौड़ना, लड़ना, झगड़ना नही पड़ता है।

(२) सीमित संख्या-खेल (Games):—फुटबाल, ताश, शतरंज, कैरम आदि खेलो को हम सीमित संख्या-खेल कहते है। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि इन खेलों का समुदाय अत्यन्त ही सीमित रहता है,

क्योंकि खेलनेवालों की संख्या निर्धारित रहती है। ऐसे खेलों में बच्चे सक्रिय रहते हैं, क्योंकि उनके अन्दर प्रतियोगिता (Competition) एवं होड़ का भाव रहता है। ऐसे खेलों में कुछ ऐसे नियम निर्धारित होते हैं जिन्हें इन खिलाडियों को मानना पडता है। ऐसे खेलों में शारीरिक एवं मानसिक दोनों प्रकार के विकास होते हैं।

(३) विहार खेल (Sports):—विहार खेल में उपर्युक्त दोनों खेलों से अधिक सक्रियता रहती है। खेलनेवाले जान की बाजी लगाकर खेलते हैं। ऐसे खेल भी सामूहिक होते है, पर इनमें संख्या निश्चित नही रहती। इनमें भी प्रतियोगिता का भाव अधिक अंशो मे पाया जाता है। ये सभी खेल मैदान मे खेले जाते है।

शिकार खेलना, तैरना, दौड़ना, आदि को हम विहार खेल कह सकते हैं। ऐसे खेलों का प्रभाव शारीरिक विकास पर पड़ता है।

इसी प्रकार विभिन्न दृष्टिकोणो से खेलो का विभाजन हो सकता है, किन्तु अब हम उन पर अधिक प्रकाश डालना आवश्यक नही समझते।

४. खेल को प्रभावित करने वाले अंग

सभी बच्चों के खेल एकही समान नहीं होते और न एक बच्चा हमेशा एकही खेल खेलता है। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चों के खेल में अन्तर होता है। यदि हम अन्तरों के कारणो पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि बच्चों के खेल को कई अंग (तथ्य) प्रभावित करते हैं। इसलिये उनके खेलों मे अन्तर पड़ता है। यहाँ हम उन अंगों पर क्रमशः संक्षेप रूपमें प्रकाश डालेंगे।

(१) सामाजिक परिपक्वता (Social Maturity):—प्रारम्भ में बच्चे जब बहुत छोटे रहते हैं और जब उनका समाज उन्ही तक या उनके माता-पिता तक सीमित रहता है तब वे अपने आपसे या खिलौनो से खेलते हैं। आस-पास जो सयाने या बच्चे रहते है उन्हे वे अपने खेल में सम्मिलित नहीं करते, किन्तु ज्योंही उनमे सामाजिक परिपक्वता आती है त्योंही वे दो-तीन बच्चों के साथ खेलना आरम्भ कर देते हैं। उन सभी बच्चो के खिलौने एक ही से होते हैं। ज्यों-ज्यों इनका सामाजिक विकास होता है त्यों-त्यों उनके खेलो में अन्तर पड़ता है। आरम्भ मे उनके खेल अनुकरणात्मक (Imitative) होते है, पर बाद मे मौलिक और रचनात्मक होते हैं। जब वे बड़े-बड़े समुदायो मे खेलते है तो उनके खेल प्रतियोगिता

की भावना से ही होते हैं। यह प्रतियोगिता प्रायः दो समुदायों में होती है। सामूहिक खेलोंमें कुछ नियमों का प्रतिपालन करना पड़ता है जो छोटे छोटे बच्चों में नहीं होता। इस प्रकार सामाजिक परिपक्वता का प्रभाव बच्चों के खेल पर अधिक पड़ता है।

(२) लिंगभेदः—बच्चों के खेल पर लिंग-भेद का असर भी देखने में आता है। शुरू में उनके खेलो में अन्तर नही दिखलाई पड़ता, किंतु इतना अवश्य है कि लड़के लड़कियो की अपेक्षा अधिक सक्रिय होते हैं। आठ-दस बर्ष की अवस्था में इन दोनो के खेल में अन्तर स्पष्टतया दिखलाई देता है। लड़के लड़कों के साथ और लड़कियाँ लड़कियों के साथ खेलती हैं। लड़के गेंद, फुटबाल, हाकी आदि खेलते हैं और लडकियाँ पुतली, घर बनाने आदि का खेल करती हैं। आगे चलकर दोनों एक ही तरह के खेल खेल सकते हैं, किन्तु लड़कियों के खेल अधिकांश संयत रहते हैं। दोनों के खेल प्रतियोगितामय हो सकते है और कभी-कभी एक ही खेल दोनो खेलते हैं तथापि उन दोनों के ढंग में अन्तर पड़ता है। कहने का अभिप्राय यह है कि आरम्भ और अब के खेलो में लिंग भेद का असर उतना नहीं दिखलाई पड़ता, किन्तु मध्यवर्षीय बच्चों के खेलों में लिंगभेद के कारण अधिक अन्तर पड़ता है। लड़के सैनिक, नेता, दारोगा आदि के खेल खेलते हैं, लेकिन लड़कियाँ माता, दाई, नर्स, पुतली, सिलाई आदि के खेलों को खेलती हैं।

(३) बुद्धिः—लेहमन तथा विटी का कथन है कि मन्दबुद्धि और बुद्धिमान बालकों के खेल में विशेष अन्तर नही पड़ता, लेकिन बुद्धिमान बच्चे मन्दबुद्धि वच्चे की अपेक्षा अधिक प्रकार के खेल खेलते हैं। बुद्धिमान बच्चे अपने खेल में मौलिकता और रचनात्मक प्रवृत्तिका प्रदर्शन करते है, किन्तु मन्दबुद्धि के बच्चे इन गुणों का प्रदर्शन अपने खेलों में नही कर पाते। उनके खेल सदा अनुकरणात्मक होते हैं। वे अकेले खेले जानेवाले खेलों को नही खेलते, क्योंकि उन्हे अपनी अक्षमता (Incapability) के प्रकट होने का भय रहता है। अतः वे बराबर उन्ही खेलो को खेलते हैं जिनमें दो-चार बच्चे खेलते हैं। तीव्रबुद्धि के बच्चे आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के खेलो को खेलते हैं, परन्तु उनकी अभिरुचि उन्ही खेलो में रहती है जिनमें वे अपनी योग्यता को प्रदर्शित कर सकते हैं।

(४) भौतिक तथा सामाजिक वातावरण :—इस अंग के अन्तर्गत हम स्थान, समय, ऋतु, जलाशय, साथी आदि का प्रभाव बच्चों

के खेल पर देख सकते हैं। प्रायः हम लोग नित्यप्रति ऐसा देखते हैं कि जिन नगरों में खेलने के लिये स्थानाभाव रहता है वहाँ वे ही खेल खेले जाते हैं जिनके लिये कम से कम जगह की जरूरत होती है। परन्तु गाँवों में जहाँ जगह की कमी नहीं रहती, लड़के कवड्डी, चिक्का आदि खेलों को खेलते हैं। बहुत से खेल दिन मे ही खेले जाते हैं, रात में नहीं। ऋतु और जलवायु के अनुसार बच्चे अपने खेलो को निर्धारित किया करते हैं।

बहुत से खेल ऐसे हैं जो केवल जाड़े में खेले जाते हैं और बहुत से खेल केवल गर्मी या बरसात ही में खेले जा सकते हैं, जाड़े में नहीं। जो खेल ठंढे देशों मे प्रचलित है उनमे कुछ गर्म देशों में नहीं खेले जाते या जो खेल पर्वतीय बच्चे खेलते हैं उन्हीं खेलों को समुद्रतटीय या मैदान में रहनेवाले बालक नहीं खेलते। कुछ खेलो के लिये खेलनेवालो की संख्या भी निश्चित रहती है और कुछ खेलो के लिए नहीं। अतएव साथियो का भी खेल पर प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार सामाजिक तथा भौतिक वातावरण का प्रभाव बच्चों के खेल पर बहुत महत्वपूर्ण पडता है।

(५) **परम्परा** (Tradition):—बचो के खेल पर परम्परा का भी असर पड़ता है। ऐसी बहुत-सी पौराणिक कथाएँ हैं जो परम्परा से प्राप्त होती रहती हैं। बच्चे उन जनश्रुत कथाओं को अपने खेलो मे स्थान देते है। परम्परा के कारण बहुत से ऐसे खेल हैं जिन्हें सिर्फ बालक या बालिकाएँ खेल सकती हैं, दोनो नही। बहुत से ऐसे देश हैं जहाँ ऐसी परम्परा चली आती है कि बच्चों को एक निश्चित अवस्था के बाद खेलने नहीं दिया जाता या निश्चित अवसरों पर खेल विशेष नहीं खेले जाते हैं।

(६) **साधन** (Materials):—बच्चों को खेलने के लिये खिलौने तथा अन्य साधनों की नितान्त आवश्यकता पड़ती है, अतः उनके खेलों पर साधन का असर पड़ता है। गाँवों में, जहाँ हर प्रकार के खिलौनों तथा साधनों की सुविधा नहीं रहती वहाँ के बच्चे नागरिक बच्चे से भिन्न खेल खेलते हैं।

यदि गाँव के बच्चे चौगान, चेत, मिट्टी का घर बनाने आदि का खेल खेलते हैं तो शहर के रहनेवाले बच्चे कैरम, शतरंज, फुटबाल, वालीबॉल, टेनिस आदि खेल खेलते हैं। जो साधन शहर के बच्चों को मिलता है वह गाँव में रहनेवाले बच्चों को नहीं मिलता, इसलिये वे नागरिक खेलो से वंचित रहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि बच्चे उन्हीं खेलो को खेलते हैं जिनके लिये उन्हें खिलौने या अन्य साधन उपलब्ध होते है।

(७) अवस्था (Age) :—बच्चों के खेल को जितने अंग प्रभावित करते हैं उन सबमें अवस्था का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। जब लड़के बहुत छोटे और कोमल होते हैं तब वे खिलौनों से न खेलकर अपने आप से खेलते हैं। जब वे कुछ दिनों के हो जाते हैं तब जिन चीजों को वे हाथ में पकड़ सकते हैं उनसे खेलते हैं। इसीलिये छोटे-छोटे बच्चों को झुनझुना, सीटी आदि ही खेलने के लिये दिये जाते हैं। दो से पाँच वर्ष की अवस्था वाले बच्चे मिट्टी, गुड़िया, गेंद आदि के साथ खेलते हैं। छः से तेरह की अवस्था के बच्चे सामूहिक खेलों को खेलना पसन्द करते है, इसलिये वे हाकी, फुटवॉल, दौड़ना आदि खेलों में विशेष रुचि रखते हैं। वे खुले मैदान मे खेलना अधिक श्रेयष्कर समझते हैं। इसके बाद बच्चों में विहार खेल के लिए आकर्षण दिखलाई पड़ता है। वे तरह-तरह की संस्थाओं के सदस्य बनकर लाठी चलाना, लेजिम भाँजना आदि खेलों का प्रदर्शन करते हैं। प्रतियोगिता की भावना से बच्चे इसी अवस्था में खेलते हैं। जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, शिकार खेलना, नौकारोहण (Boating), तैरना आदि इस अवस्था के विशेष खेल हैं। कहने का आशय यह है कि आरम्भ में बच्चों के खेल सीमित तथा सरल होते हैं, पर अवस्था बढ़ने पर उनकी सीमा बढ़ जाती है और उनमें विषमता आ जाती है। प्रारम्भिक खेल अकेले खेलेजाने वाले होते हैं पर बाद के प्रायः सभी खेल सामूहिक होते है। अवस्था परिवर्तन के साथ ही खेल सामग्रियों में भी परिवर्तन होता है। थोड़े में हम कह सकते हैं कि बच्चों के खेल उनकी अवस्था से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। इन उपर्युक्त अंगों के अतिरिक्त और भी कुछ अंग हैं जो उनके खेलों को प्रभावित करते हैं, परन्तु ये सभी अंग गौण हैं और सूक्ष्म विवेचन करने पर उन्हें हम इन्हीं के अन्तर्गत रख सकते हैं।

५. खेल के सिद्धान्त (Theories of Play)

खेल क्या है और कोई बच्चा क्यों खेलता है आदि की व्याख्या करने के लिये कई सिद्धान्त विभिन्न विद्वानों द्वारा उपस्थित किये गये हैं, परन्तु उनमें से कोई भी पूर्णतः सन्तोषप्रद नही है। इसलिये हम उनमें से कुछ प्रमुख सिद्धान्तों पर संक्षेप रूप मे विवेचनात्मक प्रकाश डालेंगे और अन्त में इस सम्बन्ध मे अपना विचार प्रकट करेंगे।

(१) प्रवृद्धशक्ति—व्यय-सिद्धान्त (Surplus Energy Theory):—हर्बर्ट स्पेन्सर का कथन है कि जब बच्चों में अत्यधिक जीवन

शक्ति (Energy) संचित हो जाती है तब वे उनका व्यय खेलकर किया करते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार आवश्यकता से अधिक संचित जीवन-शक्ति को खर्च करने का एकमात्र साधन खेल है। परन्तु, यदि इस पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि यह सिद्धान्त त्रुटियों से रहित नहीं है।

इसके आधार पर हम 'क्यों' की व्याख्या आसानी से कर सकते है, किन्तु इसकी कदापि व्याख्या नहीं कर सकते कि विभिन्न प्रकार के खेलो के क्या कारण है? हम यह अच्छी तरह जानते हैं कि सभी बच्चे एक ही खेल नही खेलते, परन्तु खेल में भी विकासक्रम है। किसी अवस्था विशेष का बच्चा किसी खेल विशेष को ही खेलता है, अन्य खेलो को नहीं। इसका क्या कारण है, इसकी व्याख्या करने मे यह सिद्धान्त असमर्थ है। प्रायः ऐसा देखा जाता है, कि थका बच्चा भी खेलता है। यदि संचित शक्ति का व्यय करना ही खेल का एकमात्र ध्येय होता तो परिश्रान्त बच्चे क्योंकर खेलते। फिर भी खेलों से शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है, यदि यह सिद्धान्त सत्य होता तो ऐसा कदापि नहीं होता। इसके अतिरिक्त स्वस्थ बच्चो के साथ-साथ अस्वस्थ बच्चे भी खेलते हैं। यदि यह सिद्धान्त ठीक होता तो रोगी बच्चे कदापि नहीं खेलते। अतएव यह सिद्धान्त खेल की पूर्ण व्याख्या करने में असमर्थ है।

(२) भावी जीवन की तैयारी-सिद्धांत (Preparation for future life):—कार्लग्रूस ने जानवरों और मनुष्यो के बच्चों के खेल का अध्ययन करके इस सिद्धांत को प्रतिपादित किया। उनका मत है कि बच्चे अपने खेलों द्वारा अपने भावी जीवन मे किये जाने वाले कामों को करने की तैयारी करते है। जब बच्चे सैनिक, न्यायाधीश, शासक आदि के खेलो को खेलते है तब वे अपने प्रौढ जीवन के व्यवसाय को करने का ढंग सीखते हैं। लडकियाँ जब गुडियो को खिलाने-पिलाने और बच्चे की तरह सुलाने का खेल खेलती हैं तब वे माताओं द्वारा किये जाने वाले कामों के उपयुक्त अपने को बनाती हैं। चोर और लुटेरों के खेल से बच्चे उन कार्यों की क्षमता अपने मे लाते है। इसी प्रकार ऐसा कोई भी खेल नही जिनके द्वारा बच्चे अपनी प्रौढावस्था के कामो को नहीं सीखते हो। जानवरों के बच्चों के खेल भी इसी ध्येय से होते है। यदि हम इस सिद्धान्त के गुण-दोषों पर विचार करे तो हमे मालूम होगा कि इसमे कुछ सत्यता अवश्य है। वस्तुतः खेलो से बच्चो का शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है जिसके प्रसाद से वे अपने जीवन के कार्यों को सफलतापूर्वक करते हैं। परन्तु, इतना होते

हुए भी हम सभी प्रकार के खेलों की व्याख्या इस सिद्धान्त के आधार पर नहीं कर सकते। अतः यह सिद्धान्त अपूर्ण है और सर्वमान्य भी नहीं है।

(३) विश्रांति-सिद्धान्त (Relaxation Theory) पैट्रिक का कथन है कि जब बच्चे थक जाते है तब खेल के द्वारा वे अपनी थकावट को दूर करते है। ऐसा हम लोगों का अनुभव है कि काम में अधिक शक्ति और ध्यान लगाने के कारण हम लोग परिश्रान्त हो जाते है, इसीलिये उसे दूर करने के लिये खेलते हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार काम करने से जो थकावट मस्तिष्क केन्द्र मे हो जाती है, खेलने से वह दूर हो जाती है। अतएव खेलने का एकमात्र ध्येय उलझनो एवं थकावटो से छुटकारा पाना है।

सयानों के लिये यह अधिकांश ठीक है, क्योंकि अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो काम को भारस्वरूप समझते हैं और उसे करते-करते थक जाते हैं। अतः खेल कुछ हदतक उनकी थकावट को दूर कर देता है। परन्तु, यह कथन बच्चों के लिये किसी भी अंश मे ठीक नहीं जँचता, क्योंकि प्रौढ़ों एवं बच्चो को एक ही समकक्ष मे रखना ठीक नहीं। उन दोनों के जीवनदर्शन (Philosophy of Life) पूर्णतः भिन्न होते हैं। इसके अतिरिक्त कोई अभी तक ऐसा प्रमाण नहीं मिला है जिसके आधार पर यह निश्चित किया जाय कि किसी प्रकार के काम करने से अन्य शारीरिक अंगों की अपेक्षा मस्तिष्क-केन्द्र शीघ्र थक जाते हैं।

(४) पुनरुक्ति सिद्धान्त :—स्टैनले हॉल का मत है कि खेल वंशानुक्रमिक तथा जातीय होता है। अतः बच्चे अपने खेलों में अपने पूर्वजों के कामों और आदतों का पुनरावर्तन करते है। जब बच्चे शिकार का खेल खेलते हैं या कन्दराओं और गुफाओं को बनाकर खेलते हैं तो हमें यही आभास मिलता है कि हमारे पूर्वज आदिम (Primitive) अवस्था (Stage) में शिकार पर ही अपना जीवन व्यतीत करते थे और कन्दराओ तथा गुफा ही उनके निवासगृह थे। इसके अनुसार हमारी वर्तमान संस्कृति का विकास सहसा इस अवस्था को नहीं पहुँच गया, बल्कि कई क्रमो एवं अवस्थाओं के पश्चात इस अवस्था में है। यही कारण है कि सयाने भी अपनी रुचि अन्य कामो की अपेक्षा खेल में अधिक दिखलाते हैं। वस्तुतः यह सिद्धान्त बहुत ही रोचक प्रतीत होता है और इसके आधार पर कई प्रकार के खेलों की व्याख्या भी हो सकती है। पर इसे वैज्ञानिक एवं सर्वांगसुन्दर नहीं कह सकते, क्योंकि यह मानने के लिये हमें यह मानना पड़ेगा कि हमारे अर्जित

शीलगुण भी वंशानुक्रमिक हैं, किन्तु इसकी सत्यता का खण्डन जैव विज्ञान (Biological Science) के प्रयोगात्मक परिणामों द्वारा पहले ही हो चुका है।

(५) मनोविश्लेषणात्मक-सिद्धान्त (Psychoanalytic Theory):—फ्रायड तथा उनके अनुयायियों का कथन है कि खेल का आविर्भाव बच्चों में उनके संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है। उनके खेलों से उनके अचेतन मानस जीवन (Unconscious mental life) पर प्रभाव पड़ता है तथा उनकी अतृप्त इच्छाओं (Unsatisfied Desires) की संतुष्टि होती है। बच्चों के खेल तथा उनकी सामग्रियों से उनके पारिवारिक तथा आत्म-जीवन पर प्रकाश पड़ता है। बच्चा यदि अपने माता पिता से संतुष्ट रहता है और उन्हें समादर की दृष्टि से देखता है तब अपने खेलो में वह अपने माता-पिता के प्रतीकों (Symbols) को भी आदर की दृष्टि से देखता है तथा उन्हें उच्च स्थान देता है। जो लडका किसी कारणवश अपने शिक्षक का विद्वेषी रहता है वह अपने उस भाव को अपने खेलो मे भी प्रदर्शित करता है। इस प्रकार इस सिद्धान्त से उसके मानसिक जीवन का ज्ञान प्राप्त होता है तथा उसकी अतृप्त इच्छाओं की संतृप्ति होती है। यह सिद्धान्त न तो पूर्णतः दोषी है और न इसे सर्वांग सुन्दर ही कहना उचित है। यह सत्य है कि खेलो से बच्चे के मानसिक संघर्षों का ज्ञान होता है, किन्तु सभी खेलों को इस सिद्धान्त के आधार पर हम प्रतिपन्न कहने में असमर्थ हैं। बच्चे बहुत खेल ऐसे खेलते हैं जिनसे उनके मानस जीवन पर कुछ भी प्रकाश नहीं पड़ता है।

इसी सिद्धान्त से मिलता-जुलता एक दूसरा सिद्धान्त है जिसके अनुसार बच्चों का खेल एक अतिपूर्त्ति-व्यवहार (Compensatory Behaviour) के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उसका मूल सिद्धान्त यह है कि जब बच्चे किसी इच्छा को पूरा करना चाहते हैं और उसकी पूर्त्ति में असमर्थ होते है तो वे उसकी पूर्त्ति खेल मे करते हैं। यदि कोई बच्चा अपने समूह का अधिनायक होना चाहता है और नही होता है तब वह छोटे-छोटे खिलौनों को सैनिक बनाकर उन्हे आदेश देकर अथवा तरह तरह का पुरस्कार और दण्ड देकर अपनी इच्छा को संतृप्त करता है। इसी प्रकार जब बच्चा वास्तविक जगत की समस्याओं को सुलझाने मे समर्थ नहीं होता तब खेलों के द्वारा वह कल्पना-संसार में विचरण करने लगता है। परन्तु, यह सिद्धान्त संतोषप्रद नही है। इसलियेइसे हम प्रामाणिक नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें भी वे ही दोष हैं जो मनोविश्लेषणात्मक सिद्धान्त मे हैं।

(६) सामाजिकता-अभ्यास-सिद्धान्त :—पियाजे तथा उसके अनुयायी मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि खेल के द्वारा बच्चे सामाजिक प्राणी बनते हैं, अर्थात् सामाजिक अभियोजन के लिये खेल ही बच्चों के लिये एक मात्र साधन है। जब बच्चे छोटे रहते हैं तो उनमें सामाजिकता न रहने के कारण वे आत्मकेन्द्रित रहते है। इसलिये इस अवस्था में वे ऐसे ही खेलों को खेलते हैं जिनके लिये अन्य बालकों की आवश्यकता नहीं रहती। वे जब कुछ और बड़े होते हैं तो उनके खेलो की सीमा बढ़ जाती है और तब वे दो-तीन बच्चों के साथ खेलते हैं।

उस समय उन्हें अपने साथियों के अनुरूप अपने व्यवहारों को बनाना पड़ता है। तीसरी अवस्था में, जो दस वर्ष के लगभग में आती है, बच्चे खेल के नियमों का पूर्णतः पालन करते हैं और सामूहिक खेलो में भाग लेते हैं। इस समय वे बहुत ही सामाजिक बन जाते हैं। अन्ततोगत्वा उनके खेल की चौथी अवस्था पूर्णतः समाजिकता से ओतप्रोत और उनका व्यापार सर्वांशतः सामाजिक होता है। अतः थोड़े में हम कह सकते हैं कि खेलो द्वारा बच्चे सामाजिकता का अभ्यास करते है। यदि इस सिद्धान्त पर विचार किया जाय तो मालूम होगा कि इसके आधार पर हम खेल की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या सन्तोषप्रद कर सकते हैं, किन्तु इसे एक सर्वाङ्ग सुन्दर सिद्धान्त कहना अनुचित होगा। खेल के द्वारा उनके सामाजिक विकास की हम व्याख्या कर सकते हैं, किन्तु इसकी जो अन्य उपयोगिताएँ बालजीवन मे हैं, उनकी व्याख्या नहीं कर सकते। इसलिये यह सिद्धान्त दोषरहित नही कहा जा सकता।

(६) डीवी-सिद्धान्त :—अभी तक हमने खेल के जितने सिद्धान्तो पर प्रकाश डाला है उनमें से कोई भी सिद्धान्त खेल की व्याख्या पूर्णतः करने में असमर्थ है। इन सिद्धान्तों के अतिरिक्त और भी कई सिद्धान्त विद्यमान हैं, किन्तु उनमें भी वे दोष हैं जो उपर्युक्त सिद्धान्तों में मौजूद हैं। अतः उन पर प्रकाश न डालकर अब हम डीवी सिद्धान्त की विवेचना करके यह देखने का प्रयास करेंगे कि यह किस अंश तक उपयुक्त माना जा सकता है।

डीवी महोदय का कहना है कि जीवन ही खेल है। कहने का सारांश यह है कि जीवन में जितनी भी क्रियायें होती हैं, सभी खेल हैं। वस्तुतः खेल और क्रिया में कोई प्राकारिक अन्तर नहीं, अपितु मात्रा-भेद है। एक ही क्रिया किसी के लिये कार्य्यविशेष हो सकती है और दूसरे के लिये खेल हो

सकती है। कोई क्रिया खेल है या काम, यह कर्त्ता की मनोवृत्ति पर निर्भर करता है। हम ऐसा देखते हैं कि कोई आदमी अपने काम को हँसते-हँसते करता है, किन्तु दूसरा उसी को भारस्वरूप समझता है। वस्तुतः दोनों के काम एक ही रहते हैं पर भावो में अन्तर मनोवृत्ति के अन्तर के कारण होता है। अतएव जीवन ही खेल है। डीवी महोदय के इस मत पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जायेगा कि खेल और जीवन की क्रियाओं में आकारिक अन्तर नहीं है। कोई काम खेल और कोई भी खेल काम से मनोवृत्ति विशेष के कारण परिवर्तित हो सकता है। इसलिये जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, डिवी-सिद्धान्त के आधार पर हम खेलो की संतोषप्रद व्याख्या कर सकते हैं और इसीलिए यह सिद्धान्त सर्वमान्य भी कहा जा सकता है।

६. खेल के अध्ययन की पद्धतियाँ

प्राचीनकाल मे खेलों के विकास और प्रकार का निर्णय लोग अनुमान और कल्पना के आधार पर करते थे, किन्तु वे निर्णय बहुत ही असंतोषप्रद थे। इस-लिये मनोवैज्ञानिका ने खेल के विकासात्मक पहलू, उसके अंग के प्रभाव तथा उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने के लिये कई पद्धतियो का निर्माण किया है। उनमें से हम प्रमुख पद्धतियों पर प्रकाश डालेगे।

(१) निरीक्षण (Observation) :—पहले खेल-सामग्री, या उसकी सर्वप्रियता और विकास का ज्ञान माताओ की सूचनाओ पर निर्धारित किया जाता था। माताएँ अपने बच्चो के खेल का निरीक्षण करके उनकी सूचनायें देती थीं। किन्तु, निरीक्षण की यह पद्धति बहुत अविश्वसनीय एवं रुढ़ थी। इसलिये अब लडको के खेल का अध्ययन करने के लिये पर्दा का प्रयोग किया जाता है जिसमे प्रयोक्ता को बच्चों के खेल देखने का अवकाश बना रहता है और लड़को को भी उसकी उपस्थिति का ज्ञान नहीं रहता। वे स्वतन्त्र तथा स्वाभाविक रूप से खेलते हैं। प्रयोक्ता उनकी विभिन्न प्रतिक्रियाओ तथा खिलौनो का निरीक्षण करता है। इस तरह कई निरीक्षक उन्ही बच्चो के खेल का अवलोकन करके अपना निर्णय तैयार करते हैं जिससे व्यक्तिगत निर्णय के दोषो की सम्भावना नहीं रह जाती।

सयाने बच्चो के खेलो का निरीक्षण उनकी स्वाभाविकता मे किया जाता है। इसको पहले पहल अमेरिका में प्रचलित किया गया जहाँ निरन्तर दो वर्षों तक विभिन्न समयो में उनके खेलों का निरीक्षण किया गया। इस

प्रकार के निरीक्षण से बच्चों के दस सर्वप्रिय खेलों का ज्ञान प्राप्त किया गया। विच प्रभिति नगरों के विभिन्न अंचलों में निरीक्षकों को एक निश्चित समय में नियुक्त कर दिया गया और उन लोगों ने बच्चों के विभिन्न खेलों का अध्ययन किया। खेल-अध्ययन की यह पद्धति सरल है किन्तु, उत्तम परिणाम के लिये दक्ष निरीक्षकों की परमावश्यकता है।

(२) साक्षात्कार (Interview):—खेल-अध्ययन की दूसरी विधि साक्षात्कार की है जिसमें साक्षात्कार कर्त्ता (Interviewer) विभिन्न बच्चों से व्यक्तिगत रूप से साक्षात्कार (पूछताछ) करता है। वह अपने सामने एक रजिस्टर रखता है जिसमें साक्षात्कार की सूचनाओं को अंकित करता है। बाद में खेल के प्रति वह अपना निर्णय देता है। यद्यपि इसमें साक्षात्कारकर्त्ता को अधिक समय देना पड़ता है, लेकिन यह कई और पद्धतियों से अच्छी है। किन्तु, इस सम्बन्ध में इस बात की सावधानी रखनी आवश्यक है कि साक्षात्कार विभिन्न अवस्था के लिये विभिन्न माध्यम का हो। वर्त्तमान में आठ वर्ष तक के बच्चोंके लिये और नौ से सोलह वर्ष के बच्चो के लिये अलग-अलग साक्षात्कार-निर्देशक सूचियाँ विद्यमान हैं।

(३) प्रश्नावली (Questionnaire) :—इस विधि से खेल का अध्ययन करने के लिये बहुत से प्रश्न निर्धारित हैं। इन प्रश्नों को बहुत लोगों के पास भेज दिया जाता है और उनसे इनके उत्तरों के लिये प्राथना की जाती है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि एक ही साथ बहुत लोगों को प्रश्न दिया जा सकता है। किन्तु, इसके साथ ही इसमें कई दोष भी हैं। पहली बात तो यह है कि प्रश्न बहुत ही सामान्य तथा अस्पष्ट (Vague) स्वरूप के होते हैं जो सीमित हैं। फिर भी व्यक्ति विशेष अपना उत्तर उस स्वाभाविकता के साथ देने में असमर्थ हो जाता है जिस तरह पर्दे द्वारा बच्चों के खेल का अवलोकन होता है। इसके अतिरिक्त प्रश्न के उत्तर निष्पक्ष नहीं होते हैं।

(४) खेल-प्रहसन (Play-quiz) :—लेहमन और विटी के खेल प्रहसन प्रमुख हैं। इसमें भी प्रश्न ही रहते हैं जिनका उत्तर हाँ, नहीं में दिया जाता है। प्रश्नों की संख्या प्रश्नावली से अधिक रहती है, परन्तु दो सौ प्रश्न यत्रतत्र दिये रहते है। उन प्रश्नों को वृत्त से घेर देना पड़ता है जिनका सम्बन्ध गत एक सप्ताह के इच्छानुसार किये जानेवाले खेलों या कामों से रहता है। इसका उत्तर प्रश्नावली की अपेक्षा सरलतया और सुन्दरतया दिया जा सकता है।

इस पद्धति को अपनाने से प्रयोक्ता को यह आसानी से मालूम हो जाता है कि बच्चे किन खेलों और खिलौनो को अधिक काम में लाते हैं या चाहते हैं और किस खेल का सम्बन्ध लिंगभेद, बुद्धि, सामाजिक वातावरण, उम्र आदि से कितना है। किन्तु, इस पद्धति में सबसे बड़ा दोष यह है कि इससे यह नहीं मालूम होता कि कोई बच्चा खेल विशेष किस प्रेरणा से खेलता है।

(५) औपचारिक पद्धति (Clinical meth d):—इस पद्धति से भी बच्चो के खेल का अध्ययन होता है। कई प्रकार से खेल की विभिन्न परिस्थितियाँ उपस्थित की जाती हैं। बच्चे को कई खिलौने (पुतलियाँ) दे दिये जाते हैं और उनसे कह दिया जाता है कि वे उन्हें अपने परिवार के विभिन्न व्यक्तियों के प्रतीक मानकर उनसे खेलें। जब बच्चा विश्वास कर लेता है कि वह खेलने के लिये पूर्ण स्वतंत्र है तब वह खेलना आरम्भ करता है और उसकी विभिन्न प्रतिक्रियाओं को अंकित किया जाता है। दूसरी परिस्थिति में खिलौने रख दिये जाते हैं और उनमें बच्चों की अभिरुचि और प्रतिक्रियाओं का अवलोकन करके खेल के विभिन्न पहलुओं की जानकारी की जाती है। यह पद्धति बालविश्लेषण के लिये बहुत उपयोगी है, किन्तु निरीक्षक को इस विधि का इस्तेमाल जानना बहुत जरूरी है, अन्यथा परिणाम प्रतिपन्न और विश्वसनीय नहीं होता।

(६) प्रयोग (Experiment):—बच्चे अपना ध्यान कितनी देर तक किसी खिलौना विशेष पर लगाते हैं अथवा कितनी देर तक किसी खेल को खेल सकते हैं, इसकी जाँच विभिन्न प्रयोगों से की जाती है। परीक्षक उन्हें यह व्यक्त नहीं करता कि उनपर किसी तरह का प्रयोग किया जाता है, बल्कि वह कहता है कि आओ मेरे साथ अमुक खेल खेलो। वह विभिन्न अवस्था के बच्चों के साथ विभिन्न प्रकार के खिलौनों को काम में लाता है। इस तरह वह यह जानने में समर्थ होता है कि कौन बच्चा किस खेल को कितनी देर तक खेलता है और किस खिलौना पर कितना ध्यान देता है। इसमें बहुत से कौशल्यों का इस्तेमाल नहीं किया जाता है, किन्तु ऐसी आशा की जाती है कि इसमें और भी कौशल्यों की वृद्धि होगी।

प्रायः अभी तक इन्हीं पद्धतियों से बच्चों के खेल के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। पर अभी इस दिशा मे ऐसी विधियों का अभाव है जिनके द्वारा खेल के सम्पूर्ण पहलुओं को थोड़े समय में अधिक से अधिक बच्चो के सम्बन्ध में जाना जा सके।

७. खेल की बाल-जीवन में उपयोगिता

बालकों के जीवन में खेल का स्थान महत्वपूर्ण है, क्योंकि जिस समय बच्चा उत्पन्न होता है उस समय उसमें कुछ सहज-क्रियाओं की योग्यता के अतिरिक्त और कुछ नही रहता। परन्तु क्रमशः उम्र ज्यों-ज्यों बढ़ती है त्यों-त्यों खेलों के प्रसाद से उनमें सभी गुण आने लगते हैं जो युवावस्था में पूर्णतः विकसित होते है।

खेल के प्रसाद से बच्चे का शारीरिक विकास होता है। वह विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न खेल खेलता है जिससे उसके विभिन्न अंग हृष्टपुष्ट होते हैं। यदि बच्चा निष्क्रिय बना रहे तो वस्तुतः उसका शारीरिक विकास भी उचित रूप से न हो, परन्तु खेलों में सक्रिय होने के कारण उसके अंग मजबूत और परिपक्व होते हैं।

दौड़ने धूपने के खेल से रक्तसंचार (Circulation of Blood) नियमित रूप से होता है जिससे बच्चा बराबर स्वस्थ रहता है। उसके सभी अंग विभिन्न खेलों में नियुक्त रहने के कारण मजबूत होते है। खेल के ही कारण बच्चों के पास किसी प्रकार के रोग नहीं फटकते और बच्चा परिणामतः स्वस्थ बना रहता है जिससे उसका शारीरिक विकास समुचित रूप से होता है।

मानसिक विकास के लिए भी खेल का श्रेय कम नहीं है। शारीरिक विकास के साथ ही मानसिक विकास भी अपनी परिपूर्णता को खेल के कारण प्राप्त करता है। रचनात्मक, विचारात्मक, कल्पनात्मक आदि शक्तियों का विकास इसी के प्रसाद स्वरूप होता है। बच्चे बराबर खेल में संलग्न रहने के कारण दिवास्वप्न, विचारतरंग (Autistic Thinking) आदि के शिकार नहीं बनते, इसलिये उनका मानसिक विकास समुचित रूपेण होता है। उन्हे विश्व के विभिन्न पदार्थों के गुण-दोष की जानकारी होती है। इस प्रकार उनकी विभिन्न मानसिक शक्तियों का विकास होता है।

सामाजिकता का आविर्भाव भी खेलों के द्वारा होता है। जैसा कि अन्यत्र कहा गया है बच्चा जन्म से सामाजिक नहीं रहता, पर जैसे-जैसे उसकी अवस्था बढ़ती जाती है, वह सामाजिक बनता जाता है। आरम्भ में वह किसी की परवाह नहीं करता और खिलौनों से ही खेलता है। वह जब कुछ बडा होता है तब दो-चार बालको के साथ खेलना शुरू कर देता है और उन्हें संतुष्ट रखने की चेष्टा करता है। अब वह आत्मकेन्द्रित जीव न रह कर दूसरों के प्रति भी अपनी अभिरुचि प्रदर्शित करता है और अपने व्यवहार को उनके अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है। जब वह सामूहिक खेलो में भाग लेने

लगता है तब उसका समाज और भी बढ जाता है और उसके साथी दो-चार नही, पर उनकी भी संख्या अधिक हो जाती है। सामूहिक खेलो में भाग लेने के लिये उसे कुछ नियमो का पालन करना पड़ता है और उसे अपने साथियों का भी ध्यान रखना पड़ता है। उचित-अनुचित के विचार से वह किसी खेल को खेलता है और इस प्रकार वह विभिन्न प्रकार के वातावरण मे अभियोजित करने का ढंग सीखता है। इस समय तक उसमें सामाजिकता के सभी गुण आविर्भूत हो जाते हैं और परिणामतः वह एक सामाजिक प्राणी बन जाता है। यही कारण है कि जिन बच्चों को माता-पिता अपनी मूर्खतावश खेलने का अवसर नहीं देते वे जीवन में अपने को सामाजिक वातावरण मे अभियोजित करने में असमर्थ होते हैं और सामाजिक जीव नही बन पाते हैं।

खेल का हाथ संवेगात्मक-स्थिरता और परिपक्वता में कम नही है। खेलों के द्वारा बच्चे अपने विभिन्न संवेगों को प्रकाशित करते हैं तथा दिवास्वप्न, विचारतरंग आदि का अवसर उन्हें नही मिलता। यदि वे खेलो में संलग्न नहीं रहते तो उनके संवेगात्मक जीवन में स्थिरता कदापि नहीं आती। संवेगों का नियन्त्रण करना वे सामूहिक खेलो मे सीखते हैं और इस प्रकार उनमें कोई संवेगात्मक विकार नहीं होता।

जब हम व्यक्तित्व-विकास पर विचार करते हैं तब हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वस्तुतः व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न शील-गुणों का विकास खेल द्वारा होता है।

जैसा कि हम पहले व्यक्त कर चुके हैं, बचपन में नेतृत्व, सहिष्णुता (Tolerance), प्रसक्ति (Persistence) उदारता, आदि गुणों को बच्चे खेल में ही सीखते हैं। कठिन से कठिन परिस्थितियों को अतिक्रमण करना बच्चे खेल मे सीखते है। प्रतियोगिता, अध्यवसाय आदि का ज्ञान उन्हे अपने सामाजिक खेल से ही होता है। थोड़े में हम यह कह सकते हैं कि व्यक्तित्वविकास के लिये जिन अंगों की आवश्यकता होती है वे उनके खेल में सन्निहित रहते है, अतएव खेल के द्वारा व्यक्तित्व विकास सुन्दर रूप से होता है।

औपचारिक व्यक्तियों के लिये खेल बहुत उपयोगी सिद्ध हुआ है। अब बच्चो की तरह-तरह की बीमारियो का उपचार खेल के जरिये होता है। बाल-विश्लेषण के लिये चिकित्सक खेलों का आश्रय लेता है। उसे तरह-तरह के खिलौने खेलने के लिये दे दिए जाते हैं और उसके खेलने के ढंग और खिलौनो के आधार पर यह आसानी से मालूम हो जाता है कि किसी

हमारे लिये समस्या है वह दूसरे के लिये भी समस्या हो, यह आवश्यक नहीं है। वस्तुतः समस्या उस परिस्थिति को कहते हैं जहाँ हमारी पुरानी और अभ्यस्त कार्यप्रणाली असफल हो जाती है और हमें उसको सुलझाने के लिये नई कार्यप्रणाली अपनानी पड़ती है। इस समस्या के भी दो पहलू होते हैं— व्यावहारिक तथा बौद्धिक, अर्थात् कुछ समस्याएँ हमारे सामने ऐसी उपस्थित होती हैं जिनका समाधान करना व्यावहारिक (Practical) जीवन के लिये आवश्यक होता है। कुछ हमारी उत्सुकतामात्र को शान्त करती हैं, इसलिये उन्हें बौद्धिक (Intellectual) कहा जाता है। यदि हम चिन्तन-प्रक्रिया का विश्लेषण करें तो मालूम होगा कि इसमें विभिन्न प्रकार की प्रक्रियाएँ सम्मिलित रहती है। समस्या के उपस्थित होने पर सर्वप्रथम हममें उस परिस्थिति को दूर करने की इच्छा का आविर्भाव होता है और पुनः उसके समाधान (Solution) के लिये आरंभिक प्रयास प्रारम्भ होता है। हमें अपने अतीत अनुभव भी समस्यानुरूप स्मरण होते हैं और हममें प्रयत्न तथा भूल की मानसिक प्रक्रिया होने लगती है, किन्तु सभी स्थलों पर यह प्रक्रिया नहीं होता। कभी-कभी समस्या-समाधान अन्तर्दृष्टि के कारण आकस्मिक भी होता है। इतना ही नहीं, हम चिन्तन के समय अपने गत अनुभवों का उपयोग करते हैं और कुछ भाषा का भी इस्तेमाल करते हैं। जैसे, मान लें, हम कई व्यक्ति किसी काम से बाहर जा रहे है इतने मे एक पागल कुत्ता आता हुआ दिखाई देता है। उसे देखकर उससे बचने की इच्छा होती है और उससे बचने के लिये विचार करना शुरू करते हैं। इसी समय हमें अपने अतीत अनुभव याद आते हैं कि ऐसी परिस्थिति में हमने अपनी रक्षा अमुक प्रकार से की थी। अब हम उन विभिन्न उपायों को, जो उससे बचने में सहायक हो सकती हैं, सोचना शुरू कर देते हैं। कभी एक उपाय सूझता है तो कभी दूसरा। इस प्रकार हमारे मन में प्रयत्न और भूल-प्रक्रिया होने लगती है जिसके परिणामस्वरूप हम एक निश्चित उपाय का आश्रय लेते हैं। इन विभिन्न उपायों को सोचते समय हमें भाषा का भी आश्रय लेना पड़ता है, क्योंकि चिन्तन शब्द और भाषा से रहित नहीं होता। इस प्रकार चिन्तन में कई मानसिक प्रक्रियायें होती हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसे मानसिक अन्वेषण (Mental exploration) और समस्या-समाधान (Problem-Solving) के नामों से भी अभि-व्यक्त किया है। हम ऊपर देख चुके हैं कि चिंतन मानसिक अन्वेषण क्योंकर

है, इसलिये इसकी व्याख्या आवश्यक नहीं। यह समस्या-समाधान-प्रक्रिया क्योंकर है, इसका भी उल्लेख हो चुका है, क्योंकि यह कहा जा चुका है कि समस्याके विना चिंतन नही होता। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि चिंतन-प्रक्रिया की सभी प्रक्रियाएँ ध्येययुक्त होती हैं। सभी बीज-तत्वों मे से प्रयुक्त तत्वों को चुनकर मन एक ऐसे नए संघात (Pattern) का निर्माण करता है जो वर्तमान समस्या को सुलझाने में सफल होता है। शुरू में चिंतन-प्रक्रिया राशिभूत (Concrete) पदार्थों के प्रति होती है और ज्यों-ज्यों उसका मानसिक विकास होता जाता है त्यों-त्यों उसमे अमूर्त (Abstract) विषयों की चिन्तन-प्रक्रिया की क्षमता आती-जाती है। यों तो सभी प्रकार की चिन्तन-प्रक्रियाओं के लिये भाषा आवश्यक नहीं है, किन्तु सामान्य प्रत्ययात्मक (Conceptual) चिन्तन के लिए यह एक आवश्यक अंग है। इसलिये हम यहाँ यह देखने की कोशिश करेंगे कि बच्चों में प्रत्यय (Idea) और सामान्यप्रत्यय (Concept) का आविर्भाव और विकास कब और क्योंकर होता है।

२. सामान्यप्रत्यय (Concept) का विकास

सामान्यप्रत्यय के विकास का उल्लेख करने के पूर्व इस पद की व्याख्या कर देना आवश्यक है। इसकी व्याख्यास्वरूप हम कह सकते हैं कि जिस शब्द या पद से एक ही प्रकार के सभी पदार्थों अथवा गुणों का बोध होता है उसे सामान्यप्रत्यय कहते हैं। मनुष्य शब्द से हमें विश्वनाथ, राधेश्याम या नागेन्द्रप्रसाद का ही बोध नहीं होता, बल्कि संसार में जितने मनुष्य हैं उन सबका बोध होता है। मनुष्य पदमात्र से ही विश्व के सभी मनुष्यों के अनिवार्यगुण—पशुता (Animality) और विवेकशीलता (Rationality) का बोध होता है। सामान्यप्रत्यय दो प्रकार के होते हैं—वस्तुबोधक (Concrete) तथा गुणबोधक (Abstract)। जातिवाचक संज्ञा के स्वरूप के जितने पद हैं उनकी परिगणना वस्तुबोधक सामान्यप्रत्यय के अन्तर्गत होती है यथा, आदमी, पशु, पर्वत, पेड़ आदि। भाववाचक संज्ञा के स्वरूप के सभी पद गुणबोधक सामान्यप्रत्यय के अन्तर्गत आते हैं, यथा, शूरता, धैर्य, विद्वता, अच्छाई आदि। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि सामान्यतः जिस शब्द से एक वस्तु का बोध होता है उसे प्रत्यय (Idea) कहते है जैसे, यह चारपाई, अमुक व्यक्ति, अमुक घोड़ा आदि। इस प्रकार के प्रत्यय को मनोवैज्ञानिकों ने वैयक्तिक (Individual) प्रत्यय कहा है। किन्तु, जिन पदों से

एक जाति (class) के सभी राशिभूत (concrete) पदार्थों का बोध होता है उसे सामान्य और जिनसे गुण का बोध होता है उन्हें गुणात्मक प्रत्यय कहा है । इन्हीं सामान्य तथा गुणात्मक प्रत्ययों को सामान्यप्रत्यय कहते हैं। यहाँ हम सर्वप्रथम सामान्यप्रत्यय के विकास पर प्रकाश डालेंगे, तत्पश्चात् प्रत्यय विशेष के विकास पर विचार करेंगे ।

प्रारम्भ में बच्चे का अनुभव-क्षेत्र अत्यन्त सीमित रहता है, क्योंकि वह बहुत कम व्यक्तियों और पदार्थों के सम्पर्क में रहता है। राशिभूत पदार्थों से घिरे रहने के कारण उसका अनुभव भी राशिभूत तथा विशिष्ट अथवा वैय-क्तिक होता है। वह अपनी माता के सम्पर्क में अधिकांश रहता है, इसलिये माता के प्रत्यय का उसमें आविर्भाव होता है। इसी प्रकार चारपाई, कप, कुर्ता आदि के प्रत्ययों का विकास उसमें क्रमशः होता है। अवस्था और अनुभव-वृद्धि के साथ-साथ ये ही वैयक्तिक प्रत्यय, सामान्यप्रत्यय के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। अब उसके लिए माता, चारपाई, कप आदि शब्द एक पदार्थ या व्यक्ति विशेष के बोधक नहीं रह जाते, बल्कि उनसे उस जातिमात्र का बोध होता है। वस्तुतः विशिष्टता का अतिक्रमण करके सामान्यता के प्रवेश का समय बच्चे के जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण होता है। हाँ, विशिष्ट से सामान्य की ओर अग्रसर होना बहुत अधूरा रहता है, क्योंकि आरम्भ में बच्चों में अनुभवगम्य पदार्थों के ही प्रत्यय विद्यमान रहते हैं । सामान्यप्रत्यय के विकास के सम्बन्ध मे टेनी और प्रेयर के मत विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। टेनी के अनुसार बच्चों में सामान्यप्रत्यय की उत्पत्ति भाषा-विकास के साथ होती है, परन्तु प्रेयर का मत इससे भिन्न है। उसका कहना है कि बच्चों में इसका आविर्भाव भाषा-विकास के पूर्व हो जाता है। उसके अनुसार एक वर्ष के बच्चे में भी इसकी योग्यता कुछ अंशो मे विद्यमान रहती है। यद्यपि सामान्यप्रत्यय-विकास मे वह भाषा-विकास के महत्त्व को अस्वीकार नहीं करता तथापि वह इसकी उपस्थिति भाषा-विकास के पूर्व ही स्वीकार करता है। वह उन गूँगे तथा बहरे बच्चों का उदाहरण अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उपस्थित करता है जिनमे भाषा विकसित नहीं रहती, किन्तु उनमे सामान्यप्रत्यय की क्षमता विद्यमान रहती है, भले ही वह सामान्यप्रत्य-यात्मक योग्यता अपूर्ण और अधूरी रहती हो। अतएव हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बच्चो मे सामान्यप्रत्यय-निर्माण का आविर्भाव भाषा-विकास के पूर्व ही होता है, किन्तु उसका विकास भाषा-विकास के साथ-साथ क्रमशः होता है। जब बच्चों में भाषा पूर्णतः विकसित हो जाती है तब सामान्यप्रत्यय

का विकास भी अपनी पूर्णता की चरम सीमा पर पहुँच जाता है। हम भाषा-विकास में इसका उल्लेख कर चुके हैं, इसलिये इसकी पुनरावृत्ति की कोई आवश्यकता नहीं। इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि बच्चों में पहले वस्तुबोधक सामान्यप्रत्ययों का आविर्भाव होता है, गुणबोधक सामान्यप्रत्ययों के निर्माण का आविर्भाव बाद में क्रमशः होता है। ढाई वर्ष के बच्चे में प्रत्याहार (Abstraction) की योग्यता कुछ भी नहीं रहती। इस प्रकार के सामान्यप्रत्ययों का विकास भी उसी क्रम से होता है जिस प्रकार कि वस्तुबोधक प्रत्ययों का। ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था वाले बच्चों में प्रत्याहार की शक्ति बहुत सीमित रहती है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि वे उन सामान्य प्रत्ययों के सम्बन्ध में सोचने में भी असमर्थ रहते हैं। वस्तुतः उनके सोचने और अनुभव करने की क्षमता उनमें रहती है, किन्तु उन्हें वे पूर्णरूपेण अभिव्यंजित करने में असमर्थ रहते हैं। इसके बाद उनकी इस योग्यता का क्रमशः विकास होता है।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि बच्चों में सामान्यप्रत्ययों का निर्माण क्योंकर होता है? यदि हम इसकी निर्माण-प्रक्रिया का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि इसमें कई प्रक्रियाएँ सम्मिलित रहती हैं। सर्वप्रथम बच्चा एक तरह की अनेक चीजों का अनुभव करता है और इस प्रकार वह किसी शब्द या पदमात्र को ही नहीं समझता, बल्कि उसे उसके अर्थ का भी ज्ञान हो जाता है। जिस पद के अर्थ का ज्ञान उसे नहीं होता, वह उसके लिये सामान्यप्रत्यय नहीं रहता, बल्कि पदमात्र रहता है। तात्पर्य यह है कि जब वह किसी पद या शब्द के अर्थद्योतक सभी पदार्थों का अनुभव करता है तभी उस में सामान्यप्रत्यय का निर्माण आरम्भ होता है। इस प्रकार किसी जाति के प्रत्येक पदार्थ का अनुभव करना सामान्यप्रत्यय के निर्माण की सर्वप्रथम प्रक्रिया है।

जब एक जाति के अनेक पदार्थों का वह अवलोकन या निरीक्षण करता है या अन्य जाति के पदार्थों का भी, तब वह उनके विभिन्न गुणों का विश्लेषण करता है कि उनमें कौन-कौन से गुण विद्यमान हैं। अतः यह सामान्यप्रत्यय-निर्माण की द्वितीय प्रक्रिया है। एक जाति के सभी गुणों का विश्लेषण करने के बाद वह उन गुणों की आपस में तुलना करता है और जब अन्य जाति के भी पदार्थों के गुणों का विश्लेषण कर लेता है तब उनकी तुलना आपस में करता है। इस प्रकार वह तुलना-प्रक्रिया के द्वारा समान

तथा असमान गुणों का बोध करता है। यह सामान्यप्रत्यय-निर्माण की तृतीय प्रक्रिया है।

तुलना-प्रक्रिया के बाद जिन पदार्थों के समान गुण होते हैं वह उन्हें एक श्रेणी में रखकर उन सभी गुणों का संश्लेपण (Synthesis) करता है और इस प्रकार जिन पदार्थों के गुणों में समानता होती है उन्हें एक साथ मन में लाता है। क्रम के दृष्टिकोण से संश्लेषण-प्रक्रिया का स्थान चौथा है। अन्ततोगत्वा नामकरण-प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा बच्चा अपने ज्ञान को स्थायी बनाने के लिये अनुभूत पदार्थों के गुणों का विश्लेपण, तुलना आदि करने के बाद उनका शब्दों द्वारा नामकरण करता है जो उनके अर्थों के बोधक होते हैं। जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, सामान्यप्रत्यय से वस्तु और उसके अर्थ दोनो का बोध होता है। इस प्रकार सामान्यप्रत्यय-निर्माण में कई प्रक्रियायें सन्निहित रहती हैं।

४. विशिष्ट प्रत्यय-विकास

हम सामान्यप्रत्यय-विकास के सिलसिले में वैयक्तिक प्रत्यय-विकास का थोड़ा परिचय दे चुके हैं। अतएव अन्य प्रत्ययों के विकास-क्रम पर प्रकाश डालने के लिए इसका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि बच्चों को अवकाश (Space) तथा गुण का ज्ञान समय-ज्ञान के पहले हो जाता है। अवकाश तथा गुण-ज्ञान का समय-ज्ञान के पहले होने का एकमात्र कारण यह है कि बच्चा अपनी कई आवश्यकताओं के कारण उनके अर्थ को समझ जाता है। हम दूसरे शब्दों में कह सकते है कि इन दोनों के ज्ञान में बच्चे के विधेयात्मक शिक्षण का महत्त्वपूर्ण हाथ रहता है। हाथ-पैर को घुमाने तथा स्वयं चलने-फिरने के कारण बच्चे को इनका बोध हो जाता है।

कालज्ञान का आविर्भाव बच्चे में विलम्ब से इसलिए होता है कि इसके ज्ञान में स्पर्श, आँख या कान का हाथ उतना स्पष्ट तथा पर्याप्त नहीं रहता जितना कि अवकाश या गुणबोध मे। यों तो बच्चा साधारणतः पाँच-छः वर्ष की अवस्था में समय के साधारण अर्थ को समझने लगता है, किन्तु उसके विभिन्न व्यवहारों (Uses) को समझने में पूर्णतः असमर्थ रहता है। म्युमन का विचार है कि छः वर्ष का बच्चा परसों, महीनों पूर्व आदि कालबोधक शब्दों के अर्थ को नहीं समझता। आठ वर्ष का बच्चा दिन का बोध उस समय से करता है जिस समय वह सोकर उठता है और जब तक रात नहीं हो जाती। नौ वर्ष के बच्चे को वर्ष का बोध अच्छी तरह हो जाता है और दस

वर्ष के बाद ज्यों ज्यों उसमें संख्यात्मक तथा अध्ययनात्मक योग्यता बढती जाती है त्यों-त्यो उसका कालज्ञान परिपक्व होता जाता है। यहाँ लेखक म्युमन के विचार से पूर्णतः सहमत नहीं है। सम्भव हो उसे छः वर्ष के ऐसे ही बच्चे मिले हो जिन्हें परसों, एक महीना पूर्व, गत चैत्र आदि कालवाचक शब्दों का बोध न रहा हो। लेखक को इस अवस्था के कितने ऐसे बच्चों से साक्षात्कार करने का अवसर मिला है जिन्हे इन शब्दो का स्पष्ट बोध रहता है। तब इतना अवश्य है कि कालज्ञान पूर्णरूपेण अवस्थावृद्धि के ही साथ-साथ होता है।

बच्चो में पदार्थों के दृश्य समानताओं और असमानताओं का ज्ञान उनके व्यावहारिक समता और असमताओं के पूर्व हो जाता है। जिन चीजो का वे स्वयं इस्तेमाल करते उनकी तुलना वे आसानी से कर देते हैं, किन्तु जो चीजें उनके व्यवहार में नहीं रहतीं उनकी तुलना वे करने में असमर्थ होते हैं। प्रयोगों के द्वारा ऐसा देखा गया है कि चौदह वर्ष के पहले बच्चे राजा और प्रेसिडेण्ट के अन्तर को व्यक्त करने में सफल नहीं होते तथा दरिद्रता, सत्यता, धैर्य आदि शब्दो को पूर्णतः समझने और उन्हें एक दूसरे से अलग करने की क्षमता सोलह वर्ष के पहले उनमें नहीं होती। भाषाविकास के सम्बन्ध मे संख्यात्मक विकास पर प्रकाश डाला जा चुका है, इसलिए संख्या-प्रत्यय के उल्लेख की यहाॅ कोई जरूरत नहीं है।

जब हम बच्चो के विश्वज्ञान के सम्बन्ध में पियाजे के प्रयोगों का अध्ययन करते हैं तब हमें स्पष्ट हो जाता है कि उनमें चन्द्रमा, सूर्य, पृथ्वी, तारे, पेड, जीवन आदि के आविर्भाव के प्रति आरम्भ से एक विचित्र भाव रहता है। वे इन सभी चीजों में मनुष्यों की तरह जीवन, संवेग, चेतना आदि की सत्ता में विश्वास करते है। वे किसी चीज को निर्जीव नहीं समझते, किन्तु कुछ दिन बाद वे उन्हीं चीजों को सजीव समझते है जिनमे कि गति होती है। पुनः कुछ दिनों के बाद उनमें इतनी योग्यता हो जाती है कि वे पौधों और जानवरों को ही सजीव मानने लगते हैं। पियाजे का कहना है कि सिर्फ जानवरो और पौधों को सजीव समझने की क्षमता बहुत से बच्चो में ग्यारह वर्ष के पहले नहीं पाई जाती। इस दिशा मे स्टर्न ने जो प्रयोग किया है उससे भी यह प्रमाणित होता है कि प्रारम्भ में बच्चे विश्व की सभी चीजो को चेतन समझते हैं। पुनः वे चलायमान चीजों को सजीव समझते हैं और बाद में उनका ऐसा विचार केवल पेड़-पौधो और जीव धारियो के प्रति हो जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सात-आठ वर्ष

के बच्चे प्राकृतिक चीजों में कृत्रिमता का आरोपण करते हैं। इस अवस्था के प्रायः सभी बच्चों में यह प्रवृत्ति प्रबल रहती है। उनकी ऐसी धारणा रहती है कि चन्द्रमा और सूर्य को आदमियों ने बनाया है। झील, नदी, पर्वत आदि मनुष्यों के बनाए हुए हैं। ईश्वर जमीन पर से पानी लेकर ऊपर से गिराता है तब वर्षा होती है आदि। तात्पर्य यह है कि इस समय उन्हे उनकी वास्तविकता का ज्ञान नहीं रहता, किन्तु इसके बाद उनकी समझने की योग्यता अनुभववृद्धि के कारण क्रमशः विकसित हो जाती है।

ईश्वर-प्रत्यय का विकास भी बच्चों में क्रमशः होता है। दो-तीन वर्ष की अवस्था तक अपनी आवश्यकताओं की परिपूर्ति के लिये वे पूर्णतया अपने माता-पिता पर निर्भर करते हैं और वे अपने बच्चों को हर तरह संतुष्ट रखने की भी कोशिश करते हैं। इसलिये बच्चे अपने अभिभावकों को ही सर्व-शक्तिमान और पूर्ण समझते हैं, किन्तु इसके कुछ ही दिन बाद उन्हें यह मालूम हो जाता है कि वस्तुतः उनके माता-पिता पूर्ण नहीं हैं। उनसे भी कई गलतियाँ होती हैं और वे भी बहुत कुछ जानने और करने में असमर्थ हैं। जिस समय उन्हें अपने अभिभावकों के अभावों का ज्ञान हो जाता है उस समय उनके मन में द्वन्द्व छिड़ जाता है जिसके परिणामस्वरूप वे ईश्वर में विश्वास करने लगते हैं। उनका ऐसा विश्वास हो जाता है कि विश्व में जितनी चीजें विद्यमान है वे सभी सर्वशक्तिमान, चतुर और बलवान ईश्वर द्वारा बनाई गई हैं। इसमें क्रमशः स्थायित्व आने लगता है, क्योंकि ईश्वर के सम्बन्ध में वे बहुत कुछ पुस्तकों, चित्रों और अन्य लोगों के द्वारा जानते हैं। पाँच-छः वर्ष की अवस्था तक ईश्वर के सम्बन्ध में बच्चे प्रायः यही सोचते हैं कि वह आदमियों की अपेक्षा बहुत लम्बा, मोटा आदि होता है और ऊपर रहता है। किन्तु, उनमें अवस्था और अनुभव-वृद्धि के साथ-साथ बहुत परि-वर्तन आ जाता है और बाद में ईश्वर के प्रति उनके मन में कई संघर्षात्मक विचार उत्पन्न हो जाते हैं। बच्चों में ऐसे विचारों का किशोरावस्था (Adolescent period) के आगमन के पूर्व अभाव रहता है।

५. चिन्तन-प्रकार

हम बालकों की चिन्तन-प्रक्रिया का विभाजन तीन श्रेणियों में कर सकते हैं, यथा, प्रत्यक्षात्मक, कल्पनात्मक तथा सामान्यप्रत्ययात्मक चिन्तन। इन्हीं तीन चिन्तन-प्रकारों को मनोवैज्ञानिकों ने कभी-कभी चिन्तन-स्तर (Levels of Thinking) का भी नाम दिया है, क्योंकि उनके चिंतन

प्रक्रिया की ये ही तीन अवस्थाएँ हैं। जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा, सर्वप्रथम बच्चों का चिंतन प्रत्यक्षात्मक होता है, इसके बाद क्रमशः उनका चिन्तन कल्पनात्मक तथा सामान्यप्रत्ययात्मक होता है। इस तरह प्रत्यक्षात्मक, चिंतन की पहली और सामान्यप्रत्ययात्मक अन्तिम अवस्था है। यहाँ हम इन्ही तीन प्रकारो या स्तरों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

(क) प्रत्यक्षात्मक चिंतनः—बच्चो का चिंतन पहले अपने समक्ष उपस्थित पदार्थों के सम्बन्ध में होता है। जो चीजें उनके सामने रहती हैं उनके अतिरिक्त सोचने की क्षमता उनमें नहीं रहती। वे किसी चीज को देखते है और उसके विषय मे सोचने लगते हैं। अगर कोई बच्चा छोटी सायकिल किसी को चलाते देखता है तो वह तुरत यह सोचना शुरू करता है कि इसके पहिये क्योंकर चलते हैं। ऐसा विचार करते समय वह अपने हाथों से उन पहियों को इधर-उधर घुमाना भी शुरू करता है। जिन चीजों को बच्चा अपनी आँखो से देखता है वे ही चीजें उसके लिये कोई समस्या उपस्थित कर देती हैं और वह अपनी समस्या को सुलझाने में संलग्न हो जाता है। ऐसे चिंतन से बच्चे के व्यावहारिक जीवन की आवश्यकताओं की परिपूर्ति होती है। सारांश यह कि इस स्तर पर बच्चों की चिंतन-प्रक्रिया का सम्बन्ध एकमात्र दृष्टिगोचर वस्तुओं से रहता है।

(ख) कल्पनात्मक चिंतनः—चिंतन का दूसरा प्रकार अथवा स्तर कल्पनात्मक होता है। इस अवस्था में बच्चा प्रत्यक्ष पदार्थों के आधार पर नही सोचता, वल्कि उसके चिंतन का आधार कल्पनाएँ तथा स्मृति-प्रतिमाएँ (Momory Imgels) होती हैं। इसलिये छः से आठ वर्ष के बच्चों मे पदार्थों की परिभाषा उनके व्यवहार और श्रेणी के आधार पर करने की योग्यता देखी जाती है। इस अवस्था में वे नए-नए नियमो और सिद्धान्तों की खोज करते हैं और उनको व्यवहार मे भी लाते हैं। इस अवस्था के बालकों में परिभाषा करने की क्षमता विशेष रूप से वलवती दीख पडती है। हम इसे दूसरे शब्दों में कह सकते है कि चिन्तन के इस स्तर में बच्चों मे क्रियाज्ञान अच्छी तरह हो जाता है जिससे वे शब्दो की परिभाषा उनके कार्य अथवा श्रेणी के आधार पर कर देते है। इस सम्बन्ध से यह उल्लेखनीय है कि इस स्तर में बच्चा आगमन (Inductive) तथा निगमन (Deductive) दोनों पद्धतियो का आश्रय लेता है तभी वह अपने कल्पनात्मक चिंतन में समर्थ होता है।

(ग) सामान्यप्रत्ययात्मक चिन्तनः—चिन्तन का तीसरा स्तर या

प्रकार सामान्यप्रत्ययात्मक चिन्तन है। बच्चों में इसकी योग्यता उस समय आती है जब उनमें भाषा और बुद्धि-विकास पूर्ण हो जाते हैं। यही उत्तम कोटि का चिन्तन है जो जानवरो तथा छोटे और मानसिक दुर्बल (Mentally deficient) बच्चों में नहीं पाया जाता है। ऐसे चिन्तन की सामग्री (Materials) सामान्यप्रत्यय होते हैं। अब बच्चे को चिन्तन के लिये पदार्थों का उसके सामने रहना आवश्यक नहीं रहता। उसके चिन्तन भूत, भविष्य, वर्तमान किसी काल के लिये भी सामान्यप्रत्ययों के सहारे होते हैं। परिणामतः पन्द्रह-सोलह की अवस्था होते-होते बच्चों का चिन्तन सयानों की भाँति निर्दोष, स्पष्ट और उच्च कोटि का हो जाता है।

८. बाल-चिन्तन की विशेषताएँ

चिंतन का ज्ञान अन्तर्निरीक्षणात्मक सूचना के आधार पर होता है। बच्चों में अन्तर्निरीक्षण को व्यक्त करने की योग्यता अधिक न होने के कारण उसे वे व्यक्त करने में असमर्थ होते हैं। इसलिये उनके चिन्तन की विशेषताओं पर प्रकाश डालना आसान काम नहीं है। कुछ मनोवैज्ञानिकों (हेजलिट, हेडग्रीडर, पियाजे आदि) ने बच्चों के बाह्य व्यवहारों और उनकी अन्य क्रियाओं का अवलोकन करके उनकी चिन्तन की विशेषताओं पर प्रकाश डाला है। इसलिये हम यहाँ उन्हीं के आधार पर बालकों के चिन्तन की विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने तीन से सात वर्ष के बच्चों पर चिन्तन सम्बन्धी जो प्रयोग किये हैं उनसे यह प्रमाणित है कि उनका चिन्तन स्वकीय (Egocentric) होता है। इसका आशय यह है कि बच्चे अधिकांश अपने ही सम्बन्ध में सोचते हैं, अन्य विषय या व्यक्तियों के सम्बन्ध में नहीं। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जिस समय वे अन्य लोगों से बात करते हैं उस समय भी वे उनकी परवाह न करके अपनी धुन में लगे रहते हैं। किन्तु, उनकी यह अवस्था तीन से सात वर्ष तक ही रहती है। बच्चों मे इतना विकास नहीं रहता कि वे किसी चीज के सम्बन्ध में अपनी अभिरुचि और इच्छा के अतिरिक्त सोच सकें। वे अपने दाएँ और बाएँ अंगों को आसानी से बता सकते है, किन्तु यदि उनके सम्मुख खड़ा होकर कोई व्यक्ति अपना दायाँ हाथ पूछे तो वे इसे बताने मे समर्थ नहीं होते, क्योंकि उनका चिन्तन पूर्णतः स्वकीय होने के कारण आत्म-केन्द्रित रहता है। इसी प्रकार उनसे यदि कोई यह पूछे कि वे कितने भाई-बहन हैं तो वे इसे सरलतया व्यक्त कर

सकते हैं, किन्तु उनसे यदि यह पूछ दिया जाय कि उनके अमुक भाई को कितने भाई-बहन है तो वे यह नही बता सकते।

उनका चिन्तन प्रायः सर्वात्मवादी (Animistic) होता है, क्योंकि वच्चे विश्व के सभी पदार्थों में जीवन, संवेग, ध्येय आदि गुणो का आरोपण करते हैं। वे पेड़ पौधे, तारे, चन्द्रमा आदि सभी को सजीव समझते हैं। इस पर पहले प्रकाश डाला जा चुका है, इसलिये यहाँ इससे अधिक उल्लेख करने की कोई आवश्यकता नहीं है।

बच्चों मे तार्किक एकरूपता (Logical consistency) का अभाव रहता है, क्योंकि वे स्वयं तार्किक सम्बन्धों को नहीं समझते। बच्चे अक्सर बिना किसी तार्किक सम्बन्ध को जाने-बूझे ही कई चीजों को आपस में मिला देते हैं। वस्तुतः उनके इस संयोजन में किसी तरह का तार्किक सम्बन्ध नहीं रहता, किन्तु वे ऐसा करने के अभ्यस्त होते हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिकों ने कहा है कि बच्चों का चिन्तन विषम-समवायवादी होता है। ग्यारह-बारह वर्ष तक बच्चो में चिन्तन की यह विशेषता देखने मे आती है।

उनका चिन्तन अत्यन्त निम्न और साधारण कोटि का होता है। उनमें विषम विषयों के सम्बन्ध में सोचने की योग्यता नहीं रहती। जो उनके लिये सुगम होता है उसी के सम्बन्ध में वे सोचते हैं। उससे परे वे कदापि सोचने की कोशिश नहीं करते। इसका कारण यह है कि उनका मानसिक विकास पूर्ण नही रहता, इसलिये वे अपने विकास के ही अनुरूप सोचते हैं। किन्तु, ज्यो ज्यो उक्त वृद्धि के कारण मानसिक विकास होता जाता है त्यों-त्यो उनके चिन्तन में विषमता आने लगती है जो बालकाल के अन्त मे परिलक्षित होती है।

यों तो व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिकों ने चिन्तन को मन्द-संभाषण (Sub-vocal speech) कहा है, किन्तु उनकी यह उक्ति बच्चो के सम्बन्ध में विशेषरूपेण उचित जँचती है। वच्चे जब कुछ सोचते हैं तो उस समय वे बोलते रहते हैं। शायद ही कोई ऐसा वच्चा मिले जिसमे सोचते समय बोलने की क्रिया न पाई जाय। इसलिए इसे भी हम बच्चो के चिन्तन की विशेषता की श्रेणी में रख सकते हैं। इसी तरह उनके चिन्तन की और भी कई विशेषताएँ व्यक्त की जा सकती है, किन्तु वे नगण्य हैं।

७. बाल-तथा प्रौढ़ चिन्तन में अन्तर

हम बालको की चिन्तन-प्रक्रिया की विशेषताओ को देख चुके हैं, इसलिए उनको और भी स्पष्ट करने के लिए बाल और प्रौढ़ के चिन्तनों

में भेद प्रदर्शित कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा। यहाँ यह स्मरणीय है कि वस्तुतः बच्चे और सयाने की चिन्तनप्रक्रियाओं में प्रकार-भेद नहीं, बल्कि अंश-भेद होता है। बच्चों का सोचना समस्या-समाधान के लिए उसी प्रकार होता है जिस तरह सयानों का। इन दोनों के चिन्तनों में भेद उनके मानसिक विकास के अन्तर के कारण होता है।

बच्चे और सयाने के चिन्तन में भेद दिखलाने के लिए यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि बच्चे प्रौढ़ व्यक्तियों की अपेक्षा बहुत कम सोचते है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बच्चे कम क्यों सोचते हैं? इसके उत्तर में यहाँ तीन कारण व्यक्त किये जा सकते हैं। पहली बात यह है कि सयानों को नित्यप्रति अपने जीवन-निर्वाह के लिए अनेकों समस्याएँ सुलझानी पड़ती हैं, किन्तु बच्चों को उतनी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता। कारण, उनकी देखरेख उनके माता-पिता करते हैं। उनके कम सोचने का दूसरा कारण यह है कि उनका ज्ञान समूर्त (Concrete) विषयों तक सीमित रहता है, इसलिए उससे अधिक सोचने की उन्हें जरूरत नहीं पड़ती। परन्तु, सयानों का ज्ञान पूर्णतः विकसित रहता है, इसलिए वे बच्चों से अधिक सोचते हैं। उनके कम सोचने का तीसरा कारण यह है कि सयानों के द्वारा उनकी चिन्तन-प्रक्रियाएँ कई कारणों से अवरुद्ध कर दी जाती हैं, इसलिए वे अधिक सोचने का अवसर नहीं पाते।

बाल-चिंतन दोषपूर्ण (Defective) होता है, किन्तु सयानों के चिन्तन मे बहुत कम अशुद्धियाँ होती हैं। बालकों के चिन्तन-दोष के कई कारण हैं। पहली बात यह है कि उनका अनुभव बहुत सीमित होता है, इसलिए उनका चिन्तन सदोष होता है। उनमें ऐच्छिक ध्यान (Voluntary Attention) का नितान्त अभाव रहता है, इसलिए विचार-विषय का अवलोकन वे पर्याप्त रूप से नहीं करते और परिणामतः उनका चिंतन दोषरहित नही होता। इसके अतिरिक्त भी, उनमें परिपक्वता इस कोटि की नहीं रहती कि वे तथ्य की यथार्थता को अच्छी तरह समझ सकें, इसलिए उनका चिंतन भी दोषपूर्ण होता है।

बाल-चिन्तन और प्रौढ-चिन्तन की समस्याएँ (Problems) भिन्न होती है। प्रौढ व्यक्तियो को अपने जीवन-निर्वाह, समाज कल्याण आदि के विभिन्न प्रश्न सुलझाने पड़ते है, किन्तु बच्चो को ऐसे प्रश्नों का सामना नहीं करना पड़ता, क्योकि उनके लिए सभी कुछ उनके माता-पिता कर देते है। उनकी समस्याएँ उनके खेल-कूद की ही होती हैं और उन्हीं को वे सुल-

जाते भी हैं। इसीलिए कुछ मनोवैज्ञानिकों ने उनकी चिन्तन-समस्या को तुच्छ (Trivial) कहा है, किन्तु उनका ऐसा कहना उचित नहीं जँचता, क्योंकि बच्चों की समस्याएँ उनके लिए उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी प्रौढ़ों की। यदि हम उनकी समस्याओं का मूल्यांकन अपने दृष्टिकोण से करें तो हमारा ऐसा मूल्यांकन अनुचित होगा।

बच्चों का चिन्तन अधिकांश स्वकीय (Egocentric) और आत्मगत (Subjective) होता है, किन्तु सयानों का चिन्तन अधिकांश विधेयात्मक होता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, बच्चे अपने चिन्तन में अपने ही सम्बन्ध में सोचते हैं, दूसरों के सम्बन्ध में नहीं, लेकिन सयानो का चिन्तन अधिकतर अपने से परे का होता है।

बच्चों के चिंतन में क्रियात्मक प्रक्रियाओं का आधिक्य रहता है, किन्तु प्रौढ़ों के चिंतन मे अन्तर्दृष्ट्यात्मक प्रक्रियाओं का बाहुल्य रहता है। यद्यपि सयानों का चिंतन क्रियात्मक प्रक्रियाओ से रहित नही रहता, किन्तु उनकी बहुत कमी रहती है। इन दोनो के चिन्तन में यह भेद इसलिये पड़ता है कि बच्चे सभी परिस्थितियो को नहीं समझते, परन्तु सयानों मे सभी परिस्थितियों की सूझ शीघ्र हो जाती है।

बच्चों का चिन्तन अत्यन्त साधारण कोटि का होता है, इसलिए उनके चिन्तन में विपमता (Complexity) नहीं रहती, परन्तु सयानों के चिन्तन में अधिक विषमता रहती है। इसे हम दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि बच्चे सिर्फ वर्तमान की सोचते हैं किन्तु, सयाने जो वर्तमान नहीं रहता उसके सम्बन्ध मे भी चिन्तन करते हैं।

बच्चों के चिन्तन में उच्चवाणी का बाहुल्य रहता है, लेकिन सयानो मे यह बहुत कम देखने में आती है। यद्यपि कुछ सयाने व्यक्ति भी चिन्तन के समय कुछ बोलते रहते हैं, लेकिन यह व्यापार बालको मे अधिक मात्रा में पाया जाता है। उनमें इतनी योग्यता अभी नहीं रहती कि वे बोले बिना काम की बातें सोच सकें। यही कारण है कि बच्चे गणित के प्रश्नों को बनाते समय बोलते रहते है।

हेडब्रीडर ने इस दिशा में जो प्रयोग बच्चों पर किया उससे यह स्पष्ट है कि बच्चे किसी समस्या के उपस्थित होने पर उस समस्या के राशिभूत अंगों पर ही विचार करते हैं, किन्तु सयाने उस समस्या को ही अपने चिन्तन का विषय बनाते हैं। इसी तरह विभिन्न दृष्टिकोणों से इन दोनों की चिन्तन-

प्रक्रियाओं में अन्तर प्रदर्शित किये जा सकते हैं, किन्तु उपर्युक्त ही प्रधान अन्तर हैं।

८. चिन्तन-प्रशिक्षण

बाल-चिन्तन के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करने के बाद अब यह प्रश्न है कि बच्चों को चिन्तन-शिक्षा कैसे दी जाय? यदि हम इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करें तो मालूम होगा कि हमें इसका उत्तर पहले ही अप्रत्यक्षतया (Indirectly) मिल चुका है। जैसा कि कहा जा चुका है, बच्चों का चिन्तन अनुभव की कमी के कारण साधारण कोटि का होता है। इसलिये उनके चिन्तन को उच्च कोटि का बनाने के लिये माता-पिता तथा शिक्षक का कर्त्तव्य है कि उनके अनुभव को ज्ञान देकर बढावें। बहुत से माता-पिता अज्ञानवश बच्चों के प्रश्नों की अवहेलना करते है, इसलिए उत्तर भी नहीं देते। उनका ऐसा करना बच्चों की चिन्तन-प्रक्रिया को कुण्ठित कर देता है। इसलिये उन्हे बच्चों के सभी प्रश्नों का समुचित उत्तर देना चाहिए और नये प्रश्नों के लिए उन्हें उत्साहित भी करना चाहिए। चिन्तन-प्रक्रिया के विकास के लिये बच्चों की योग्यतानुसार उनके सामने प्रश्न रखना चाहिए जिन्हे वे स्वयं हल करें। आवश्यकतानुसार चिन्तन मे सहायता करना अनुचित नहीं, किन्तु अनावश्यक सहायता सर्वथा अनुचित है। तात्पर्य यह है कि बच्चों के चिन्तन-विकास के लिए माता-पिता तथा शिक्षक को उचित है कि वे उन्हें सोचने का समुचित अवसर दें और उत्साहित भी करें, किन्तु उनकी योग्यतानुरूप ही अवसर होना चाहिए, उसके बाहर यह कदापि वांछनीय नहीं है।

बारहवाँ अध्याय

चारित्रिक तथा धार्मिक विकास

(Character & Religious Developments)

१. चरित्र (Character) का स्वरूप

चरित्र इतना व्यापक पद है कि इसका व्यवहार भिन्न भिन्न विद्वानों ने अपने-अपने ढंग से किया है। कुछ विद्वानो ने इसका प्रयोग इतने संकीर्ण अर्थ में किया है कि वे इससे लैंगिक आनन्द (Sexual pleasure) की अनुभूति से विरक्ति (Indifference) का बोध करते है। इसी लिए जब कोई व्यक्ति लैंगिक आनन्द का लोलुप बना रहता है तो लोग साधारणतः कह दिया करते हैं कि अमुक व्यक्ति का चरित्र ठीक नहीं है। किन्तु, इस पद का ऐसा संकीर्ण व्यवहार समुचित नहीं। वस्तुतः इससे लैंगिकता (Sexuality) का ही बोध नहीं होता, अपितु मनुष्य की अन्य समुचित विशेषताओं का भी बोध होता है। इसी प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिको ने चरित्र और व्यक्तित्व को एक माना है, किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भी पूर्णातः दोषपूर्ण है। विचार करने पर हमें इन दोनों में कई अन्तर मिलते हैं। चरित्रवान व्यक्ति सदा उचित-अनुचित की मीमांसा में लगा रहता है, किन्तु व्यक्तित्वसम्पन्न व्यक्ति के लिये इन दोनों की समीक्षा आवश्यक नहीं। व्यक्तित्व का पूर्ण विकास समाज मे होता है, किन्तु चरित्र में परिपक्वता समाज से अलग भी सम्भव है। तात्पर्य यह कि चरित्र से व्यक्तित्व के एक पहलू विशेष का ही बोध होता है, सम्पूर्ण व्यक्तित्व का नही। हाँ, इतना अवश्य है कि जिस प्रकार व्यक्तित्व का विकास कई शीलगुणो (Traits) की सम्बद्धता (Integration) और समन्वय (Organization) के कारण होता है उसी प्रकार चरित्र-विकास में भी विभिन्न शील-गुणों का समन्वय तथा सम्बद्धता रहती है। कुछ विद्वानो ने इसका बोध मनुष्य के आचरण (Conduct) मात्र से किया है, इसलिए जो मनुष्य समाजविहित आचरण करता है उसे इस अर्थ मे चरित्रवान कहा जाता है। किन्तु, चरित्र से आचरणमात्र का बोध करना उतना ही दोपपूर्ण है जितना कि उपर्युक्त अन्य व्यवहार। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चरित्र के अर्थ

में व्यक्ति की प्रेरणा, ध्येय आदि पर विशेष जोर देकर इसके आन्तरिक स्वरूप को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया है। किन्तु, ध्येयमात्र से चरित्र का बोध करना दोषरहित नहीं है। इसी तरह कुछ लोगों ने इसे आदतों का पुंज (Bundles) मात्र कहा है, किन्तु विचार करने पर यह उतना ही भ्रामक प्रतीत होता है जितना कि अन्य व्याख्याएँ।

यहाँ यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि जब उपर्युक्त सभी व्याख्याएँ दोषपूर्ण और भ्रामक हैं तो चरित्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसे हम परिभाषा द्वारा नहीं, बल्कि व्याख्या द्वारा ही स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे। साधारण भाषा में हम वैसे व्यक्ति को चरित्रवान कहते हैं जिसका प्रत्येक आचरण समाज के हित के लिए होने के कारण समाज के माध्यम (Standard) के अनुरूप होता है। वह अपने चरित्र के अनुरूप अपना आचरण मात्र नहीं करता, बल्कि समाज के अन्य लोगों को भी प्रभावित करता है। इसके बाह्य एवं आन्तरिक दोनों पहलू हैं। इसमें सभी शील-गुणों का इस प्रकार सामंजस्य रहता है कि उनको छिन्न-भिन्न करके नहीं समझा जा सकता। जिस प्रकार मनुष्य अपनी आदतों और स्थायीभावों (Sentiments) के अनुसार अपने व्यवहार को करने के लिए बाध्य होता है उसी प्रकार उसका चरित्र भी उसे किसी क्रिया विशेष के लिए प्रेरित करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि विभिन्न स्थायीभावों (Sentiments) के भिन्न-भिन्न आदर्श (Ideals) होते हैं, किन्तु चरित्र में उन सभी स्थायीभावों का इस प्रकार से अविच्छेद्य संगठन रहता है कि उन सबका एक ही आदर्श होता है। इसलिए इसकी परिभाषा स्वरूप हम कह सकते हैं कि किसी एक आदर्श विशेष के प्रति सभी स्थायीभावों का संगठित स्वरूप चरित्र है।

डीवी ने नैतिक चरित्र (Moral character) की व्याख्या करते हुए इसके तीन पहलुओं पर विशेष जोर दिया है। उसका कथन है कि चारित्रिक व्यवहार के लिए व्यक्ति में क्रियाशीलता की शक्ति आवश्यक है, क्योंकि जब तक उसमें क्षमता नहीं होगी तब तक वह अपना व्यवहार कठिनाइयों के रहने पर समाज-विहित नहीं कर सकता। फिर भी सभी स्थलों पर समान व्यवहार नहीं करना पड़ता, बल्कि बहुत सोच-विचार के बाद कोई क्रिया करनी पड़ती है जिसके लिए बुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसी तरह नैतिक बल के लिए संवेगात्मक क्रिया-प्रेरणा (Emotional responsive) भी अनिवार्य है, क्योंकि इसी के चलते कोई व्यक्ति किसी

क्रिया विशेष को करता है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि, शक्ति और संवेगात्मक क्रिया-प्रेरणा (Emotional Responsive) को डीवी ने आवश्यक अंग माना है, क्योंकि इनमें से एक का भी अभाव चरित्रहीनता का द्योतक होगा।

चरित्र में सन्निहित विभिन्न शील-गुणों का विश्लेषण करने पर हमें ज्ञात होता है कि चरित्र में मानसिक दृढ़ता, अभ्यास, ज्ञान तथा आदर्श आदि विशेष गुण रहते हैं। मानसिक दृढ़ता चरित्र की पहली विशेषता है। जो मनुष्य चरित्रवान रहता है वह अपने मानसिक संकल्प पर बराबर अटल रहता है। चरित्रवान व्यक्ति का आचरण बराबर किसी आदर्श-प्रति-पालन के फलस्वरूप होता है जिसमे परिपक्वता बार-बार के अभ्यास से आती है। ज्ञान के फलस्वरूप मनुष्य उचित-अनुचित का विवेचन करने में समर्थ होता है।

हम जितना चरित्र के सम्बन्ध में ऊपर कह चुके हैं उन सबको पुनरा-वृत्ति दोष होते हुए भी दूसरे शब्दों मे कह सकते है कि चरित्र किसी व्यक्ति के उस गुण का बोधक है जिससे उसके और समाज के बीच जो सम्ब-न्ध है उस पर प्रकाश पड़ता है। समाज के माध्यम से इसका सम्बन्ध बहुत घनिष्ठ है। जिसका आचरण समाज के रस्म-रिवाज, संस्कृति आदि के अनुकूल होता है, वह चरित्रवान है और जिसका आचरण उसके प्रतिकूल होता है, वह चरित्रहीन कहलाता है। जिसका चरित्र जितना ही महान होता है उसका व्यवहार उसी अंश तक समाज-विहित होता है। सत्यता, ईमानदारी, दानशीलता आदि चरित्र के शील-गुण है। चरित्र मनुष्य और उसके समाज को आनन्द प्रदान करता है।

यहाँ इसका उल्लेख कर देना आवश्यक है कि चरित्र को बहुत से मनोवै-ज्ञानिको ने सामान्य (General) गुण माना है, किन्तु उनका ऐसा दृष्टिकोण मनोवैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा दोषपूर्ण प्रमाणित कर दिया गया है। हार्टशोर्न तथा मे (May) ने इस सम्बन्ध में जो प्रयोग बच्चो पर किया है उससे यह स्पष्ट है कि चरित्र सामान्य नहीं, बल्कि विशिष्ट होता है। एक बच्चा एक परिस्थिति में सत्य बोल सकता है, किन्तु दूसरी परिस्थिति में वह झूठ भी बोल सकता है। सामान्य हम इसे इसी अर्थ में कह सकते है कि यदि परिस्थिति समान रहे तो एक ही तरह के आचरण की सम्भावना रहती है। प्रारम्भ मे बच्चो का चरित्र विशिष्ट रहता है, किन्तु उनका अनुभव और अवस्था ज्यों-ज्यो बढ़ती जाती है त्यों-त्यो उसमे सामान्यता आती जाती है। इस प्रकार चरित्र व्यक्ति के जीवन का एक ऐसा पहलू है जो स्थिर (Static) नहीं,

अपितु गत्यात्मक है (Dynamic) है। किन्तु गत्यात्मकता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि इसमें स्थिरता (Stability) का नामोनिशान रहता ही नहीं। जहाँ तक परिस्थिति समान और सुबोध रहती है वहाँ तक इसमे भी स्थिरता पाई जाती है, किन्तु परिस्थिति के परिवर्तन और विषमता के कारण इसमे अस्थिरता (Instability) का होना स्वाभाविक है।

२. चरित्र विकास की विभिन्न अवस्थाएँ

बच्चा जन्म के समय न चरित्रवान रहता है और न चरित्रहीन रहता है। उस समय उसे उचित-अनुचित या भले-बुरे का कुछ ज्ञान नहीं रहता। उसकी सभी प्रतिक्रियाएँ मूलप्रवृत्त्यात्मक (Instinctive) होती हैं। वह अपने पालन-पोषण के लिये पूर्णतः अपने अभिभावकों के आश्रित रहता है। परन्तु, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि प्रारम्भ में बच्चों में इसका पूर्णरूपेण अभाव रहता है। सच्ची बात यह है कि बच्चे में सभी प्रकार की शक्तियाँ विद्यमान रहती है, किन्तु उनका प्रस्फुटन बाद मे क्रमशः होता है। ज्ञानाभाव के कारण बच्चा कुछ करने में असमर्थ होता है और जो कुछ वह करता है उसके स्वरूप का उसे ज्ञान नहीं होता। यही कारण है कि उसकी सभी प्रतिक्रियाएँ मूलप्रवृत्तियो के द्वारा संचालित होती हैं। पुनः इन मूलप्रवृत्त्यात्मक प्रतिक्रियाओ में विभिन्न शिक्षणो के द्वारा संशोधन और परिवर्तन होता है। वह बिल्ली के बच्चे को देखकर प्रारम्भ मे उसे पकड़ने के लिये हाथ बढाता है, किन्तु जब बिल्ली अपने घातक नखों से बच्चे को चोट पहुँचाती है तो वह उसे पुनः पकड़ने का प्रयास नहीं करता।

चरित्रविकास की दूसरी अवस्था वह है जब बच्चों की सभी प्रतिक्रियाएँ बाह्य प्रलोभनो के द्वारा निर्धारित होती हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते है कि जिन प्रतिक्रियाओ को करने से उन्हे सन्तोष मिलता है उन्हें वे करते हैं, किन्तु जिनका करना उनके दुःख का कारण होता है उनका वे परित्याग कर देते हैं। सत्य बोलने पर जब उनके माता-पिता और शिक्षक उनकी तारीफ करते हैं तो उन्हे पुनः सत्य बोलने का साहस होता है, किन्तु मिथ्याभाषण पर जब वे अपने संरक्षको के कोपभाजन बनते हैं तो उसे छोड़ देते है। तात्पर्य यह है कि इस अवस्था में पुरस्कार और दण्ड का प्राधान्य रहता है और उसी के सहारे वे बहुत कुछ नए-नए गुणो को सीखते और अपनाते हैं। इस अवस्था का विस्तार दस वर्ष तक रहता है।

तीसरी अवस्था में बच्चे की प्रतिक्रियाएँ सामाजिक नियमों द्वारा निर्धारित होती है। इस अवस्था की व्यापकता बच्चो में किशोरावस्था तक रहती है। इसमें बच्चा समाज के अनुकूल अपने सभी आचरणों को करने का प्रयास करता है, क्योंकि वैसा न करने पर समाज द्वारा वह तिरस्कृत कर दिया जाता है। इस तिरस्कार को बर्दास्त करने में वह अपने को असमर्थ पाता है, इसलिये सभी सामाजिक नियमो का प्रतिपालन करता है। सारांश यह है कि इस अवस्था में समाजविहित (Socially approved) व्यवहारो का करना बच्चे के चरित्र-निर्माण में सहायक होता है। इस समय बच्चे को यह भलीभाँति मालूम हो जाता है कि उसे क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये।

चरित्र-विकास की अन्तिम या चौथी अवस्था वह है जिसमें बच्चों की प्रतिक्रियाएँ उपर्युक्त कारणो से निर्धारित नही होती, बल्कि परहित की भावना से निर्धारित होती है। इस अवस्था में वे स्वार्थरहित होते है। वे दूसरे के कल्याण को ही अपना कल्याण समझते हैं और इसी परकल्याण से प्रेरित होकर वे सामाजिक जीवन-यापन करते है। इस समय उनमे त्याग और परोपकार के भावों का साम्राज्य रहता है और वे ही भाव उन्हें सक्रिय बनाए रहते हैं। चरित्र-विकास की यही चरम सीमा है जिसमें त्याग और बलिदान की महिमा रहती है। नेताजी सुभाषचन्द्र बोस, स्वर्गीय महामना पं० मालवीय, महात्मा गांधी, भारत के प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू आदि चरित्र-विकास की अन्तिमावस्था के ज्वलन्त उदाहरण है।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि यह निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता कि किस बच्चे में किस समय चरित्र-विकास की कौन अवस्था विकसित होती है और कौन समाप्त होती है, तथापि इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये चारों अवस्थाएँ सभी बच्चों में पाई जाती हैं। जो बच्चे अधिक बुद्धिमान और प्रतिभाशाली होते है उनमें प्रथम तीन अवस्थाएँ शीघ्रता से समाप्त हो जाती है और चौथी अवस्था बहुत पहले विकसित हो जाती है। किन्तु, जो बच्चे मन्दबुद्धि होते है उनमे पहली दो या तीन अवस्थाएँ ही बहुत दिनो तक पाई जाती है। बहुतों में कई कारणों से' अन्तिम अवस्था देखने मे ही नही आती। तात्पर्य यह है कि सामान्य बच्चो मे चरित्र-विकास-क्रम उपर्युक्त प्रकार का होता है, किन्तु यह क्रम कभी-कभी व्यक्तिगत भिन्नताओं से भी प्रभावित होता है।

३. चरित्रविकास को प्रभावित करनेवाले अंग

(१) आयु (Age):—चरित्रविकास में अवस्था का क्या हाथ रहता है, यह पाठकों से छिपा हुआ नही है। प्रारम्भ में बच्चों को भले-बुरे का कुछ ज्ञान नहीं रहता, किन्तु अवस्था-वृद्धि के साथ-साथ वे भले-बुरे कामों को समझने लगते हैं। वे प्रारम्भ में बहुत अनुकरणशील होते हैं और जैसा अपने अभिभावकों को करते और कहते देखते-सुनते हैं वैसा ही करते हैं। अवस्था-वृद्धि के कारण उनका अनुभव परिपक्व होता है, उन्हें शिक्षण के द्वारा बहुत कुछ चारित्रिक तथ्य मालूम हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप उनमें चरित्र-निर्माण होना शुरू हो जाता है। उन्हें सत्य, असत्य, भलमन-साहत आदि का ज्ञान अवस्था के चलते होता है। ट्युडर हार्ट, हार्टशोर्न आदि के प्रयोगों से यह निर्विवाद है कि अवस्था में विवृद्धि होने के कारण बच्चे अपने वातावरण से कई चारित्रिक गुणों को सीख लेते हैं।

(२) बुद्धि:—कुछ मनोवैज्ञानिकों ने चरित्रविकास में बुद्धि के महत्त्व को भी प्रदर्शित किया है। उनका कहना है कि बुद्धिमान बच्चे मन्दबुद्धि के बालकों की अपेक्षा अधिक चरित्रवान होते हैं। टरमन ने भी अपने प्रयोगों द्वारा इस तथ्य को प्रमाणित किया है। किन्तु बर्ट, हीली तथा ब्रोनर के प्रयोग इस मत को पूर्णतः प्रतिपादित नही करते, क्योंकि उनसे यह स्पष्ट है कि चरित्रहीन/बच्चों में अल्पसंख्यक बच्चे ही मन्दबुद्धि थे। किन्तु, हार्टशोर्न तथा मे के प्रयोग पुनः टरमन के ही मत को परिपुष्ट करते हैं, क्योंकि उससे यह निर्विवाद है कि प्रतिभाशाली बच्चो से वंचकता (Cunningness) बहुत कम मात्रा में पायी जाती है।

यहाँ इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि बुद्धि के सम्बन्ध में दोनो तरह के प्रयोगात्मक प्रमाण मौजूद हैं, तथापि हम लोगों को यह मानना पड़ेगा कि चरित्रविकास में इसका हाथ कम नहीं रहता। जो बच्चे बुद्धि-मान होते हैं वे परिस्थिति को समझने में सफल होते हैं, किन्तु मन्दबुद्धि के बच्चों को परिस्थिति की सूझ नहीं होती। इसलिये बुद्धिमान बच्चे परिस्थिति के अनुकूल आचरण करते हैं जब कि मन्दबुद्धि बालक ऐसा नहीं करते। हम थोड़े शब्दों में यह कह सकते हैं कि यद्यपि चरित्र-विकास को अन्य अंग भी निर्धारित करते हैं, तथापि बुद्धि का प्रभाव इसमें अवश्य पड़ता है।

(३) घर:—घर की महिमा सभी मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्त की है। यदि हम विचारपूर्वक देखें तो ज्ञात होगा कि बच्चों के चरित्र-विकास में

जितना हाथ घर का रहता है उतना और किसी अंग का नहीं रहता। सर्व-प्रथम बच्चे अपने माता-पिता तथा परिवार के अन्य लोगों के सम्पर्क में आते हैं और उन्हीं पर बहुत दिनों तक उन्हें निर्भर भी रहना पड़ता है। वे उन्हीं के क्रिया-कलापों का अनुकरण कर वैसा ही करते हैं। यदि माता-पिता सत्यवादी, सहिष्णु, उपकारी होते हैं तो बच्चे भी उनके उन गुणों को अपनाते हैं। यदि उनमें मिथ्याभाषण, चोरी आदि के दुर्गुण रहते हैं तो बच्चे भी वैसे बन जाते हैं। अभिप्राय यह है कि चरित्र-विकास को बच्चे का गृह-वातावरण अत्यधिक प्रभावित करता है। घर का कितना गहरा प्रभाव चरित्रनिर्माण में पड़ता है, यह हम महाराणा प्रताप, शिवाजी, महात्मा गांधी आदि के पारिवारिक वातावरण का अध्ययन करके अच्छी तरह जान सकते हैं। इस सम्बन्ध में अधिक लिखना आवश्यक नहीं है, क्योंकि सामाजिक विकास और व्यक्तित्व-विकास में इस पर प्रकाश डाला जा चुका है।

(४) पाठशाला:—घर के बाहर चरित्र-विकास में जितना असर पाठ-शाला का पड़ता है उतना प्रभाव अन्य किसी अंग का नहीं पड़ता। जब बच्चा पाठशाला जाना शुरू करता है तब उस समय उसकी अवस्था पाँच-छः वर्ष की रहती है। वहाँ उसे एक बड़े समूह में कई घण्टो के लिये लगातार कई वर्षों तक रहना पड़ता है। अब वह अपनी मनमानी नहीं करता, बल्कि जब कभी भी कुछ करता है तो उसको करते समय अपने अन्य साथियो के हित-अनहित का ख्याल रखता है। जिन आचरणो से उसके बहुत साथियो का भला होता है उन्हें वह करता है, किन्तु जिनसे अनहित की सम्भावना रहती है, उन्हे वह नही करता। त्याग, उदारता, सहयोग, दूसरे के अधिकार की रक्षा करना आदि गुणों को बच्चा पाठशालीय जीवन (School life) मे सीखता है।

शिक्षक बराबर बच्चे के व्यवहारो का निरीक्षण करते हैं और जहाँ कहीं उन्हें किसी तरह का दोष दिखाई देता है वहाँ वे उसको सुधारने का यत्न करते हैं। वे स्वयं भी आदर्श व्यवहारों का प्रदर्शन करते है जिनका असर बच्चों के मन पर बहुत गहरा पड़ता है। वे बराबर अपने शिक्षक को संतुष्ट रखने की कोशिश करते हैं। शिक्षक भी बच्चो के लिए ऐसे-ऐसे रचनात्मक कार्यों का आयोजन करते हैं जिनके करने से बच्चो मे कई वांछनीय शील-गुणो का आविर्भाव और विकास होता है। कई तरह के खेलो का आयोजन पाठशालाओ मे रहता है जिनके द्वारा बच्चो में पुरुषार्थ, धैर्य आदि सद्गुणो का बीजारोपण होता है। कुछ शिक्षक प्रत्यक्षतया बच्चो को

चारित्रिक शिक्षाएँ देते हैं और कुछ अप्रत्यक्षतया। अभी तक इस दिशा में जितने प्रमाण मौजूद हैं उनसे यह अभिव्यक्त होता है कि अप्रत्यक्ष शिक्षा का प्रभाव बच्चों के चरित्र-विकास पर अत्यधिक पड़ता है। अतः शिक्षकों को चाहिए कि वे बच्चों के चरित्र को अपने आदर्श आचरणों से प्रभावित करें न कि कोरी शिक्षाओं से।

(५) **कहानियाँ तथा इतिहासः**—बच्चों के चरित्रविकास पर कहानियों तथा इतिहास का भी असर पड़ता है। वे जैसी कहानियाँ पढ़ते या सुनते हैं वे वैसा ही आचरण करना शुरू करते हैं। यदि कहानियाँ आदर्शमयी होती हैं तो उनके विचार और व्यवहार आदर्शमय होते हैं और यदि कहानियाँ दूषित होती हैं तो उनका आचार-विचार भी दूषित होता है। तात्पर्य यह है कि वे विभिन्न कथाओं से विभिन्न सद्गुणों या दुर्गुणों को सीखते हैं। इसी प्रकार इतिहास भी उनके चारित्रिक जीवन को प्रभावित करता है। यदि इतिहास, त्याग, बलिदान, उपकार आदि की घटनाओं से परिपूर्ण रहता है तो बच्चे भी उन गुणों को सीखते हैं। यदि घटनाएँ दूषित चरित्रों से परिपूर्ण रहती है तो उनका आचरण भी उनसे प्रभावित होता है। इसलिए माता-पिता, तथा शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे बच्चों के चरित्र के समुचित विकास के लिए उन्हें उत्तम-उत्तम कहानियाँ और ऐतिहासिक पुस्तकें पढ़ने को दें। खेद का विषय है कि वर्तमान में अभी ऐसी कहानियों का अभाव-सा है जिनसे बच्चे अपने चरित्रनिर्माण में कुछ सहायता ले सकें। किन्तु, ऐसी आशा की जाती है कि शीघ्र ही बालकों के उपयुक्त कहानियों और इतिहासों का प्रबन्ध भारतीय विद्वानों के सहयोग से हमारी राष्ट्रीय सरकार करने में सफल होगी।

(६) **महापुरुषों की जयन्तियाँ:**—महापुरुषों की जयन्तियों का असर बच्चों के चरित्र-विकास में कम नहीं पड़ता। जब किसी महापुरुष की जयन्ती मनाई जाती है तो बड़े-बड़े विद्वान उसके सद्गुणों का महत्त्व व्यक्त करते हैं जिसका असर श्रोताओं पर काफी पड़ता है। उस समय वे भी उन गुणों को अपने में अपनाने की अभिलाषा करते हैं और बहुत तो दूसरे दिन से वैसा करना आरम्भ कर देते हैं, क्योंकि उनके मन में भी यह इच्छा उत्पन्न होती है कि उनकी जयन्तियाँ भी लोग मनावें। बच्चों का मन अत्यन्त कोमल होता है, इसलिये वे और भी अधिक प्रभावित होते हैं और वे उन गुणों को अपनाने की कोशिश करना शुरू कर देते हैं। इसलिये जनता को चाहिये

कि बच्चों के समुचित चारित्रिक विकास के लिये अधिक-से-अधिक संख्या में महापुरुषों की जयन्तियाँ मनाने का आयोजन करे।

(७) धार्मिक संस्थाएँ (Religious Institutions):—सभी राष्ट्रों में धार्मिक संस्थाएँ हैं जिनका एकमात्र ध्येय वहाँ के लोगों को चारित्रिक शिक्षा देना है। पुराने जमाने में वस्तुतः ऐसी संस्थाओं से चरित्र-विकास में अत्यधिक सहायता मिलती थी। किन्तु, खेद का विषय है कि अब उन संस्थाओ मे चरित्र उज्ज्वल होने के बदले दूषित हो रहा है। यद्यपि अब भी कुछ ऐसी संस्थाएँ विद्यमान हैं जो बच्चों को सद्गुणी बनाती हैं, किन्तु अधिकांश संस्थाएँ ध्येयच्युत और मृतप्राय हो गई है जो अपने कर्त्तव्य से विमुख हैं या गलत चीजों को सिखलाती है। आज कितने ऐसे भारतीय मन्दिर, मठ और मस्जिदें हैं जो बच्चों को दम्भ, वैर, स्वार्थपरता आदि गुणों को सिखलाती हैं। इसलिये हमारी सरकार को चाहिये कि वह ऐसी संस्थाओं को पुनर्जीवित करे और योग्य एवं चरित्रवान व्यक्तियों को अधिष्ठाता के पद पर नियुक्त करे ताकि ऐसी संस्थाएँ पुनः चरित्र-निर्माण में सहायक सिद्ध हो सकें।

(८) मित्र-मण्डली:—घर के बाद बच्चों का अधिक समय अपने मित्रों के साथ कटता है, इसलिये उनका चरित्र अपने मित्रों से अत्यधिक प्रभावित होता है। यदि मित्र-मण्डली चरित्रवान होती है तो बच्चे भी चरित्रवान होते हैं और दूषित साथियों से बच्चों का चरित्र भी दूषित हो जाता है। इसलिये माता-पिता को बच्चों को सुन्दर मित्र-मण्डली में रहने के लिये प्रोत्साहित करना श्रेयस्कर है। मैत्री का असर हमारे आहार-व्यवहार पर क्या पड़ता है, इसे नित्यप्रति के उदाहरणों से जाना जा सकता है। आज कितने ही बच्चे मित्रों के चलते भले से बुरे या बुरे से भले बन रहे है। ठीक ही है—'सोहबते असर।'

(९) चलचित्र (Cinema):—चलचित्र का प्रभाव बच्चों के चरित्र पर कैसा पड़ता है, यह विवादग्रस्त है, क्योंकि कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना है कि इससे बच्चों का चरित्र दूषित हो जाता है और कुछ लोगों का कहना है कि यह बच्चों को अच्छे गुण सीखाने में सहायता देता है। दोनों पक्षों को परिपुष्ट करने के लिये कई प्रयोगात्मक प्रमाण दिए गए हैं। किन्तु, सच्ची बात यह है कि बच्चे चलचित्र से अधिक प्रभावित होते हैं। यदि उसमें आदर्श गुणो का प्रदर्शन रहता है तो वे आदर्श की बातें सीखते हैं और यदि दूषित घटनाओं का चित्रण रहता है तो वे दूषित बातों को सीखते हैं। इस-

लिये हम यह कह सकते हैं कि सिनेमा चरित्रनिर्माण में सहायक होगा या घातक, यह उसमें चित्रित घटनाओं पर निर्भर करता है। इसलिये राष्ट्रीय सरकार को चाहिये कि वह ऐसे चलचित्रों का निर्माण करावे जिनसे बच्चे कुछ अच्छी बातें सीख सकें। गन्दे चलचित्रों को दिखलाना बन्द कर देना चाहिये जिसमें बच्चे सीनेमा के अच्छे-अच्छे चित्रों को देख सकें। इसके लिये प्रत्येक परिवार को सरकार की ओर से समुचित भत्ता का प्रबन्ध होना चाहिये। कुछ ऐसे चलचित्र-भवनों का निर्माण होना चाहिये जहाँ बच्चों को नियमित रूप से निःशुल्क सिनेमा दिखलाया जाय। देखी हुई घटनाओं का असर जितना अधिक बच्चों के मन पर पड़ता है उतना अधिक सुनी घटनाओं का नहीं।

(१०) स्वास्थ्यः—स्वास्थ्य भी चरित्रविकास को निर्धारित करने के लिये एक आवश्यक अंग है। जो बच्चे शरीर और मन से स्वस्थ रहते हैं वे अपने समाज में अच्छी तरह मिलते हैं और अपने समुचित अभियोजन के लिये समाज-विहित प्रतिक्रियाओं को करते है। किन्तु, जो बच्चे अस्वस्थ रहते हैं उन्हें दूसरों के साथ मिलने का अवसर नहीं प्राप्त होता, इसलिये क्या करना उचित और क्या करना अनुचित है, वे इसे नहीं जानते। इस अभाव के कारण वे उन गुणों को अपनाने में असमर्थ रहते हैं जो चरित्र-विकास में सहायक होते हैं। हम लोगों का सामान्य अनुभव भी यही प्रमाणित करता है कि स्वस्थ बच्चे चरित्रवान और अस्वस्थ बच्चे चरित्रहीन होते हैं। इसलिये माता-पिता को चाहिये कि अपने बच्चों के सुन्दर चरित्र के लिये उन्हें स्वस्थ बनाने की कोशिश करें।

इन उपर्युक्त अंगों के अतिरिक्त और भी कितने ऐसे अंगों का उल्लेख किया जा सकता है, किन्तु प्रमुख अंग उपर्युक्त ही हैं जो बच्चे के चरित्र-विकास में विशेष रूप से सहायक होते है।

४. चरित्र-अध्ययन-विधियाँ

आधुनिक युग मे बच्चों के विभिन्न शीलगुणों की जाँच करने के लिये कई मनोवैज्ञानिक पद्धतियाँ प्रचलित हैं, किन्तु यहाँ हम कुछ प्रमुख पद्धतियो का ही उल्लेख संक्षिप्ततः करेंगे।

(१) मूल्यांकन-पद्धति (Rating Method):—मूल्यांकन विधि के द्वारा बच्चों के चरित्र के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। यह विधि कई प्रकार से काम मे लाई जाती है। कभी बच्चों से तरह-तरह के

प्रश्न करके उन प्रश्नों के उत्तर के आधार पर उनका चरित्र आँका जाता है। कभी स्वयं बच्चे अपने चरित्र का मूल्यांकन करते हैं और कभी प्रयोग-कर्त्ता। इसी तरह किसी वास्तविक परिस्थिति को उपस्थित करके भी उनके चरित्र का मूल्यांकन किया जाता है। यद्यपि इस विधि द्वारा बच्चों के चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है, किन्तु इसमें कई कठिनाइयाँ हैं जिनका उल्लेख व्यक्तित्व-विकास में किया जा चुका है। अतः इस विधि की पूर्ण जानकारी के लिए पाठक उस अध्याय में वर्णित व्याख्या को देखें।

(२) निर्माण-पद्धति (Performance Method):—इस पद्धति पर भी व्यक्तित्व-विकास मे प्रकाश डाला जा चुका है। इसलिए इसके सम्बन्ध में यहाँ अधिक न कहकर इतना ही कह देना पर्याप्त प्रतीत होता है कि इस विधि से बच्चों की सत्यता, उदारता, ईमानदारी आदि की जानकारी की जाती है। उन्हें ऐसी परिस्थिति में रक्खा जाता है कि वे किसी एक गुण को प्रदर्शित करने का पर्याप्त अवसर पा सकें। किन्तु, इस विधि में दो बहुत बड़े दोष हैं। पहला दोष यह है कि इसके द्वारा बच्चे के सामान्य चरित्र का ज्ञान नहीं होता, बल्कि किसी परिस्थिति विशेष का ज्ञान होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि ऐसी परिस्थितियों मे उन्हें किस तरह रक्खा जाय, यह एक विकट समस्या है। किन्तु, इतना होते हुए भी हम इसके महत्त्व की अवहेलना नहीं कर सकते। इस विधि के लिए मनोविज्ञान जगत वोइल्कर, हार्टशोर्न, मे आदि विद्वानों का ऋणी है।

(३) ज्ञान तथा मनोवृत्ति-परीक्षण-पद्धति (Knowledge & Attitude testing Method):—इस परीक्षण विधि के द्वारा बच्चों के विभिन्न चारित्रिक पहलुओं के सम्बन्ध में उनके ज्ञान और मनोवृत्ति के आधार पर जाना जाता है। उनसे नैतिकता (Morality), उदारता आदि के सम्बन्ध मे तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाते है या उनके ज्ञान का पता विभिन्न परिस्थितियों मे लगाया जाता है, अथवा किसी गुण विशेष के प्रति उनकी मनोवृत्ति का पता लगाया जाता है और इस तरह उनके चरित्र का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किन्तु, चरित्र अध्ययन की यह अपूर्ण विधि है, क्योंकि ज्ञान चरित्र का द्योतक सभी स्थलो पर नहीं हो सकता या मनोवृत्ति भी उसे पूर्णतः व्यक्त नहीं कर सकती। तब इतना मानना पड़ेगा कि इससे बच्चो के चरित्र का साधारण ज्ञान इसलिए हो जाता है कि इस विधि के द्वारा उनके ज्ञान और व्यवहार के सम्बन्ध पर कुछ अंशो मे प्रकाश पडता है।

इसी प्रकार चरित्र का अध्ययन, प्रश्न-माला, व्यक्ति-इतिहास आदि

पद्धतियों से भी किया जा सकता है, किन्तु उनका उल्लेख हम नहीं करेंगे। यत्र तत्र उन पद्धतियों पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है।

५. चरित्र-प्रशिक्षण (Training of Character)

अब तक हम चरित्र के विभिन्न पहलुओं का उल्लेख करते आये हैं। इसलिए अन्त में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि बच्चों को चरित्रवान बनाया कैसे जाय और उनको इसकी शिक्षा कैसे दी जाय ? यदि हम इस प्रश्न पर विचार करें तो हमें मालूम होगा कि वस्तुतः यह एक कठिन प्रश्न है, क्योंकि जिस सरलता से हम बच्चों की अन्य शक्तियों और प्रक्रियाओं को विकसित होने में सहायक होते हैं उतनी आसानी उन्हें चरित्रवान बनाने में नहीं है।

जैसा कि हम जानते हैं, बच्चों का स्वभाव और मन हम सयानों से भिन्न होता है। उनकी सभी शक्तियाँ पूर्णतः विकसित नहीं रहतीं, इसलिये उन्हें चरित्र-निर्माण करने के लिये समझाना अथवा प्रोत्साहित करना कुछ कठिन हो जाता है। अतः उनकी चारित्रिक शिक्षा के लिये हमें विशेष सावधान होने की आवश्यकता है और वे चरित्रवान बनें, इसके लिये हमें मनोवैज्ञानिक नियमों का परिपालन करना नितान्त आवश्यक है।

पहली बात ध्यान देने योग्य इस सम्बन्ध में यह है कि माता पिता को प्रारम्भ से ही बच्चों में शुभ आदतों को डालने का प्रयास करना चाहिये। उनके साथ बहुत स्नेह से पेश आकर उनके दुर्गुणों को दूर करने की कोशिश करनी चाहिये। उन्हें प्रत्यक्षतया अनावश्यक सदुपदेश देना वांछनीय नहीं, क्योंकि बच्चे उन उपदेशों के समझने में असमर्थ होते है। अप्रत्यक्ष रूप से उन्हें उचित-अनुचित का ज्ञान कराना कल्याणकर होता है। अर्थात् जब अनुकूल परिस्थिति हो तभी किसी चीज के गुण-दोष को समझाना चाहिये, अनावश्यक नहीं। बच्चों को उचित कार्यों को करने के लिये प्रशंसा, खिलौना, मिठाई आदि द्वारा प्रोत्साहित करना चाहिये, किन्तु हमें यह नहीं भूलना होगा कि अति सर्वत्र वर्जयेत्। यह पुरस्कार समय-समय पर ही होना चाहिए। बच्चे यदि किसी कारणवश कोई अनुचित कार्य कर दें तो उन्हें समझा-बुझा देना चाहिये, व्यर्थ का डाँटना या मारना-पीटना श्रेयस्कर नहीं। यदि संयोग वश दण्ड देना आवश्यक हो तो दण्ड इस प्रकार से देना चाहिए कि बच्चे को दण्ड देने का कारण मालूम हो जाय ताकि भविष्य में वह पुनः वैसा करने का साहस न कर सके।

माता-पिता को स्वयं अपना जीवन आदर्शमय व्यतीत करना चाहिये ताकि बच्चे उनका अनुकरण करके लाभान्वित हो सकें। पारस्परिक संघर्ष, निन्दा आदि का व्यवहार नहीं होना चाहिये, क्योकि इसका असर बच्चों के मन पर बहुत बुरा पड़ता है। वीर पुरुषों की कहानियाँ और उनके सद्गुणों यथा, उदारता, त्याग, सत्यता आदि की चर्चा बच्चों से बराबर अवसर विशेष पर करते रहना चाहिये। इन सद्गुणो के चलते वे क्योंकर महान् बन गए, इसका भी उल्लेख कर देना आवश्यक है ताकि बच्चे अपने में भी उन गुणो को अपनाने का संकल्प कर सकें। खेल, मनोरंजन आदि के द्वारा बच्चों को सामूहिक जीवन व्यतीत करने के लिये प्रोत्साहित करना चाहिये क्योंकि सामाजिक जीवन से बच्चे बहुत कुछ अपने जीवन में सीखते है। किन्तु इस बात को हमें नहीं भूलना होगा कि उन्हें अवांछनीय सामाजिक जीवन से सदा अलग रखना चाहिये। इसी तरह और भी समुचित उपायों द्वारा बच्चो के चरित्र-निर्माण मे माता-पिता, शिक्षक तथा अन्य अभिभावकों को सहायक होना चाहिये।

धार्मिक विकास

१. धर्म का अर्थ

धर्म की व्याख्या विद्वानों ने कई प्रकार से की है, किन्तु व्याख्या के ढंग में अन्तर होते हुए भी सभी के मूल में एक ही सिद्धांत है। उदात्त विचार के विद्वानों ने धर्म को बहुत व्यापक माना है और उनके लिये विश्व में एक ही धर्म है और है वह मानव-धर्म। ऐसे विचारकों में हम महात्मा बुद्ध, महावीर, महात्मा गांधी, ईसामसीह आदि को रख सकते हैं, क्योकि इन्होंने पक्षपातरहित मानव-धर्म पर ही जोर दिया है। किन्तु, कुछ ऐसे लोग भी है जो इस पद का प्रयोग अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में करते हैं और वे अपने से अन्य धर्म को हेय दृष्टि से देखते है। उनके अनुसार हिन्दू, मुसलमान, इसाई आदि ही धर्म है। प्रायः वर्तमान में इसी दृष्टिकोण से प्रभावित होने वालो की संख्या अधिक है। इसी संकीर्णता के चलते आज कुछ ऐसे धर्मावलम्बी हैं जो निर्दोषो की हत्या करने में जरा नहीं हिचकते और धर्म के नाम पर करोड़ो को कठपुतली की तरह नचाते हुए अपने तुच्छ स्वार्थ को पूरा करते हैं। ऐसे ही लोग धर्म के नाम पर कलंक का टीका लगाते हैं।

अब प्रश्न यह है कि वस्तुतः धर्म क्या है? यदि हम इसकी व्याख्या थोड़े

शब्दों में करें तो यह कह सकते हैं कि धर्म जीने का एक ढंग (Way of life) है, अर्थात् जीवन के प्रति एक मनोवृत्ति विशेष ही धर्म है। जितने भी मनुष्य हैं उन सबकी अपनी-अपनी एक मनोवृत्ति विशेष जीवन के प्रति होती है। उनके जीने का एक आदर्श या लक्ष्य विशेष होता है जिसके अनुसार वे अपने जीवन को व्यतीत करते है। कुछ व्यक्ति ऐसे है जिनका आदर्श जीव मात्र की सेवा करना है। यही सेवा को आदर्श बनाना उनकी जीवन-वृत्ति है। इसी तरह और कितने व्यक्ति हैं जो सत्य को ही सर्वस्व मानते हैं और प्राण संकट के समय भी वे अपने सत्य को नहीं छोड़ते। इसी तरह विभिन्न व्यक्तियो की जीवन के प्रति विभिन्न वृत्तियाँ हैं।

साधारणतः ऐसा देखा जाता है कि जो व्यक्ति धार्मिक होता है वह परमात्मा (God), आत्मा (Soul), स्वर्ग (Heaven), नरक (Hell), पाप, पुण्य, कथा, पूजा, पाठ आदि में विश्वास करता है। इसलिये कुछ विद्वानों का मत है कि सर्वशक्तिमान सत्ता (Omnipotent) में विश्वास करना ही धर्म है। इसी तरह भिन्न-भिन्न प्रकार से इसकी व्याख्या की गई है, किन्तु इसे और भी सुगम बनाने के लिये हम कह सकते हैं कि जो धारण करने योग्य है, वही धर्म है। धर्म का शाब्दिक अर्थ है, गुण (Virtue), इसलिये मनुष्यों का जो गुण है, वही धर्म है। जिस प्रकार मिर्च का धर्म है तीतापन उसी प्रकार मनुष्य का धर्म है, मानवता। यह मानवता शब्द बहुत प्रशस्त है, इसलिए यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि मानवता क्या है ? इसके उत्तरस्वरूप यह कहा जा सकता है कि मानवोचित गुण ही मानवता के द्योतक हैं, यथा, सत्य (Truth), अहिंसा (Non-violence) आदि। भारतीय ऋषियों ने धर्म की व्याख्या करते हुए दस लक्षणों· धैर्य, क्षमा, इच्छाओ का दमन, पवित्रता, इन्द्रियो पर अधिकार, विद्या, सत्य, अक्रोध, बुद्धि तथा चोरी न करने को व्यक्त किया है। इन लक्षणों को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि इन गुणों को धारण करना धर्म है। यहाँ दूसरी बात विशेष ध्यान देने योग्य यह है कि भारतीयो ने धर्म के इन दस लक्षणों को व्यक्त करके मनुष्य की नैतिकता, उसके सामाजिक जीवन, ईश्वर में विश्वास, कर्त्तव्य-फल पर विशेष जोर दिया है। यही कारण है कि अधिकांश भारतीय सत्य, दया, कर्त्तव्यपालन आदि के द्वारा अपने जीवन का संचालन करते हैं। भारतीयो मे सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे ईश्वर मे विश्वास न करते हुए भी धर्म के सभी अंगों पर जोर देते है। बौद्ध और जैन ईश्वर की चर्चा नही करते, तथापि वे सत्य, अहिंसा, अस्तेय

आदि पर जोर देकर एक अज्ञात सर्वशक्तिमान सत्ता को अप्रत्यक्षतया स्वीकार करते हैं।

इस स्थल पर किम्बल यंग (K. Young) के अनुसार धर्म की विशेषताओं का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

प्रत्येक धर्म में यज्ञ, त्योहार आदि को मनाने का अपना एक निराला ढंग होता है। विश्व का कोई भी धर्म ऐसा नहीं है जो धार्मिक उत्सवों से रहित हो। हिन्दू रामलीला, दुर्गापूजा, अन्नकूट आदि के त्योहारों को धार्मिकता की पुट देते है, मुसलमान मुहर्रम, रोजा आदि को, और इसाई बड़े दिन आदि को।

प्रतीकता (Symbolism) भी धर्म की एक खास विशेषता है। कितने धर्मावलम्बी परिधान विशेष धारण करते हैं जो एक ध्येय विशेष का द्योतक होता है। इसी तरह प्रत्येक धर्म में कुछ ऐसे पदार्थ हैं जिन्हें बहुत पवित्र समझा जाता है और उन्हें उच्च दृष्टि से देखा जाता है। धार्मिक कार्यों के लिए स्थानविशेष निश्चित रहते हैं, जैसे, मन्दिर, मस्जिद, गिरजाघर, नदी-तट आदि। इसी तरह सभी धर्मों के अपने-अपने धार्मिक ग्रंथ होते है जिसमें धर्मावलम्बियों के कर्त्तव्य, सृष्टि, ईश्वर और मनुष्य के सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डाला रहता है। रामायण, महाभारत, वेद, कुरान, बाइबिल आदि ग्रंथ विभिन्न धर्मावलम्बियो के है। अन्त में हम इतना कहकर धर्म की व्याख्या को समाप्त करेंगे कि जिस तरह जीवन के अन्य क्षेत्रों में कुछ नायक विशेष होते है वैसे धार्मिक क्षेत्र में भी कुछ ऐसे लोग रहते हैं जो किसी धर्मविशेष के गूढ रहस्यों को जनता के सामने रखते है और जिन पर धर्म का उत्तरदायित्व रहता है, यथा, पुरोहित, पादरी, मुल्ला आदि।

शिशु-जीवन में धर्म का आविर्भाव और विकास
(Origin & Development of Religion in Child's Life)

बच्चो में धार्मिक भाव का अंकुर कब और कैसे अंकुरित होकर विकसित होता है, यह एक विचारणीय प्रश्न है। यदि हम इसके आविर्भाव और विकास का अध्ययन करे तो ज्ञात होगा कि बच्चे मे धार्मिकता का भाव जन्मजात नहीं होता, जैसा कि कुछ मनोवैज्ञानिको का मत है, बल्कि अर्जित होता है। जिस तरह उसे अन्य प्रकार के अनुभवों का ज्ञान अर्जित होता है उसी प्रकार धार्मिकता का भी अंकुर उसके अनुभव के परिणामस्वरूप अंकुरित होता है। जन्म के समय बच्चा न तो धार्मिक रहता है और न

अधार्मिक। उसमें धार्मिक बनने की क्षमता सुषुप्तावस्था (Latent period) में विद्यमान रहती है । जैसा कि कई स्थलों पर कहा जा चुका है, उसे अपने जीवन-यापन के लिए पूर्णतः अपने माता-पिता पर निर्भर करना पड़ता है । उस समय वह अपने मातापिता को सर्वेसर्वा समझता है। किन्तु, ज्यों-ज्यों उसकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों-त्यो उसके इस विचार में परिवर्तन होने लगता है। वह अपने माता पिता को भी गलतियाँ करते देखता है और समझता है कि वे अमुक कार्य करने में सफल हैं और अमुक कार्य करने में असमर्थ हैं। अब वह उन्हें सर्वशक्तिमान (Almighty), सर्वव्यापी (Omnipresent) आदि नहीं समझता, किन्तु अपने ऐसा समझता है। वह प्राकृतिक चीजों का निरीक्षण करता है, उनमें विचित्रता पाता है और दूसरो से ईश्वर के बारे मे तरह-तरह की पौराणिक कथाएं सुनता है । उसका विश्वास एक ऐसे ईश्वर में होने लगता है जो सबका कर्त्ता-धर्त्ता है और जो सब की अच्छाइयो और बुराइयो के लिए पुरस्कार या दण्ड देता है । किन्तु, यहाँ यह स्मरणीय है कि इस समय उसके मन में एक विचित्र धारणा ईश्वर के प्रति रहती है । उसका ऐसा विश्वास रहता है कि ईश्वर लम्बा कदवाला, दाढ़ी युक्त एक ऐसा व्यक्ति है जो ऊपर रहता है और हम लोगों को कर्मानुसार सुख दुःख देता है। छोटे बच्चे प्रायः अपने संरक्षकों से विभिन्न पदार्थों के रचयिता के बारे में प्रश्न करते हैं और उन्हे यही उत्तर मिलता है कि इन चीजों को ईश्वर ने बनाया है। जब वे ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध मे तरह-तरह के प्रश्न करते हैं तो उन्हें कह दिया जाता है कि वह मनुष्य और अन्य सभी जीवो का पिता है, वह बहुत बड़ा आदमी है, उसे सफेद दाढ़ी है और वह स्वर्ग मे रहता है आदि । इन सबको सुनकर बच्चों के मन में ईश्वर के प्रति एक अटूट विश्वास हो जाता है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस प्रकार विभिन्न ज्ञानेन्द्रियो के द्वारा विश्व की अन्य चीजो का ज्ञान होता है उस प्रकार ईश्वर का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उसे देखा नहीं जा सकता और न तो स्पर्श ही किया जा सकता है। इसलिए जिस प्रकार अन्य प्रकार के पदार्थों का सामान्य प्रत्यय (Concept) का विकास बच्चों में होता है उस प्रकार ईश्वर—प्रत्यय का विकास उनमे नहीं होता। यही कारण है कि उनमे ईश्वर के प्रति धारणा सयानो के लिए संतोषप्रद नहीं होती। किन्तु इसका दोष उनके संरक्षकों को ही है, कारण, वे स्वयं बच्चों को उसके सम्बन्ध मे समुचित और पर्याप्त ज्ञान नहीं देते। इसलिए माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों को चाहिए कि वे ऐसा प्रबन्ध करें कि बच्चे ईश्वर को अच्छा,

हित् रूप में समझ सकें और वे ऐसी धारणा बना सकें कि सत्य ही ईश्वर है।

बच्चों में, तर्क-शक्ति (Reasoning Capacity) विशेष रूप से नहीं होती, इसलिये जो कुछ भी उनसे ईश्वर के बारे में कहा जाता है उसे वे बिना किसी सन्देह के सत्य मान बैठते हैं। यही कारण है कि छः-सात वर्ष के बच्चों में पूजा-पाठ सामाजिक विधि से करने का व्यवहार देखा जाता है। लेखक को स्वयं छोटे-छोटे मारवाड़ी बच्चो का पूजापाठ देखने का सौभाग्य प्राप्त है। बच्चे प्रातःकाल अपनी माँ के साथ मन्दिर में आते और यों ही अपने दोनों हाथों को जोड़कर भगवान की मूर्ति के सामने अपने मस्तक को नवाते है। जब कोई बालक शरारतवश मन्दिर के किसी सामान का स्पर्श कर देता है तो दूसरा अपनी भाषा में कह उठता है कि ऐसा मत करो, पाप लगेगा। अभिप्राय यह है कि बच्चो की धारणा ईश्वर, पाप-पुण्य आदि के प्रति जैसी भी हो, किन्तु इतना मानना पड़ेगा कि उनमे धार्मिक भाव उनकी छोटी अवस्था मे आविर्भूत हो जाता है।

छः-सात वर्ष के बाद बच्चों की धारणाओं मे बहुत परिवर्तन होता है, क्योंकि उस समय वे प्रायः सामाजिक जीवन व्यतीत करते है। उनकी यह परिस्थिति लगभग दस वर्ष तक रहती है। उनमे पढ़ने की इतनी योग्यता हो जाती है कि उन्हें नए-नए विचार और भाव पुस्तकों के अध्ययन से मिलते है। यही ज्ञान उनके प्रारम्भिक विचारों में परिवर्तन का कारण होता है। उस समय उनमें सहानुभूति, प्रेम और नियम-पालन के बीज अंकुरित हो जाते हैं, इसलिए उनके खेलो मे इनका विशेष स्थान रहता है। वे अपने संरक्षक के नियंत्रण मे न रहकर अपने शिक्षकों तथा सहपाठियों के नियंत्रण मे रहते हैं और अपनी वफादारी (Loyalty) भी इस उम्र मे उन्हीं के प्रति प्रकट करते हैं। यह ऐसी अवस्था है जिसमें बच्चे सत्य, झूठ, उचित, अनुचित आदि का ज्ञान अपनी क्रियाओ द्वारा प्राप्त करते हैं, उपदेशों द्वारा नहीं। इसलिये संरक्षकों को उपदेशमात्र देना श्रेयस्कर नहीं है।

दस से बारह वर्ष के बच्चों में यों तो वफादारी की मात्रा अत्यधिक रहती है, किन्तु इस दृष्टिकोण से लड़के लड़कियों की अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि उनमे इसकी मात्रा अधिक रहती है। वे अपने समूह के सुख-दुःख का अधिक ध्यान रखते हैं और उसमें अपना हाथ भी बँटाते हैं। समजातीय प्रेम और मैत्री के व्यवहार भी इस अवस्था की अपनी मुख्य विशेषताएँ हैं। वे अपनी रुचि धार्मिक ग्रन्थों, कहानियों तथा चित्रो में अधिक दिखलाते हैं जो धार्मिक

विकास में विशेषरूपेण सहायक होती है। ईश्वर की धारणा अब शक्तिशाली आदमी की नहीं रहती, बल्कि परमपिता के रूप में परिवर्तित हो जाती है। इस अवस्था में लड़कों की अपेक्षा लड़कियों मे अन्धविश्वास की मात्रा अधिक रहती है। उनमें अधिकार की रक्षा, सत्यता, आचरण के रूप में ही नैतिकता परिलक्षित होती है। बारह वर्ष में उनकी सभी क्रियाएँ एक आदर्श विशेष के प्रति होने लगती हैं। इस समय उनमें अज्ञात शक्ति (अलौकिक) (Supernatural power) की चेतना विशेषरूपेण जाग्रत होती है।

किशोरावस्था के बच्चों के मन में नए नए प्रश्नो का आविर्भाव होता है। वे जीवन, मरण, मोक्ष (Liberation), उचितानुचित, विश्व-रचयिता और उसके स्वरूप आदि के सम्बन्ध मे कई प्रकार के प्रश्नों से घिरे रहते हैं, यथा, जीवन क्या है, विश्व का रचयिता कौन है, मृत्युवाद पुनर्जन्म (Retbirth) होगा अथवा जीवन का अन्त हो जाएगा आदि प्रश्नों की भरमार रहती है। उन्हें इन प्रश्नों का समाधान धार्मिक ग्रन्थों और शिक्षकों से जैसा मिलता है उस पर वे अपना चिन्तन करते हैं। इसी तथ्य का उद्घाटन कप्की, स्टैनले हाल, ल्युबा, को, फर्फे, होलिंगवर्थ, स्लैटरी आदि अनेक विद्वानों के अन्वेषणो से होता है। उन विद्वानों ने इस अवस्था की विभिन्न धार्मिक कठिनाइयों पर काफी प्रकाश डाला है। किशोर बच्चे संसार के विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में अपना एक दर्शन (Philosophy) अथवा दृष्टिकोण रखना आवश्यक समझते हैं। इस समय उनमें भावों का इतना तूफान रहता है कि चिन्तन गौण हो जाता है। पन्द्रह सोलह वर्ष की अवस्था में धार्मिक संवेगात्मकताका बाहुल्य रहता है, किन्तु उन्नीसवें वर्ष के लगभग धार्मिक चिन्तन की प्रबलता रहती है। किशोरावस्था मे ज्यों ज्यों चिन्तन विकसित होता है त्यो-त्यो धार्मिक सन्देह की वृद्धि होने लगती है। और यदि उनके धर्म का ज्ञान बहुत संकीर्ण (Narrow) रहता है या अनुभव से भिन्न प्रमाणित होता है तो उनके मन में द्वन्द्व (Conflict) होने लगता है। जिन बच्चो में मानसिक विकास सबल न रहने के कारण निर्णय करने की क्षमता अधूरी रहती है वे या तो पुरानी धार्मिकता से दूर हट जाते हैं या अभिनव धार्मिक विचारो को तिरस्कृत कर देते हैं। थोड़े बहुत जिनकी अवस्था वैसी नहीं रहती, किसी धर्म विशेष के पक्षपाती (Supporler) बन जाते हैं और उनसे भिन्न बच्चे चरित्र, व्यवहार आदिके लिये निर्देशक (Director) की आवश्यकता का अनुभव करते है, क्योंकि उनमें कई बातो के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है। इसलिये उन्हें क्या करें और क्या न करें का निश्चय नहीं

होता। धार्मिक दृष्टिकोण से पन्द्रह से सत्रह वर्ष की अवस्था लड़कों और तेरह चौदह वर्ष की अवस्था लड़कियों के लिये झंझावात की रहती है। इसमें उनके जीवन में कई प्रकार के धार्मिक तूफान आते हैं। इसी अवस्था में बच्चे चरित्र के मूल्य को समझने में समर्थ होते हैं। वे धार्मिक प्रश्नों पर बहस, तरह-तरह की छानबीन और आलोचनाएँ करते हैं। तत्पश्चात वे अपने उत्तरदायित्व को समझ कर अपने आचरण को सामाजिक-मान्यताओं के अनुसार बनाते हैं। उनके सामने जीवन का एक आदर्श रहता है और अन्ततोगत्वा वे सामाजिक सेवा में संलग्न होते हैं। वे मानवता, आत्मत्याग, नैतिकता आदि के पक्षपाती बन जाते हैं। अपने आदर्श को निभाना वे अपना धर्म या कर्त्तव्य समझते हैं। इस प्रकार बच्चों के धार्मिक विकास का क्रम उनके जीवन के अन्य पहलुओं के विकासक्रम से भिन्न और विषम है। उनके जीवन में कई प्रकार के धार्मिक परिवर्तन आते है और अन्त में अठारह-उन्नीस वर्ष की अवस्था मे जाकर उनकी एक निश्चित रूपरेखा तैयार होती है। इसलिये यहाँ धार्मिक शिक्षा पर प्रकाश डालना आवश्यक प्रतीत होता है, किन्तु उसका उल्लेख करने के पहले हम उन अंगों या संस्थाओ का उल्लेख करेंगे जो बच्चे के धार्मिक जीवन को प्रभावित करती है।

३. धार्मिक विकास को प्रभावित करने वाले अंग

यों तो बच्चों की धार्मिकता पर कई अंगों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु यहाँ हम प्रमुख अंगों का ही उल्लेख करेंगे क्योकि चरित्र विकास में उन पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है।

(१) घर :—धार्मिक विकास में घर अथवा परिवार का स्थान बहुत ऊँचा है। बच्चों के जीवन में धर्म के प्रति एक वृत्ति विशेष का अंकुर उनके शिशुकाल में ही होता है। वे अपने माता-पिता के धार्मिक व्यवहारों का निरीक्षण करते हैं और उस निरीक्षण का गहरा असर उनके मानस जीवन पर पड़ता है। माता-पिता के प्रेम, सौन्दर्य, सहानुभूति, नैतिकता आदि के उपासक होने पर उनके बच्चे भी उन्हीं वृत्तियो का अनुकरण करते हैं। अपने बच्चों को माता-पिता तरह-तरह के साधनो से मानवता, सत्यता आदि का पाठ पढ़ाते हैं और वे उन्हे सहर्ष स्वीकार करते हैं। संरक्षको से ही बच्चे जीवो पर दया करना, सभी जीवों में ईश्वर का रूप देखना, भगवान को ही सर्वेसर्वा मानना, उनकी पूजा-पाठ करना आदि सीखते हैं। घर मे तरह-तरह के धार्मिक ग्रंथ और चित्रों का अवलोकन बच्चों में अधिक धार्मिकता लाता है। इससे बच्चे

जितना लाभान्वित होते हैं उतना कोरे उपदेशों से नहीं। माता-पिता का असर बच्चों के धार्मिक जीवन पर कितना गहरा पड़ता है इसके अनेकों उदाहरण अपने दैनिक जीवन से दिये जा सकते हैं। लेखक के एक हितैषी बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति के हैं जो पहले पूजा-पाठ से कोसों दूर रहते थे। अखाद्य से उन्हें विशेष रुचि थी, किन्तु आज से दस वर्ष पहले उनके जीवन में ऐसा परिवर्तन हुआ कि उनकी रुचि पूजा-पाठ तथा कीर्त्तन की ओर हो गई। उन्होंने मांस-मछली खाना बिल्कुल छोड़ दिया। इधर उनका जीवन धार्मिक कामों में अधिक व्यतीत होता है। इसका असर उनके बच्चों पर इतना अधिक पड़ा है कि वे किसी भी ऋतु में सूर्योदय के पहले उठकर नित्य-कार्य से निवृत्त होकर गीता, रामायण का पाठ और भगवद् भजन करते हैं। जब कभी वे अपने घर पर नहीं रहते तब बच्चे स्वयं भगवान की प्रतिमा रख कर ढोलक, झाल, हारमोनियम लेकर कीर्त्तन करने बैठ जाते हैं। कभी इस नियम के पालन में त्रुटि नहीं होती। सभी बच्चे इतने उदार और दयालु हैं कि वे कभी किसी भिक्षुक को दरवाजे से निराश होकर जाने नहीं देते। उन सबों ने मछली मांस खाना छोड़ दिया है क्योंकि वे वैसा करना पाप समझते हैं। सारांश यह है कि घर का जैसा धार्मिक वातावरण रहता है वैसा ही असर बच्चों के धार्मिक जीवन पर पड़ता है। इसलिए माता-पिता को धार्मिकता के आवरण में संकीर्णता (Narrowness) का पाठ पढ़ाना कदापि श्रेयस्कर नहीं, जैसा कि कुछ माता-पिता अपनी अज्ञानतावश करते हैं। सत्य, मानवता, सेवा आदि को सिखलाना ही सच्चे धर्म का काम है।

(२) पाठशाला :—पाठशालीय वातावरण का भी प्रभाव बच्चों के धार्मिक जीवन पर कम नहीं पड़ता। इस जीवन में वे भिन्न-भिन्न धर्मावलम्बी साथियों से मिलते हैं और धर्म के सम्बन्ध में तरह तरह की बातें सुनते हैं जिनका असर उनके मन पर पड़ता है। शिक्षक भी यदाकदा धार्मिक उपदेश दिया करते है। यदि उनका धर्म 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर रहा तब तो बच्चे निस्सन्देह सच्चे धार्मिक बनते हैं। किन्तु उपदेशों में संकीर्णता रहने पर बच्चे धार्मिक न बन कर अधार्मिक बन जाते है। उनमें घृणा, द्वेप, तिरस्कार आदि के भाव उत्पन्न हो जाते है। कई देशों में तो पाठशालाओं में प्रत्यक्षतया धार्मिक शिक्षा बच्चो को दी जाती है, किन्तु प्रयोग करने पर ज्ञात हुआ है कि बच्चों के लिये जितनी अप्रत्यक्ष शिक्षा लाभप्रद होती है उतनी प्रत्यक्ष शिक्षा नहीं। इसलिये शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि वे अपने बच्चों को सच्चा धार्मिक बनाने के लिये उपदेश मात्र ही न दें, बल्कि

अपने आचरण से उनकी धार्मिकता को विकसित करें। किन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह शिक्षा मानव-धर्म की हो जिससे बच्चों में धर्म के प्रति संकीर्णता न आने पावे।

(३) धार्मिक संस्थाएँ:—सभी धर्मों की अपनी संस्थाएँ होती हैं जिनका मात्र ध्येय धर्म-प्रचार करना होता है। भारत में बौद्ध विहारों और मठों की संस्थापना इसी ध्येय से हुई थी। मस्जिद और गिरिजाघर इसी ध्येय से यत्र-तत्र बनाए गए हैं। इन संस्थाओं का एकमात्र काम धार्मिक शिक्षा देना है। गिरजाघरों में प्रत्येक रविवार को इसाई बच्चों को अपने धर्म की शिक्षा दी जाती है। यों तो बच्चों का धार्मिक जीवन कुछ अंशों में इन संस्थाओं से अवश्य ही प्रभावित होता है किन्तु इनसे उनका विशेष उपकार नहीं होता, क्योंकि उपदेश मात्र ही सभी अवस्था के बच्चों के लिये पर्याप्त नहीं होता। उनका मानसिक विकास इतना नहीं रहता कि वे धर्म के गूढ़ रहस्यों को समझ सकें। इसलिये यदि वे उपदेश क्रिया रूप में दिए जायें तो बच्चों के जीवन पर इसका अधिक असर पड़े। हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष में ऐसी कोई संस्थाएँ हैं जो बच्चों में धार्मिक-भाव क्रिया के रूप में भरती हैं।

इसी प्रकार और भी कितने अंग बच्चों के धार्मिक विकास में सहायक होते हैं यथा, खेल, चलचित्र, कला, आदि किन्तु उनका उल्लेख हम यहाँ नहीं करेंगे। पाठक स्वयं विचार सकते हैं कि खेलों के द्वारा बच्चों में नियम-पालन का भाव, त्याग, चरित्रबल आदि क्योंकर विकसित होते हैं। उसी तरह उनके जीवन पर सिनेमा, अभिनय आदि का क्या प्रभाव पड़ता है अथवा कला में सौन्दर्योपासना आदर्श-प्राप्ति में कैसे सहायक होती है, इसका अनुमान आसानी से लगाया जा सकता है।

४. धार्मिक प्रशिक्षण (Religious Training)

बच्चों को किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा कैसे दी जाए, यह एक विचारणीय प्रश्न है। किन्तु इस सम्बन्ध में बहुत मतभेद है क्योंकि विभिन्न विद्वानों ने अपना विचार विभिन्न रूप से प्रकट किया है।

हम स्थलविशेष पर यह व्यक्त कर चुके हैं कि वस्तुतः मनुष्य का एकमात्र धर्म है मानव-धर्म। अतः धार्मिक शिक्षा को लाभप्रद बनाने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपने आचरण और व्यवहार से बच्चों के जीवन को प्रभावित करें। ऐसा करने से बच्चे जीवन के आनन्द का अनुभव कर सकेंगे। उन्हें ऐसा अभ्यास हो जायगा कि वे स्वतः सामाजिक जीवन व्यतीत करना पसन्द करेंगे और आदर्शों का पालन करना कितना आवश्यक है इसे जान

सकेंगे। वस्तुतः सामाजिकता के समुचित विकास से उनमें वास्तविक धार्मिकता विकसित होती है। बच्चों की विभिन्न अवस्थाओं में विभिन्न प्रकार की उत्सुकताएँ और शंकाएँ आविर्भूत होती हैं। माता-पिता तथा शिक्षक को उन शंकाओं का समुचित रूप से समाधान करना चाहिए। उन्हें अपने आदर्श से बच्चों को धर्म के स्वरूप और महत्त्व को व्यक्त करना आवश्यक है। सामाजिकता, सच्चरित्रता, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का सम्बन्ध जीवन में क्या है, इसे अपने आचरण से ही प्रकट करना चाहिए। जैसा कि हम जानते हैं, बच्चे अत्यधिक अनुकरणशील होते हैं, अतः हमें अपना आचरण ऐसा धार्मिक रखना चाहिये जिसका अनुकरण उन्हें हितकर सिद्ध हो सके। उन्हें प्राकृतिक दृश्यों को दिखलाना और उनके विभिन्न पहलुओं को समझाना नितान्त जरूरी है क्योंकि इसके द्वारा बच्चों का विश्वास सर्वशक्तिमान के प्रति बढ़ता है। उन्हें धार्मिक कहानियाँ, चित्र, अभिनय आदि दिखाना भी जरूरी है क्योंकि इनसे उनके मन में धार्मिक भावों का विकास होता है। पूजा-पाठ, भजन आदि के लिए प्रोत्साहन देना भी अनुचित नहीं होता क्योंकि इससे बच्चों मे संयम और नियम की आदत पडती है। बच्चों को इतना उदार बनाना आवश्यक है जितनी कि उनमें योग्यता हो। योग्यतानुसार ही धार्मिक शिक्षा का प्रबन्ध होना हितकर है क्योंकि योग्यता के बाहर के उपदेशों का प्रभाव बच्चों पर नहीं पड़ता। सामाजिक सेवा (Social service) का भाव भरना धार्मिक शिक्षा का मूल है क्योंकि इसके द्वारा बच्चे आत्मत्याग, आदर्श का पालन करना आदि सीखते हैं जो किसी धर्म के लिए भी आवश्यक है। माता-पिता को यह ध्यान मे रखना चाहिए कि बच्चों को संकीर्णता और साम्प्रदायिकता से दूर रखना हितकर होता है। उन्हें ऐसी शिक्षा देनी चाहिए जिससे बच्चों में मानव-धर्म की स्थापना हो सके। धर्म का सम्बन्ध चरित्र से बहुत घनिष्ठ है। इसलिए चारित्रिक शिक्षा, धार्मिक शिक्षा का एक प्रमुख अंग है। अप्रत्यक्ष रूप से धार्मिक शिक्षा बच्चों के लिए विशेषरूपेण लाभप्रद सिद्ध होती है। अतः मनोवैज्ञानिक ढंग की शिक्षा बच्चों के लिए विशेष हितकर है। धार्मिक पुरुषों की जयन्तियाँ तथा धार्मिक उत्सवों को मनाना, उपदेश देना आदि भी धर्मविकास के लिए आवश्यक हैं।

५. बाल-जीवन में धर्म का महत्त्व

बच्चों के जीवन में धर्म का जो स्थान है उसके विषय में बहुत कुछ कहा जा चुका है। संक्षेप में, धार्मिक भावना से बच्चो को अपने जीवन का महत्त्व और सार्थकता मालूम होती है। वे अपने को सुरक्षित समझते

हैं, ईश्वर में विश्वास करते हैं और इसलिए अन्धविश्वासों के शिकार नहीं बनते। जीवन में उन्हें आनन्द मिलता है। विकट परिस्थितियों में वे कभी निराश नहीं होते। उन्हें इतना आत्मविश्वास रहता है कि उस परिस्थिति को हँसते-हँसते वे पार कर जाते हैं। बच्चे आदर्शवादी तथा चरित्रवान बनने की अभिलाषा रखते हैं।

धार्मिक बच्चे जीवन में संयम और नियम के महत्त्व को समझते हैं। उनका सामाजिक सम्बन्ध इतना अच्छा रहता है कि वे उपकारी, त्यागी, सत्यवादी आदि बनते हैं। उनमें वफादारी आती है, इसलिये वे समाज की बुराई नहीं करते। उनमें सामाजिक उत्सवों, पर्वों आदि के प्रति प्रेम होता है जो उनके जीवन के लिए आवश्यक है। सारांश यह कि धर्म के द्वारा बच्चों में मानवोचित गुणों का आविर्भाव और विकास होता है।

तेरहवाँ अध्याय

व्यक्तित्व और उसका विकास

१. व्याख्या

बाल-मनोविज्ञान के अन्तर्गत व्यक्तित्व पद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। समुचित रूप से बच्चों का लालन-पालन करने के लिए उनके व्यक्तित्व के स्वरूप को जानना आवश्यक है। जन्मकाल से ही दो बच्चों के व्यक्तित्व में भिन्नताएँ दिखलाई पड़ती हैं। वस्तुतः व्यक्तित्व पद इतना व्यापक है कि इसका प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक (Behaviourist Psychologists) इससे व्यक्ति के शारीरिक संगठन, सजावट, हाव-भाव आदि विशेषताओं का बोध करते हैं। इस दृष्टिकोण के अनुसार जो मनुष्य देखने में सुन्दर, सुगठित शरीरवाला तथा वस्त्र-विभूषित है उसी का व्यक्तित्व सुन्दर माना जाता है। किन्तु, व्यक्तित्व से शारीरिक-रचना (Physique) और अन्य बाह्य वेशभूषा मात्र का बोध करना पूर्णतः दोष-पूर्ण है। हमें अपने दैनिक जीवन में बहुत से ऐसे बच्चे और प्रौढ़ व्यक्ति मिलते हैं जिनका शरीर पूर्णतः सुगठित नहीं रहता और न वे अधिक सजे ही रहते है तथापि वे सुन्दर व्यक्तित्व का परिचय देते हैं। वस्तुतः यदि शारीरिक रचना और सजावट पर ही व्यक्तित्व निर्भर करता तो उन व्यक्तियों की छाप हम पर नहीं पड़ती जो देखने में बहुत ही कुरूप लगते हैं और साधारण वेश-भूषा में रहते हैं। विश्व-विख्यात दार्शनिक सुकरात अत्यन्त कुरूप और नाटे कद का मनुष्य था किन्तु उसका व्यक्तित्व इतना महान था कि बच्चे से बूढ़े तक सभी उसकी विद्वता का लोहा मानते थे। विश्ववन्द्य महात्मा गांधी स्वच्छ खद्दर का एक छोटा टुकड़ा अपने शरीर पर धारण करते थे किन्तु उनका व्यक्तित्व इतना उच्चकोटि का था कि सम्राट से लेकर भिखारी तक और मूर्ख से लेकर विद्वान तक सभी उनके व्यक्तित्व के कायल थे। छोटे बच्चों में भी हमें ऐसे उदाहरणो की कमी नहीं मिलती जहाँ साधारण शरीर और परिधान से युक्त बच्चा अपने उन साथियों की अपेक्षा, जिनकी शारीरिक रचना उससे सुन्दर और वस्त्र मूल्यवान होते हैं, अपने व्यक्तित्व का अच्छा परिचय देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यक्तित्व की उपर्युक्त व्याख्या सदोष होने के कारण पूर्णतः मान्य नहीं है। किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यक्तित्व के लिए शारीरिक रचना, रूप-रंग, सजावट आदि अंग अनावश्यक और नगण्य

हैं। यद्यपि किसी का व्यक्तित्व इन्हीं पर पूर्णतः निर्धारित नहीं रहता तथापि इनका हाथ व्यक्तित्व निर्माण में रहता है। अतएव ये भी इसके एक अंग या पहलू के अन्तर्गत आते हैं, जैसा कि आगे चलकर मालूम होगा।

कुछ मनोवैज्ञानिक इसका प्रयोग व्यक्ति के आन्तरिक गुणों या विशेषताओं के अर्थ में करते हैं। इसलिए वे इससे बुद्धि, योग्यता, ज्ञान आदि का बोध करते हैं किन्तु उनका यह दृष्टिकोण भी दोषरहित नहीं है। यह दृष्टिकोण भी व्यक्तित्व के एक ही अंग पर जोर देता है। हमें ऐसे प्रमाणों की कमी नहीं जहाँ हम बुद्धिमान, योग्य अथवा ज्ञानी व्यक्तियो को पाते हैं तथापि उनके व्यक्तित्व मे पूर्णता नहीं रहती।

जो लोग इसका बोध चरित्र के अर्थ में करते हैं वे भी उपर्युक्त दोषों के भागी हैं। इससे भी किसी के व्यक्तित्व के अंग-विशेष का बोध होता है, पूरे व्यक्तित्व का नही। वर्तमान में कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इसका प्रयोग किसी की सामाजिकता के अर्थ मे किया है। 'मे' (May) के अनुसार व्यक्तित्व वही है जिसकी उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का असर समाज पर पड़ता है। इसी प्रकार एक अन्य मनोवैज्ञानिक के अनुसार व्यक्तित्व वह प्रक्रिया है जो अन्य लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। परन्तु यदि इन परिभाषाओं की हम विवेचना करें तो मालूम होगा कि ये परिभाषाएँ भी त्रुटिपूर्ण हैं। यद्यपि इन सभी परिभाषाओं में किसी-न-किसी रूप में सामाजिकता पर जोर दिया गया है तथापि ये कई अन्य कारणो से दोषपूर्ण हो गई हैं। निस्सन्देह व्यक्तित्व का सामाजिकता एक अंग है किन्तु इसका यह मतलब कदापि नहीं होता कि सामाजिकता ही व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व, समाज में रहने वाले में भी पाया जाता है और जो समाज से अलग रहता है उसमें भी, सम्भव है सामाजिक व्यक्ति का व्यक्तित्व पूर्णतः विकसित हो और समाज से अलग रहने वाले व्यक्तियों का व्यक्तित्व पूर्णरूपेण विकसित न हो। परन्तु इसकी भी सत्यता को हम अकाट्य नहीं मान सकते क्योंकि भारतीय ऋषि महर्षियों का जीवन वृत्तान्त इस बात का साक्षी है कि वे जीवन पर्यन्त समाज से अलग होकर वनवासी बने रहे तथापि उनका व्यक्तित्व महान था। एलपार्ट के अनुसार "व्यक्तित्व व्यक्ति के मनोदैहिक तन्त्र (Psychophysical system) का वह गत्यात्मक संगठन (Dynamic organization) है जो उसके वातावरण के अपूर्व अभियोजन (Unique adjustment) को निर्धारित करता है।" इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि दो व्यक्तियों के अभियोजन में अन्तर उनके व्यक्तित्व के कारण पड़ता है। अतएव इसके अनुसार व्यक्तित्व

वह प्रक्रिया है जो एक व्यक्ति को दूसरे से अलग करती है। यद्यपि इस परिभाषा में भी त्रुटियाँ मनोवैज्ञानिकों ने व्यक्त की हैं किन्तु यदि हम गम्भीरतया विचार करें तो हमें इसकी कई विशेषताएँ ज्ञात होंगी। सबसे बड़ा गुण इसका यह है कि यह परिभाषा व्यक्ति के वाह्य या आन्तरिक किसी एक पक्ष पर जोर न देकर इन दोनों के संगठन पर जोर देती है। दूसरी विशेषता इसकी यह है कि इसमें सामाजिकता की भी उपेक्षा नहीं की गई है क्योंकि वातावरण के अपूर्व अभियोजन को निर्धारित करना ही व्यक्तित्व की विशेषता व्यक्त की गई है। तीसरी विशेषता इस परिभाषा की यह है कि यह व्यक्तित्व के गत्यात्मक स्वरूप को व्यक्त करता है। उसी का व्यक्तित्व महान है जो विभिन्न प्रकार के वातावरण मे अपने को सफलता पूर्वक अभियोजित कर लेता है। परिवर्तित वातावरण में अभियोजन-शीलता का यह गुण व्यक्तित्व के गत्यात्मक स्वरूप का द्योतक है। परन्तु इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि गत्यात्मकता के साथ-साथ नित्यता भी मौजूद रहती है, क्योंकि व्यक्तित्व के सार-वस्तु का कभी परिवर्त्तन नहीं होता।

एलपार्ट की परिभाषा से यह अभिव्यक्त होता है कि व्यक्तित्व एक ऐसा पद है जिसमें मनुष्य के सभी वाह्य एवं आन्तरिक, जन्मजात तथा अर्जित शीलगुणों का समन्वय अथवा संगठन रहता है। किन्तु संगठन से अभिप्राय योग या समुच्चय से नहीं अपितु सम्बद्धता (Integration) से है जिसमें से किसी प्रकार के शीलगुण में न्यूनाधिक नहीं किया जा सकता। अर्थात् इसमें व्यक्ति की प्रेरणाओं, संवेगो, व्यवहारो, विचारों तथा अन्य प्रकार के शील-गुणो का इस प्रकार समन्वय रहता है कि उनमे पारस्परिक सम्बद्धता, एकरूपता, सहनियमन विद्यमान रहते है। दूसरे शब्दो में, व्यक्ति के शीलगुणो का संतुलित एकत्व ही व्यक्तित्व है। इसी एकत्व को प्रस्थापित करना माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों का परम कर्त्तव्य है।

२. व्यक्तित्व विकास

व्यक्तित्व विकास का अभिप्राय स्वाभाविक अथवा मौलिक विशेषताओं का यान्त्रिक प्रस्फुटन (Mechanical unfolding) नहीं, अपितु उस निरन्तर शिक्षण प्रक्रिया से है जिसके माध्यम से जीव प्रतिक्रिया की विभिन्न विचित्र प्रणालियों को अर्जित करता है। यों तो अभी तक इस दिशा में पर्याप्त अनुसन्धान नही हो सके है, लेकिन इतना निर्विवाद है कि व्यक्तित्व-विकास एक निरन्तर प्रक्रिया है जिस पर विभिन्न विकट परिस्थितियो की अभियोजन शैली का प्रभाव अकाट्य रूप से पड़ता है।

व्यक्तित्व विकास पर शैशवावस्था (Infancy) का जो असर पड़ता है उसे सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। जीवन के प्रारम्भ में बच्चों में दो मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ प्रमुख होती हैं—स्नेह (Affection) तथा रक्षा (Security)। इन दोनों आवश्यकताओं की पूर्ति माता के प्यार तथा सुश्रूषा (Nursing) से होती है। लेकिन बच्चों को किसी-न-किसी समय माता का दूध छोड़ना पड़ता है और उन्हें सुश्रूषा की आवश्यकतापूर्त्ति से व्याघात पहुँचता है। प्रायः सभी बच्चों को इस निराशाजनक विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है। अतएव इसका असर बच्चों के व्यक्तित्व-विकास पर निश्चित रूप से पड़ता है। लेकिन, बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण पर दूध छोड़ने का उतना गहरा असर नही पड़ता जितना कि दूध पिलाने की माता की अनिच्छा का। इसी तरह पिता-पुत्र के सम्बन्ध (Parent-child relation) का स्वरूप भी व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इस अवस्था मे जो बच्चे असुरक्षित भाव तथा बेचैनी से पीड़ित रहते है वे संघर्षात्मक परिस्थिति में आक्रामक, वैरवृत्ति आदि प्रतिक्रियाओं द्वारा अपने को अभियोजित करते है। वे अवसादी (Depressive) और प्रायः अपने को परिस्थिति से अलग रखनेवाले स्वभाव के होते हैं। यो तो दूध छोड़ने के समय सभी बच्चो को एक विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, लेकिन इसके अतिरिक्त भी इस उम्र में और कई ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं यथा, शौच प्रशिक्षण (Toilet Training), दूसरे बच्चे का उत्पन्न होना आदि।

पाँच-छः वर्ष की उम्र में बच्चो को पाठशाला में प्रवेश करने पर पुनः एक दूसरी विकट परिस्थिति का सामना करना तड़ता है। वहाँ उन्हे नए वातावरण और नए समाज में अभियोजित करना पड़ता है। घर की सभी सुविधाओं को छोड़कर उन्हें स्पष्टता और समानता के अर्थ को सीखना पड़ता है। इस विकट परिस्थिति में अभियोजित करना उनके पूर्व-संचित सुरक्षित भाव (Feeling of Security) तथा स्वतन्त्र बनने की तत्परता पर निर्भर करता है। जो माता पहले उन्हें सुरक्षित रखती थी अब उसका महत्त्व इस जीवन में नही के बराबर रह जाता है। आगे चलकर उस समुदाय का जीवन व्यतीत करना पडता है जहाँ उसका एक आदर्श होता है। उस समुदाय में अभियोजित करने के लिए बालकों को अपने अभिभावको के नियन्त्रण का तिरस्कार करना पड़ता है, क्योंकि ऐसा किए बिना उन्हें अपने समुदाय मे मान्यता (Approval) नही मिलती। जो लड़का ऐसा करने में

असमर्थ होता है उसे उसके समाज के सभी सदस्य विभिन्न नामों से चिढ़ाते हैं। यह अवस्था वस्तुतः विकट होती है। पूर्व के जीवन में अपने अभिभावक पर अत्यधिक निर्भर रहने वाले बच्चे को इस परिस्थिति में अभियोजन करने में कठिनाई होती है। इसके अतिरिक्त, जो बच्चे इस समय से पूर्व समस्याओं को रचनात्मक ढंग से हल नहीं किए रहते वे भी कठिनाई का अनुभव करते हैं। इसी अवस्था में सम्यक अभियोजन रहने पर बालकों में नेतृत्व, मैत्री, सहानुभूति आदि वांछनीय शील-गुणों का आविर्भाव और निर्माण होता है। इस समय पूर्ति-प्रतिक्रिया (Compensatory Response) प्रारंभिक कठिनाई और असमर्थताओं को भी दूर कर देती है। जिन बच्चों में प्रारंभ से सुरक्षित भाव नहीं रहता वे अपने सामूहिक जीवन में उसका आनन्द उठाते हैं। इस प्रकार प्रत्येक विकासात्मक काल बालकों को संशोधन के लिए शोभन सुयोग उपस्थित करने के साथ-साथ कुछ ऐसी विकट समस्याओं को भी उपस्थित करता है जिन्हें हल करना आवश्यक होता है।

इस काल के सामाजिक सम्बन्ध का संघर्ष (Conflict) या निराशा (Frustration) बच्चों में हीनता और असमर्थता के भावों को जन्म देता है। समुदाय के अन्य सदस्यों द्वारा उसकी विभिन्न कमियों को व्यक्त करने पर भी उसमें ऐसे भावों का आविर्भाव होता है। किसी शारीरिक अभाव का भी यही परिणाम होता है। ऐसे भावों से पीड़ित बच्चों में अभियोजनार्थ लज्जा, चिंता अति आक्रामकता और आकुलता के शील-गुण अंकुरित होते हैं। कहने का अभिप्राय यह कि इस काल में अभियोजनार्थ ही बच्चों में व्यक्तित्व के विभिन्न वांछित-अवांछित शीलगुणों का विकास होता है।

किशोरावस्था में उन्हें कई विकट परिस्थियों के प्रति अभियोजन करना पड़ता है। इस समय लैंगिक समस्या (Sexual Problem) प्रधान रहती है। इसके अतिरिक्त, जीवन निर्वाह, जीवन दर्शन आदि की सामाजिक समस्याओ को भी उन्हें हल करना पड़ता है। माता-पिता इस समय भी अपने बच्चों को नादान समझते है, इसलिए वे इन समस्याओं को हल करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता नहीं देना चाहते। इसके फलस्वरूप बच्चों को या तो अपने माता-पिता से बगावत करना पड़ता है या समस्या के हल करने का प्रश्न उन्हीं पर छोड़ना पड़ता है। इस कारण इस अवस्था में व्यक्तित्व विकास अवरुद्ध-सा हो जाता है।

प्रायः माता-पिता अपने बच्चे को लैंगिक शिक्षा देना अधर्म समझते हैं। इसलिए इस अवस्था में लैंगिक अभिरुचि प्रबल होने पर वे अपने साथियों

या अन्य साधनों से उसकी जानकारी प्राप्त करते हैं जिससे उनका अभियोजन इसके प्रति समुचित नहीं होता। परिणामतः उनमें अनावश्यक चिंता-भाव (Feeling of Anxiety) तथा अन्य व्यक्तित्व-विकृतियों का आविर्भाव होता है।

इसी अवस्था में उनके सामने जीविकोपार्जन का प्रश्न उपस्थित होता है और जब उनके मनोनुकूल उन्हें व्यवसाय नहीं मिलता तब पुनः एक बार उनमें हीन-भाव और असमर्थता भाव प्रबल हो जाते हैं। ऐसी निराशाओं के कारण अनुत्तरदायित्व और आक्रामक व्यक्तित्वों का निर्माण होता है। इस काल में व्यक्तित्व निर्माण मे कई प्रकार के परिवर्तनों का होना संभव है। जो बच्चे प्रारंभ में कमजोर शरीर होने के कारण उस अवस्था में सामाजिक मान्यता नहीं प्राप्त करते वे इस अवस्था में बौद्धिक या कलात्मक (Artistic) समर्थताओं के कारण अत्यधिक मान्यता प्राप्त करते है। इस प्रकार पूर्वकाल के अनुभव पर ही पश्चात व्यक्तित्वनिर्माण निर्भर करता है, लेकिन कभी-कभी आकस्मिक परिवर्तन भी व्यक्तित्व-विकास में देखने को मिलता है। इसके बाद प्रौढ़ावस्था में भी व्यक्तित्व विकास होता है जो हमारा आलोच्य-विषय नहीं है। अतएव, अब हम बच्चों के व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करनेवाले अंगों की चर्चा करेंगे।

३. व्यक्तित्व के अंग

यों तो कई अंग हैं जिनका असर व्यक्तित्व-विकास पर पूर्ण रूपेण पड़ता है किन्तु उन सब को हम दो श्रेणियों में विभाजित कर सकते है। पहले को हम जैव अंग (Biological Factor) जिसे कुछ मनोवैज्ञानिक वांशिक-अंग (Hereditary factor) भी कहते हैं, कह सकते हैं। इसके अन्तर्गत नाड़ी तन्त्र, शरीर-रचना तथा स्वास्थ्य और शरीर रसायन (Body Chemistry) एवं अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ हैं। व्यक्तित्व-विकास को प्रभावित करनेवाला दूसरा अंग सामाजिक वातावरण है जिसके अन्तर्गत माता-पिता, परिवार, पाठशाला, समुदाय, संस्कृति आदि आते हैं। अब यहाँ हम देखेंगे कि इन अंगों का असर व्यक्तित्व पर क्योंकर और कितना पड़ता है।

(१) जैव अंग (Biological factor)

(अ) शरीर रसायन और अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ (Body chemistry & Endocrine glands):—ध्यानपूर्वक विभिन्न बच्चो को देखने पर उनके स्वभाव और व्यवहार में भिन्नता स्पष्ट हो जाती है। यह

भिन्नता हमारे धातु स्वभाव (Temperament) तथा शारीरिक अवस्था पर निर्भर करती है और ये दोनों स्वयं हमारे शरीर-रसायन (Body chemistry) पर निर्भर करते है। शरीर-रसायन का संचार रक्त-संचार के साथ हमारे सम्पूर्ण शरीर में होता है और इन्हीं रसायनों के अनुरूप हमारी शारीरिक अवस्था भी परिवर्तित होती रहती है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि शरीर-रसायन को अन्तःस्रावी ग्रन्थियों का श्रेय प्राप्त है, इसलिये उन्हीं के अनुरूप इनमें परिवर्तन भी होता है। अतएव वाह्य-विश्व के प्रति हमलोगों की प्रतिक्रियाओं के अवरोधन और सुविधा का श्रेय अन्तःस्रावी ग्रन्थियों को ही है। यों तो ये ग्रन्थियाँ प्रत्यक्षतया रसपाक (Metabolic) और शारीरिक विकास को भी प्रभावित करती हैं किन्तु इनका हाथ हमारे व्यवहार निर्धारण में भी कम नहीं रहता। इसलिये इनका जो असर हमारे व्यवहार पर पड़ता है उसका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक न होगा।

गर्दनस्थ चुल्लिका-ग्रन्थि (Thyroid gland) से एक प्रकार का ऐसा आभ्यन्तर रस (Harmones) प्रसावित होता रहता है जिसका प्रभाव बच्चों के जीवन पर अत्यधिक पड़ता है। यदि यह ग्रन्थि कम मात्रा में क्रियाशील रहती है तो बच्चों का शारीरिक और मानसिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके फलस्वरूप उनकी मानसिक दुर्बलता के कारण स्मृति तथा चिन्तनशक्ति बहुत मन्द पड़ जाती है। वह बहुत शिथिल और शान्त रहने लगता है। इसके अधिक क्रियाशील होने पर बच्चा बेचैनी और चिन्ता का अनुभव करता है और कभी सुख की नींद नहीं सोता। परिणामतः वह आकुल स्वभाव का हो जाता है।

बच्चों के व्यवहार पर उपकंठ ग्रन्थि (Parathyroid gland) का प्रभाव भी कम नहीं पड़ता। इसका मुख्य कार्य चुल्लिका ग्रन्थि के कार्य में संतुलन लाना है। किन्तु, यदि यह अत्यधिक क्रियाशील रहती है तो बच्चे शान्त और शिथिल बन जाते हैं और इसकी क्रिया में मन्दता आने पर वे उत्तेजनशील हो जाते हैं। शरीर के चूने की मात्रा इसी के आभ्यन्तर रस पर निर्भर करती है। इसलिए जब इससे अधिक आभ्यन्तर रस प्रसावित होता है तो चूने की मात्रा में अधिकता आ जाने से बच्चा अधिक उत्तेजनशील हो जाता है, क्योंकि ऐसा होने से स्नायुयों और मांसपेशियों की उत्तेजनशीलता में विवृद्धि हो जाती है। इस प्रकार व्यवहार की शिथिलता और उत्तेजनशीलता का श्रेय इसी ग्रन्थि को है।

पियूष ग्रंथि (Pituitary gland) बच्चों के शारीरिक विकास को प्रभावित करती है। किसी कारणवश इसकी क्रिया में कमी आ जाने से बच्चों का शारीरिक विकास पूर्णरूपेण नहीं होता और न तो लैंगिकता का ही विकास होता है। इसका प्रभाव ऐसा पड़ता है कि उसमें आक्रामकता (Agressiveness) का अभाव हो जाता है और जिस काम मे थोड़ी-सी भी कठिनाई दिखलाई पड़ती है उसे वह छोड़ देता है। साधारण घटना भी उसे रोकने के लिए पर्याप्त होती है। इतना ही नहीं, वह कायर स्वभाव का बन जाता है। इस ग्रंथि की अधिक क्रियाशीलता के कारण बच्चे बहुत ही दीर्घकाय हो जाते है और उनके शरीर का चमड़ा भी स्थूल होता है। बालपन में ही लैंगिकता पूर्णतः विकसित हो जाती है और बच्चे आक्रामक और झगड़ालू बन जाते है।

मूत्रस्थ ग्रंथि (Adrenal gland) जिसके बाह्य एवं आन्तरिक दो भाग होते हैं, बालकों के व्यवहार को कम नहीं प्रभावित करती। यदि इसका बाह्य भाग औसत से कम क्रियाशील रहा तो बच्चे सामान्यतः कमजोर होते हैं और उनकी अभिरुचि लैंगिकता (Sexuality) की ओर बिलकुल नहीं रहती। वे अधिकतर उदास रहनेवाले, चिड़चिड़े और अभियोजन विकृतियो से युक्त रहते है। उनमे सहकारिता का पूर्णतः अभाव रहता है। इस भाग के अधिक क्रियाशील रहने पर बच्चे अपने को सावधान और संतुलित बनाए रखते हैं। आन्तरिक भाग की क्रियाशीलता में कमी आने से बच्चा संवेगात्मक परिस्थितियों में अपने को अभियोजित न करने के कारण जीवन मे असफल रहता है। किन्तु, जिन बच्चों मे यह भाग अत्यधिक क्रियाशील रहता है वे सुखवादी (Optimist) सक्रिय तथा चंचल होते हैं और अवसर आने पर बहुत ही शीघ्र उत्तेजित हो जाते हैं।

काम ग्रंथियों (Gonads or Sex glands) से तीन प्रकार के आभ्यन्तर रस (Harmones) निकलते रहते हैं जो बच्चों में पुरुषत्व और स्त्रैण (Feminine) हाव-भावों को निर्धारित करते हैं। कामवासना मे रुचि अथवा अरुचि, समजातीय लैंगिकता (Homosexuality) और विषमजातीय लैंगिकता (Heterosexuality) इन्हीं ग्रन्थियो पर निर्भर करती है।

इसी तरह और भी जितनी अन्तःस्रावी ग्रन्थियाँ है वे सभी बच्चो के व्यवहार को प्रभावित करती है। किन्तु इन ग्रन्थियो का प्रभाव व्यवहार पर प्रत्यक्षतया न पड़कर अप्रत्यक्षतया पड़ता है। ये ग्रन्थियाँ प्रत्यक्षतया तो रस-पाक-प्रक्रिया (Metabolic process) पर अपना असर डालती है या यों

कहिए कि ये शारीरिक अवस्था को प्रभावित करती हैं और ये अवस्थाएँ अपना असर बच्चों के व्यवहार पर डालती हैं। दूसरी चीज इस सम्बन्ध में स्मरणीय यह है कि ये ग्रन्थियाँ अलग-अलग काम नहीं करतीं वल्कि एक का असर दूसरे पर पड़ता है। इसलिए यदि एक क्रियाशील होती है तो दूसरी क्रियाशील या शिथिल होती है जो उसके आनुपातिक सम्बन्ध पर निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त, यदि हम यह सोचें कि अन्तः-स्रावी ग्रन्थियाँ ही व्यवहार को प्रभावित करती हैं वे स्वयं व्यवहार से प्रभावित नहीं होतीं तो ऐसा सोचना भी दोषपूर्ण होगा क्योंकि व्यवहार का असर भी उनकी क्रियाओं पर पड़ता है, जैसा कि शरीर-विज्ञान (Physiology) का ज्ञान व्यक्त करता है। यह होते हुए भी हमें मानना पड़ेगा कि इनका हाथ व्यक्तित्व विकास में अत्यधिक रहता है।

(व) शरीर-रचना तथा स्वास्थ्य (Physique & health):—शरीर-रचना के अन्तर्गत वे सभी शारीरिक विशेषताएँ, जिनका असर शरीर रचना पर पड़ता है, आती हैं। शरीर की लम्बाई, गठन, रंग, केश, रचना आदि सभी शरीर रचना के ही अंग हैं। यों तो ये शारीरिक विशेषताएँ इतनी स्पष्ट और प्रत्यक्ष रहती हैं कि बहुत से व्यक्ति भ्रमवश इन्हीं को व्यक्तित्व समझ लेते हैं परन्तु वस्तुतः उनका ऐसा सोचना और समझना समुचित नहीं है। हाँ, इतना अवश्य है कि ये स्वयं व्यक्तित्व न होते हुए भी किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व के परिचायक होते हैं। जो बच्चा हृष्ट-पुष्ट और देखने में सुन्दर होता है उसे सभी लोग चाहते हैं तथा उसकी शारीरिक विशेषताओं की प्रशंसा भी करते हैं। इस प्रशंसा का असर उसके मानसिक जीवन पर ऐसा पड़ता है कि वह अपने को औरों की अपेक्षा श्रेष्ट समझने लगता है। यद्यपि ऐसे बच्चे में आत्मविश्वास और स्वावलंबन की मात्रा अधिक रहती है किन्तु श्रेष्ठ-भाव (Superiority feeling) उसे कई प्रकार के असामाजिक व्यापारों को करने के लिए विवश करता है।

जिन बच्चों की शारीरिक लम्बाई औसत से कम रहती है या जिनमें अन्य प्रकार के शारीरिक दोष पाए जाते हैं उनकी हँसी दूसरे साथी और सयाने उड़ाते हैं जिसके चलते उनमें हीन-भाव (Feeling of inferiority) का आविर्भाव होता है। ऐसा बच्चा अपने को इतना हीन समझता है कि वह समाज में मिलना नहीं चाहता और एकान्तवासी बन जाता है। ऐसे बच्चे में आत्मविश्वास का अभाव रहता है इसलिए वह किसी कार्य को आरंभ

करने में हिचकता है। बहुतों में अपने दोष को छिपाने के लिए अतिपूर्ति व्यापार देखने में आता है। ये व्यापार प्रायः असामाजिक स्वरूप के होते हैं, इसलिए माता-पिता और शिक्षक का कर्त्तव्य है कि बच्चे के शारीरिक गुण-दोषों की आलोचना उनके सामने न करें और उनके व्यक्तित्व को समुचितरूप से विकसित होने में सहायक हों।

जिस प्रकार शरीर रचना का प्रभाव व्यक्तित्व पर पड़ता है उसी प्रकार स्वास्थ्य का भी। प्रारम्भ में बच्चों में प्रायः खेल-कूद की वृत्ति अधिक रहती है। जो बच्चे स्वस्थ रहते है वे अपने अन्य साथियों के साथ आसानी से घुल-मिलकर खेलते हैं और इस प्रकार उनका सामाजिक विकास सुचारु रूप से होता है। परन्तु जो बच्चे रुग्ण रहते हैं उनको अस्वस्थता के कारण सामूहिक रूप से खेलने का अवसर नहीं मिलता। उसके परिणाम स्वरूप वे असामाजिक बन जाते हैं और उनका व्यक्तित्व विकास पूर्ण रूप से नहीं हो पाता।

(स) नाड़ी तन्त्र (Nervous System):—बालकों की मानसिक योग्यता तथा अन्य प्रकार के क्रियात्मक कौशल नाडी तन्त्र पर निर्भर करते हैं। इसलिए इसका महत्त्वपूर्ण हाथ व्यक्तित्व-विकास मे रहता है। किसी प्रकार की विशेष शिक्षा से बच्चे लाभान्वित उसी समय होते हैं जब उनमें उसके अनुरूप योग्यता रहती है। यदि नाड़ी तन्त्र के कारण बच्चे की शक्ति सीमित है तो वह कदापि उससे आगे नहीं बढ़ सकता। यह तन्त्र बच्चों या सयानों के अनेकों कौशलों (Skills) को निर्धारित करता है। बच्चे उच्चकोटि के कौशलों को सीखने में उसी प्रकार असमर्थ होते हैं जिस प्रकार मानसिकदुर्बल बच्चे उच्च शिक्षा से लाभान्वित होने में असमर्थ होते हैं। ऐसा नाड़ीतन्त्र के अविकसित रहने के कारण होता है। इस तरह व्यक्तित्व विकास नाड़ी-तंत्र पर भी निर्भर करता है।

(२) सामाजिक वातावरण

सामाजिक वातावरण मे सर्वप्रथम स्थान माता-पिता और उसके बाद परिवार का आता है। इनमें भी माता का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है। माता का स्थान बच्चों के व्यक्तित्व-विकास मे कितना महत्त्वपूर्ण है यह वीर शिरोमणि शिवाजी, महाराणा प्रताप, महात्मा गांधी आदि महापुरुषों के जीवन वृत्तान्त से जाना जा सकता है। बच्चे उत्पन्न होते ही अपने आपको संरक्षित करने में समर्थ नही होते। उस समय बच्चे अत्यन्त असहाय रहते है और सभी तरह से अपनी माता पर निर्भर रहते है। माता उसकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने की भरसक कोशिश करती

हैं। जो महिलाएँ बुद्धिमती और व्यवहार कुशल होती हैं वे अपने बच्चों का लालन-पालन अत्यन्त नियमित रूप से करती हैं और उनकी इच्छाओं की पूर्ति बहुत अच्छाई और सावधानी के साथ करती हैं। जिन बच्चों की सभी आवश्यकताएँ समयानुकूल पूरी होती रहती हैं वे अपने जीवन से बहुत ही सन्तुष्ट रहते हैं और वे आगे चलकर आशावादी और कर्मशील बनते हैं। किन्तु जिन बच्चों की इच्छाओं पर कुठाराघात होता है वे जीवन में निराशावादी बन जाते हैं। स्वावलम्बन, वीरता, सत्यता आदि के गुणों का विकास माताओं के चलते होता है। जब बच्चे कुछ बड़े हो जाते हैं तब उनका वातावरण कुछ और विस्तृत हो जाता है और वे अब माता-पिता दोनों के सम्पर्क में रहने लगते हैं। अतएव उनके व्यक्तित्व पर इन दोनों के व्यवहार और पारस्परिक सम्बन्ध का अमिट प्रभाव पड़ता है। यदि माता-पिता बच्चे का लाड़-प्यार अत्यधिक करते है और उसे अनावश्यक सहायता देते हैं तो वह सदा के लिए परमुखापेक्षी बन जाता है और उसमें आत्मविश्वास का भाव प्रस्फुटित नहीं होता। उनके तिरस्कृत करने पर बच्चे में अरक्षित भाव (Feeling of insecurity) तथा हीन-भाव का आविर्भाव होता है। इससे, उसमें कई तरह के दोष आ जाते हैं और उसका व्यक्तित्व-विकास सुन्दर रूप से कभी नहीं होता। यदि उनमें (माता-पिता) से एक बच्चे को प्यार करता है और दूसरा उसका तिरस्कार करता है तब भी उसमें कई प्रकार के दुर्गुणों का आविर्भाव होता है। दोनों की बहुत कड़ी निगरानी रहने और हर तरह से बच्चे पर प्रतिबन्ध लगाने से भी बच्चे में आत्महीनता, अरक्षित भाव आदि के ही अंकुर जमते हैं और व्यक्तित्व-विकास में बाधा पड़ती है। यदि माता-पिता के सम्बन्ध में सामंजस्य रहता है तो बच्चे का व्यक्तित्व समुचित रूप से विकसित होता है, किन्तु उन दोनों में असामंजस्य और संघर्ष रहा तो बच्चे में कई प्रकार के दोष आ जाते हैं। इस प्रकार, माता-पिता का पारस्परिक सम्बन्ध और उनका दुलार बच्चों के व्यक्तित्व को प्रभावित करता है।

माता-पिता की स्नेह-सीमा को पार करने के बाद बच्चा अपने पारिवारिक जीवन क्षेत्र में प्रवेश करता है। संयोगवश परिवार में एक मात्र बच्चा होने से उसका इतना अनावश्यक दुलार होता है कि वह जिद्दी, शरारती, परावलम्बी आदि बन जाता है। परिवार में सदा अकेले रहने के कारण उसे अन्य बच्चों के साथ खेलने का अवसर नहीं मिलता इसलिए उसमें आवश्यक सामाजिक गुणों का विकास नहीं हो पाता। बाद में, वह एकान्त प्रिय, स्वार्थी,

अन्तर्मुखी वन जाता है। परिवार में यदि और कई बच्चे रहते हैं तो वह उनके साथ खेलता-कूदता है और इसी सिलसिले में उसमें नेतृत्व, सहकारिता आदि गुणों का आविर्भाव होता है, जो आगे चलकर प्रस्फुटित होते है। जैसा कि हम लोग जानते हैं बच्चों का मन अत्यन्त कोमल होता है और वे जैसा अपने परिवार के लोगों को करते देखते हैं वैसा ही करना शुरू कर देते हैं। इसलिए यदि परिवार में वीरता, धैर्य, उपकारिता, स्वावलम्बन आदि रहते है तो बच्चे भी अनुकरण के द्वारा इन गुणों को अपने में अपना लेते हैं। इसी तरह उनमें पारिवारिक दुर्गुणों को अपनाने की शक्ति भी विद्यमान रहती है।

जव बच्चे और कुछ वडे हो जाते हैं तब वे परिवार से बाहर अपने साथियों से मिलते, खेलते और पाठशाला जाते हैं। अपनी अवस्था के बच्चो के साथ निरन्तर रहने के कारण वे उनके गुणों को अपना लेते हैं। पाठशाला में उन्हें अपने सहपाठियों और गुरु के आचरणो के अनुकरण करने का अवसर मिलता है और फलस्वरूप उनका व्यक्तित्व उसी ढाँचे में ढल जाता है। यदि पाठशाला मे खेलने-कूदने तथा अन्य प्रकार के मनोरंजनों की उन्हें समुचित सुविधा मिलती है तो उनका व्यक्तित्व निखर उठता है किन्तु इसके अभाव में वे तरह-तरह के उत्पात मे संलग्न रहने लगते हैं और उनका व्यक्तित्व-विकास सुन्दर रूप से नहीं होता।

इसके वाद जव बच्चे कुछ और वढ जाते है और इस योग्य हो जाते हैं कि वे अच्छी अच्छी पुस्तकों का अध्ययन कर सकें और सिनेमा वगैरह को समझ सकें तब उनका व्यक्तित्व इन अंगो से भी प्रभावित होता है। पुस्तकों के अध्ययन और सिनेमा संसार से वे बहुत-सी आदर्श की बातें सीखते हैं। इसलिए माता-पिता और शिक्षक को उचित है कि बच्चों के लिए ऐसी पुस्तकों और चलचित्रों का प्रबन्ध करे जिनसे उनका व्यक्तित्व-विकास सुन्दर रूप में हो सके।

आर्थिक-वातावरणः—आर्थिक-वातावरण का असर बच्चों के व्यक्तित्व-विकास पर कैसा पड़ता है, इस सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस दिशा में जो खोज की हैं उसके आधार पर उनका कहना है कि इसका स्थान बच्चो के व्यक्तित्व-विकास में नगण्य है, माता-पिता, परिवार और समाज ही बच्चे के व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं। किन्तु दूसरे पक्ष के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यदि बच्चे का आर्थिक वातावरण सन्तोषजनक रहता है तो उसका व्यक्तित्व-विकास भी अच्छी तरह होता है।

दरिद्रावस्था में रहने के कारण बच्चों की अनेकों इच्छाओं का दमन होता है और ऐसे बच्चे कई प्रकार के असामाजिक व्यवहारों का प्रदर्शन करते हैं। वस्तुतः मनोवैज्ञानिकों का द्वितीय निष्कर्ष ही समुचित प्रतीत होता है क्योंकि दरिद्र बालकों में कई प्रकार के दोष आ जाने से उनका समुचित व्यक्तित्व-विकास अवरुद्ध हो जाता है।

संक्षेप मे, बच्चों को समुचित वातावरण मिलने पर उनकी जन्मजात शक्तियों के प्रस्फुटन का अवसर मिलता है। यदि उन्हे उचित वातावरण न मिले तो उनकी जन्मजात शक्तियाँ भी कुण्ठित हो जाती हैं। वातावरण के प्रतिकूल होने पर न तो वे सीखकर ही कुछ अनुभव कर सकते हैं और न अपनी शक्तियों को ही विकसित कर सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तित्व-विकास में जैव अंगो तथा वातावरण दोनों महत्त्वपूर्ण हैं। समुचित और सुन्दर व्यक्तित्व-विकास के लिए दोनों में किसी भी अंग की अवहेलना नहीं की जा सकती। यदि जैव अंग बच्चे को योग्यता, शक्ति और उसकी सीमा प्रदान करते है तो सामाजिक-आर्थिक अंग उन्हे प्रकाश में लाते हैं, शक्ति का सुन्दर या असुन्दर रूप देते है।

४. व्यक्तित्व के शील-गुण (Traits)

जिन बीजतत्त्वों (Elements) से व्यक्तित्व का निर्माण होता है उन्हें शीलगुण (Traits) कहते हैं। दूसरे शब्दों मे, व्यक्तित्व के विभिन्न समन्वित अंश या खण्ड उसके शीलगुण हैं। उदाहरणार्थ, सत्यता, निपुणता, विनीतता, प्रसक्ति आदि शीलगुण हैं। यद्यपि, शीलगुण के द्वारा किसी व्यवहार विशेष की शैली (Style) का वर्णन किया जाता है किंतु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि व्यवहार की सभी शैलियाँ शील गुण हैं। शील-गुण की सबसे बड़ी विशेषता उसकी समरसता (Uniformity) और नित्यता (Constancy) है। जिस व्यवहार-शैली मे इन गुणों का अभाव हो उसे हम शील-गुण का नाम नहीं दे सकते। सम्भव है एक शील-गुण किसी बच्चे में हो और दूसरे में न हो। शील-गुण परिस्थिति विशेष पर ही निर्भर नही करता बल्कि व्यक्तित्व के अन्तःसार (Inner Essence) पर भी निर्भर करता है। इस सम्बन्ध में यह भी स्मरणीय है कि हमें शील-गुणों को स्थिर (Static) न समझना चाहिए। यद्यपि इनमें समरसता और नित्यता रहती है तथापि इनके ये दोनों गुण सापेक्ष (Relative) है। इस सम्बन्ध में 'मे', हार्टशोर्न तथा अन्य मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट कर दिया

है कि सत्यता, ईमानदारी आदि सभी गुण सापेक्ष हैं। बच्चों पर प्रयोग करके यह देखा गया कि जो बच्चे पैसे लौटाने में अपनी ईमानदारी दिखलाए वे ही परीक्षा में बेईमानी करते हुए पाए गए।

अब हम संक्षेप में दो प्रश्नों का उत्तर देना चाहेंगे। पहला प्रश्न यह है कि शील-गुण विशिष्ट (Specific) होते हैं या सामान्य (General)? और दूसरा प्रश्न यह कि विभिन्न प्रकार के शील-गुण एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं अथवा उनमे किसी प्रकार का समन्वय रहता है? पहले प्रश्न का उत्तर कुछ अंश में दिया जा चुका है, इसलिए इतना ही कहना पर्याप्त है कि प्रारम्भ में उनमे विशिष्टता रहती है किन्तु ज्यो-ज्यो बच्चो का अनुभव और ज्ञान बढते जाते हैं त्यो-त्यो उनमे सामान्यता आती जाती है। किन्तु, यह विशिष्टता और सामान्यता परिस्थिति और बच्चे विशेष पर निर्भर करती है, जैसा कि कई मनोवैज्ञानिक प्रयोगों से स्पष्ट है। दूसरे प्रश्न का भी उत्तर निश्चयात्मक रूप से नही दिया जा सकता क्योकि अभी तक इस दिशा में जितने प्रयोग हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि कुछ शील-गुणो में समन्वय रहता है किन्तु कुछ शील-गुण एक दूसरे से स्वतन्त्र होते हैं। हाँ, आगे चलकर अनुभव वृद्धि के साथ-साथ उनमें भी कुछ सम्बद्धता आ जाती है।

यहाँ यह भी व्यक्त कर देना अप्रासंगिक नही होगा कि विभिन्न मनोवैज्ञानिकों ने शील-गुणों की संख्या को निश्चित करने का प्रयास किया है किन्तु बच्चे या सयानो में कितने शील-गुण होते है अभी तक निश्चित नहीं हो सका है। कुछ मनोवैज्ञानिको ने तो चार हजार शील-गुणो की चर्चा की है किन्तु अब अत्यधिक संशोधन करके कुछ पण्डितों ने उसकी एक सौ एकहत्तर संख्या निश्चित की है। इधर मनोवैज्ञानिकों ने उसकी संख्या घटाकर पैंतीस युगल शील-गुणों को अभिव्यक्त किया है। विशेष महत्त्व की बात इस सम्बन्ध में यह है कि आज से कुछ दिन पहले तक प्रायः सभी मनोवैज्ञानिक बहिर्मुखी (Extraverted) और अन्तर्मुखी (Introverted) को भी शील-गुण ही मानते थे। परन्तु अब मनोविज्ञान के पण्डितों ने यह प्रमाणित कर दिया है कि ये दोनों शील-गुण कदापि नही हैं क्योंकि इन दोनों में प्रत्येक में पाँच शील-गुणों का समन्वय विद्यमान रहता है। अतः इन दोनो को शील-गुण मानना सर्वथा अनुचित है क्योंकि यदि ये शील गुण रहते तो इनमें अन्य प्रकार के शील-गुणों का समावेश असम्भव था। इसलिए हम स्वतन्त्र शील-गुणों में इनकी चर्चा नही करेंगे।

यों तो बच्चों में कई शील-गुण पाए जाते हैं किन्तु उन सब पर प्रकाश डालना आवश्यक नहीं है। अधिकार और विनीत-वृत्ति (Ascendance & Submission) तथा प्रसक्ति उनमें जन्म के कुछ दिन बाद ही देखने में आती हैं। इसलिए यहाँ इन्हीं तीनो का वर्णन अत्यन्त संक्षेप रूप से किया जायेगा।

(१) अधिकार तथा विनीत-वृत्ति (Ascendance & Submission):—अधिकार और विनीतता के शील-गुण सभी बच्चो में देखने में आते हैं। किसी में अधिकार-वृत्ति अधिक मात्रा में रहती है तो किसी में विनीत-वृत्ति, अन्तर बस इतना ही है। जब समान अवस्था के कई बच्चे एक साथ खेलने के लिए छोड़ दिए जाते हैं तो वहाँ तुरत एक बच्चा पथ-प्रदर्शन का कार्य करने लगता है और अवशेष बच्चे उसका अनुयायी बन जाते हैं। जो बच्चा पथ-प्रदर्शक या नेता का कार्य करता है उसमें अधिकार-वृत्ति की प्रमुखता रहती है तथा अनुयायी बच्चों में विनीत-वृत्ति की प्रधानता। किन्तु, जो बच्चा परिस्थिति विशेष में अधिकार-प्रवृत्ति दिखलाता है वही दूसरी परिस्थिति में भी ऐसा करे, यह आवश्यक नहीं। इसके सम्बन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि शील-गुण परिस्थिति और व्यक्ति विशेप दोनों पर निर्भर करते हैं। हम नित्य-प्रति ऐसा देखते हैं कि जो बच्चा एक समूह विशेष में अगुआ रहता है वही दूसरे समूह में अनुयायी बन जाता है। यही अवस्था प्रौढ़ों के भी जीवन में देखी जाती है। इस सम्बन्ध में कई मनोवैज्ञानिक खोजें हुई हैं जिनमें आयोवा विश्वविद्यालय की खोज विशेप महत्त्वपूर्ण है। कई बालकों पर प्रयोग करने के बाद मनोवैज्ञानिक इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि जिन बच्चों का सामाजिक सम्बन्ध कई प्रकार का होता है या जिन बच्चों को जीवन के आरम्भ में ही उत्तरदायित्व पूर्ण कार्यों का अवसर मिलता है वे अधिकार-प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते है। शारीरिक और मानसिक श्रेष्ठता, अनुशासन का अभाव (Lack of Discipline) बच्चे को मनमानी करने का अवसर देना और माता-पिता के प्रशिक्षण (Training) का भी प्रभाव इस वृत्ति पर देखा जाता है। जो बच्चे कसरत करने में निपुण तथा बलशाली होते हैं वे अधिकार-प्रवृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। एकमात्र बच्चे में भी इसके कुछ लक्षण दिखलाई पड़ते हैं किन्तु यह सभी स्थलों में लागू नहीं होता। श्रेष्ठ-भाव (Feeling of superiority) इस प्रवृत्ति का द्योतक होता है। ऐसे बच्चों में स्वावलम्बन, स्वतन्त्रता, आत्मविश्वास आदि गुण पाए जाते हैं।

जिन बच्चों के शारीरिक दोषों का उनके माता-पिता तथा अन्य साथी उपहास करते हैं, वे हीन भाव (Feeling of inferiority) से पीड़ित होने के कारण विनीत-वृत्ति का प्रदर्शन करते हैं। पारिवारिक संघर्ष, दरिद्रता, प्रोत्साहन का अभाव, अनुचित तुलना आदि के कारण बच्चों में इस व्यापार का आविर्भाव होता है। यद्यपि बच्चों का विनीत होना सर्वथा अवांछनीय नहीं है किन्तु यदि इसकी मात्रा प्रबल हो जाती है तो आगे चलकर ऐसे बच्चे असामाजिक बन जाते हैं और इसका परिणाम इतना घातक होता है कि वे जीवन-क्षेत्र में कभी सफल नही होते। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षकों का यह कर्त्तव्य है कि वे बच्चो की शिक्षा-दीक्षा का ऐसा समुचित प्रबन्ध करें कि ये अपने जीवन में एक सफल सामाजिक प्राणी बन सकें।

(२) प्रसक्ति (Persistence):—प्रसक्ति को इच्छा-शक्ति कहते हैं। हाथ मे लिए हुए काम को लाख बाधा और कठिनाइयों के रहते भी पूरा करने की लगन को प्रसक्ति कहा गया है। जब कोई बच्चा हतोत्साहित करने, विघ्न डालने और कष्ट देने पर भी अपने काम में संलग्न रहता है तो हम कहते हैं कि उसकी इच्छाशक्ति प्रबल है। यह व्यक्तित्व का एक महान गुण है। बहुत से बच्चे अपनी धुन के पक्के होते है और जिस काम मे लग जाते हैं उसे पूरा करके ही साँस लेते हैं। वे किसी प्रकार की कठिनाई और दूसरों की कटु आलोचना और उपहास की चिन्ता नहीं करते बल्कि उन्हें चिन्ता अपने लक्ष्य की ही रहती है। दूसरी ओर, जिन बच्चों में प्रसक्ति अधिक नही रहती वे ऐसे कामों को अधूरा छोड़ देते हैं जिनके करने में उन्हें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव होता है। वस्तुतः बच्चो के जीवन पर इसका बहुत बड़ा असर पड़ता है क्योंकि वे ही अपने जीवन में सफल होते हैं जिनमें प्रसक्ति रहती है। जिनमें इसकी कमी होती है वे जीवन के किसी क्षेत्र मे शायद ही सफल होते हैं।

यदि हम विश्व के महापुरुषों का जीवन-इतिहास पढे तो हमें स्पष्ट हो जायेगा कि वे बचपन से ही अपनी धुन के पक्के थे। पाठशालीय विद्यार्थियों में ऐसे उदाहरणो की कमी नहीं है। बहुत से ऐसे बच्चे मिलते हैं जो अपने वर्ग की परीक्षा में कई बार असफल होते रहने पर भी प्रसक्ति के कारण पढ़ने से मुँह नहीं मोड़ते और अन्त में सफलीभूत होते हैं। परन्तु जो बच्चे एक बार परीक्षा में अनुत्तीर्ण होने से पाठशीलय जीवन से मुँह मोड़ लेते हैं वे कभी भी उस क्षेत्र में सफल नहीं होते। प्रसक्ति की परीक्षा के लिए आजकल कई मनोवैज्ञानिक परीक्षण-विधियाँ काम में लाई जाती हैं। लड़के और लड़कियो

को उनकी योग्यता से परे का काम दे दिया जाता है जो उनके लिए सर्वथा कठिन होता है। जो बच्चा उस कार्य को कठिनाइयों को झेलते हुए पूरा कर देता है वह अपने असक्ति गुण का परिचय देता है, और जो उससे घबड़ा-कर काम को अधूरा छोड़ देता है वह अपने में इस गुण का अभाव व्यक्त करता है। इसी प्रकार शरीर में सुई आदि चुभोकर इस गुण की परीक्षा की जाती है। प्रायः सभी लोग अपने बच्चों के इस शील-गुण की जाँच साधारण तरीकों से कर सकते हैं।

यदि हम इसके कारणों पर ध्यान दें तो मालूम होगा कि माता-पिता की शिक्षा-दीक्षा तथा गृह-परिस्थिति का हाथ इसमें बहुत अधिक रहता है। प्रारम्भ में जब लड़के खड़ा होना और चलना शुरू करते हैं तो माता-पिता का प्रोत्साहन मिलने पर गिरने पर भी वे वैसा करने का प्रयास करते रहते हैं। परिणामतः उन्हें दृढ़ाग्रह की आदत सी हो जाती है। कितने ही भावुक अज्ञानवश बच्चो को चलने-दौड़ने आदि कामों के लिए हतोत्साह करते हैं जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से गलत है। इस गुण के विकास में माताएँ बच्चों की अधिक सहायता कर सकती हैं। उन्हें ऐसे उदाहरणों को पेश करना चाहिए जिनसे बच्चे कठिनाइयों को झेलते हुए भी अपने कार्य में संलग्न रहने के पाठ को पढ़ें। बच्चों को जीवन मे सफल होने के लिए यह एक आवश्यक गुण है। इसी के प्रसाद से वे अपने भावी जीवन मे महान व्यक्ति बनते हैं।

७. व्यक्तित्व-प्रकार (Types of Personality)

प्राचीन काल से ही पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वान मनुष्य को किसी-न-किसी आधार पर विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करते आए हैं। किन्तु यहाँ उन सब पर विशेष रूपेण प्रकाश डालना असम्भव है, इसलिए उनमें से कुछ का नामकरण मात्र करते हुए वर्त्तमान में प्रचलित प्रमुख व्यक्तित्व-प्रकार का संक्षिप्ततः वर्णन करेंगे।

भारतीय ऋषि-महर्षियों ने व्यक्तियों को कई प्रकार में बाँटा है। एक पद्धति के अनुसार सभी व्यक्ति रजोगुण, तमोगुण तथा सतोगुण इन्हीं तीन श्रेणियों में विभाजित किए गए हैं। दूसरी पद्धति के अनुसार वात, पित्त और कफ प्रधान वर्गों में मनुष्यों का विभाजन किया गया है। यद्यपि हम स्थानाभाव के कारण इन उपर्युक्त वर्गों की विभिन्न विशेषताओं पर प्रकाश डालने में असमर्थ हैं तथापि यदि इन वर्गीकरणों को वैज्ञानिक कसौटी पर जाँचा जाय तो ये पूर्णतः वैज्ञानिक प्रमाणित होंगे। इन व्यक्तित्व-प्रकारों

में उन दोषों का सर्वथा अभाव है जो वर्त्तमान प्रकारों में विद्यमान हैं। महात्मा तुलसीदास ने भी मनुष्यों को गुलाब, पनस और रसाल तीन श्रेणियों में बाँटा है। गुलाब की उपमा ऐसे आदमियों से दी गई है जिनमें बाह्य दिखावट और लम्बी-चौड़ी बातें हैं किन्तु कर्म का नाम भी नहीं है। पनस (कटहल) की उपमा उन आदमियों से दी गई है जो केवल काम करना जानते हैं डींगे मारना या आडम्बर करना नहीं जानते। उन व्यक्तियों को रसाल प्रकार में रखा गया है जिनमे दोनो विशेषताएँ हैं, अर्थात् जो बाह्य आडम्बर भी रखते हैं और कर्मशील भी होते हैं। इसी तरह की इनकी और भी विशेषताओं का उन्होंने वर्णन करने का प्रयास किया है। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इन सभी वर्गीकरणों में वैज्ञानिकता की पुट है किन्तु खेद का विषय है कि मनोविज्ञान के इस युग मे भी अभी तक इस दिशा में भारतीय पद्धतियों का आश्रय लेकर मनोवैज्ञानिक अपना कदम नहीं उठा पाए हैं।

जब हम पाश्चात्य व्यक्तित्व-प्रकार के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो इस सम्बन्ध मे सर्वप्रथम यूनान निवासी प्रख्यात चिकित्सक गेलेन का व्यक्तित्व-प्रकार मिलता है जिसने सभी मनुष्यों को चार प्रकार में बाँटा है। क्रेशमर ने शारीरिक गठन के आधार पर व्यक्तियों का तीन वर्गीकरण किया है और विलियम जेम्स ने उन्हें आदर्शवादी (Idealist) और व्यवहारवादी (Realist) दो प्रकारों में बाँटा है। इसी तरह और कई मनोवैज्ञानिकों तथा चिकित्सकों ने व्यक्तित्व-प्रकार पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है किन्तु उन सबकी चर्चा न कर हम बुहलर (Buhler) महोदया और युंग (Jung) के व्यक्तित्व-प्रकारों का उल्लेख करेंगे क्योंकि बाल मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से ये दोनों वर्गीकरण महत्त्वपूर्ण हैं।

(अ) बुहलर का व्यक्तित्व-प्रकार:—बुहलर महोदया ने सामाजिकता के आधार पर सभी बच्चों को तीन प्रकारों में बाँटा है क्योंकि उनका कहना है कि यदि किसी बच्चे को अन्य बच्चों के साथ छोड़ दें तो उनमें तीन प्रकार के व्यापार प्रदर्शित होते है। यद्यपि उनका यह विभाजन पूर्णतः सामाजिक तथा विकासात्मक है किन्तु उन्होंने इसे व्यक्तित्व-प्रकार ही माना है। इसके पक्ष में उनका कहना है कि किसी बच्चे मे भी इन्हीं तीन प्रकार मे से कोई एक प्रकार देखने में आता है। इसलिए इसे व्यक्तित्व-प्रकार ही कहना विशेष समुचित होगा।

(१) सामाजिक अन्धा (Socially Blind):—जो बच्चा सामाजिक

अन्धा होता है उसे यदि दूसरे बच्चों के समूह में छोड़ दिया जाय तो वह उनकी तनिक भी परवाह नहीं करता, उनकी ओर आकृष्ट भी नहीं होता। दूसरे बच्चों के व्यवहार का असर उस पर कुछ नहीं पड़ता इसलिए वह उनसे किसी तरह प्रभावित नहीं होता। वह अपने खिलौनों में ही तल्लीन रहता है और दूसरे बच्चों के खिलौनों को भी अपने लिए इकट्ठा कर लेता है। यदि दूसरे बच्चे उसे डाँटते-डपटते अथवा पीटते हैं तो उनके व्यवहार पर न ध्यान देकर वह अपनी रक्षा का ही प्रबन्ध करता है। तात्पर्य यह कि इस प्रकार का बच्चा दूसरों से किसी प्रकार भी प्रभावित नहीं होता बल्कि अपने आप के मनोरंजन में संलग्न रहता है

(२) समाज-निर्भर (Socially Dependent) :—समाज-निर्भर बच्चे के व्यवहार पर उसके समाज या समुदाय का काफी प्रभाव पड़ता है और वह जिस समाज मे रहता है उस पर अपना प्रभाव काफी गहरे रूप मे डालता है। वह अपने खिलौने में अभिरुचि नहीं रखता बल्कि उन खिलौनों को लेकर खेलता है जिनसे दूसरे बच्चे खेलते रहते हैं। वह आक्रामक और सक्रिय हो सकता है और निष्क्रिय भी हो सकता है किन्तु किसी भी अवस्था में वह दूसरे बच्चों से होड़ करने का इच्छुक रहता है। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह होती है कि जब कभी वह दूसरों से स्वयं पछाड़ खाता है तो खिन्न हो जाता है परन्तु जब दूसरो पर विजय प्राप्त करता है तब वह बहुत ही प्रसन्नचित्त होता है।

(३) समाज-मुक्त (Socially indifferent):—समाज-मुक्त बच्चा उपर्युक्त प्रकारों से पूर्णतः भिन्न होता है क्योंकि उसके व्यवहार दूसरे बच्चो के व्यवहार से निर्धारित नहीं होते। इस प्रकार के बच्चे की यह खूबी होती है कि यह दूसरे बच्चो के साथ खेलता-कूदता है। उन्हे आराम और सहायता देने की भी कोशिश करता है फिर भी वह उनसे पूर्णतः स्वतन्त्र प्रतीत होता है। वह अपने में एक प्रकार श्रेष्ठता का अनुभव करता है। वह दूसरों के सम्पर्क में जाने पर कभी परेशानी की अनुभूति नहीं करता न व्यामोह में ही पड़ता है। यद्यपि ऐसी परिस्थिति मे पड़ वह दूसरों के साथ खेलता है किन्तु वह उपर्युक्त प्रकार के बच्चे की तरह अपने सन्तुलन और आरम्भक (Initiative) वृत्ति को नही खो बैठता। सारांश यह कि इस व्यक्तित्व का बच्चा न तो पहले प्रकार की तरह दूसरे बच्चों का तिरस्कार ही करता है और न दूसरे प्रकार की तरह उनसे प्रभावित होता है बल्कि उनके साथ रहते हुए भी उनसे विरक्त रहता है।

(व) युंग का व्यक्तित्व-प्रकारः—युंग ने सभी व्यक्तियों को दो प्रकारों में बाँटा है। उसके अनुसार कोई व्यक्ति अन्तर्मुखी (Introvert) होता है या वहिर्मुखी (Extravert)। बच्चो के लिए इस व्यक्तित्व-प्रकार के सम्बन्ध में पहले मनोवैज्ञानिकों में मतभेद था। कुछ मनोवैज्ञानिको का कहना था कि युंग ने व्यक्तित्व-प्रकारो की जिन विशेषताओं का उल्लेख किया है बच्चों मे उनका पता लगाना कठिन हैं, इसलिए उनको युंग के व्यक्तित्व-प्रकार में विभाजित कर देना समुचित नही है। किन्तु मार्स्टन नामक मनोवैज्ञानिक ने दो से छः वर्ष की उम्र वाले बच्चों पर प्रयोग करके यह प्रमाणित कर दिया है कि उनमें भी अन्तर्मुखी और वहिर्मुखी की विशेषताएँ देखी जाती हैं। अतएव हम उन्हें भी युंग के आधार पर व्यक्तित्व-प्रकार में विभाजित कर सकते हैं।

(१) अन्तर्मुखीः—अन्तर्मुखी बच्चा आत्मगत होता है, इसलिए वह सामाजिक खेलो और कामो में हाथ न बटाकर अपने आप में मग्न रहता है। वह किसी परिस्थिति को समझने की कोशिश नहीं करता वह बल्कि, यह जानने का प्रयास करता है कि उसका असर उस पर क्या पड़ता है। वह कभी अपने साथियो के साथ नहीं खेलता बल्कि अकेले खेलने का अभ्यासी होता है और यदि दुर्भाग्यवश उसे सामूहिक खेल खेलने को विवश किया जाता है तो वह बेचैन हो जाता है। एकान्तवास उसे प्रिय ही नहीं मालूम होता बल्कि उसके शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए भी आवश्यक होता है। इसलिए जब कभी उसे सामाजिक जीवन व्यतीत करना पड़ता है तो उसकी हालत पतली हो जाती है। वह न तो दूसरो के सुख-दुख से प्रभावित होता है और न उसमे हाथ ही बटाना चाहता है। वह स्वयं अपने सुख से सुखी और दुख से दुखी होता है। दूसरे बच्चे उसे स्वार्थी समझते है क्योकि वह अपने भाव और विचारों को दूसरे के सामने स्पष्ट करने मे समर्थ नहीं होता। इसलिये उसको जीवन मे मित्रो का भी अभाव रहता है। जब वह दूसरो की परवाह नहीं करता है तो दूसरे भी उसकी क्यो परवाह करने लगे? वह अपने को अन्य बच्चों से हीन समझता है और अपनी सहानुभूति भी दूसरों के प्रति प्रकट करने में डरता है, इसलिए दूसरे बच्चों की सहानुभूति का भी वह पात्र नही रह जाता। अन्तर्मुखी की इच्छाओं की संतृप्ति सामाजिक रूप से नही होती इसलिए वह दिवास्वप्न में विचरण करने लगता है जिसका इतना घातक परिणाम होता है कि वह सामाजिक अभियोजन में पूर्णतः असफल रहता है। उसमें निष्क्रियता आ जाती है और वह घर तथा स्कूल के कामों से भी हाथ खींचने

लगता है। वह बच्चों की प्रशंसा का पात्र भी नहीं बनता क्योंकि दूसरों के हित की कभी चिन्ता न कर वह अपने हित में लगा रहता है। ऐसा बच्चा आगे चलकर महान वैज्ञानिक, दार्शनिक आदि भी बन सकता है। वह सामाजिक नियमों की उपेक्षा करता है इसलिए उसका सामाजिक जीवन दुखमय रहता है। यही कारण है कि इस प्रकार के बच्चे जीवन में निराशावादी बन जाते हैं और चारों ओर उन्हें अन्धकार ही अन्धकार दीख पड़ता है। भविष्य में ऐसे बच्चों से विश्व का अत्यधिक कल्याण होता है क्योंकि आगे चलकर उनका आत्म-कल्याण ही विश्व-कल्याण में परिवर्तित हो जाता है।

(२) वहिर्मुखी :—वहिर्मुखी बच्चा अन्तर्मुखी से पूर्णतः भिन्न होता है। उसकी अभिरुचि विधेयात्मक होती है इसलिए वह अपनी मानसिक शक्तियों को बाह्य विश्व में ही लगाता है। वह अपनी अभिरुचि सामाजिक खेलों और कामों में प्रदर्शित करता है और सामाजिक जीवन व्यतीत करता है। अपने आप में मग्न नहीं रहकर वह बाह्य परिस्थिति में मग्न रहता है। वह परिस्थिति को समझने की कोशिश करता है और उससे प्रभावित भी होता है। वह समवयस्क बच्चों के साथ खेलने में अपनी रुचि प्रकट करता है और खूब तन्मय होकर खेलता भी है। उसे एकान्तवास बहुत खटकता है इसलिए जब कभी वह अकेले रहता है तो बेचैन हो जाता है। सामाजिक जीवन से उसकी शारीरिक और मानसिक दोनों अवस्थाएँ सामान्य बनी रहती हैं। वह अन्य साथियों के सुख-दुख का बराबर ध्यान रखता है इसलिए उन्हीं कार्यों को करता है जिन्हें कि अन्य साथी भी करते या करना चाहते हैं। वह आसानी से अपने विचारों को दूसरों के सामने उपस्थित करता है इसलिए उसे सभी अच्छी तरह समझ जाते हैं और अपना अंग समझने लगते हैं। वह दूसरों के प्रति सहानुभूति भी प्रदर्शित करता है इसलिए दूसरे भी उससे वैसा ही व्यवहार करते हैं। उसे मित्रों की कमी नहीं रहती क्योंकि वह दिल खोलकर दूसरों से मिलता है। जहाँ जाता है वहीं वह अपना एक नया समाज बना लेता लेता है। वह बच्चों के सामूहिक कार्यों में सदा भाग लेने का अभिलाषी रहता है, सामाजिक खेल-तमाशों में बिना किसी हिचक के भाग लेता है। उसकी इच्छाओं की पूर्ति सामाजिक रूप से होती है क्योंकि वह अपने को समाज में सरलतया अभियोजित कर लेता है। वह यथार्थता से भागता नहीं बल्कि धैर्य और वीरता से उसका स्वागत करता है। वह सामाजिक नियमों की बराबर इज्जत करता है इसलिए सामाजिक ही बना रहता है। उसे जीवन में असफलता कम मिलती है, यदि ऐसा कभी होता भी है तो वह अपने पौरुष के

कारण उसका दमन करके पुनः विजयी बन जाता है। वह बड़ा उपकारी और उदारहृदय होता है इसलिए समाज में मान और प्रतिष्ठा पाता है। वह अधिकांश आशावादी होता है और इसीलिए उसका सांसारिक जीवन सफल भी रहता है। ऐसा बच्चा आगे चलकर समाज-सुधारक, नेता, वकील आदि बन सकता है।

(३) उभयमुखी (Ambivert) :—यद्यपि प्रारम्भ ने युंग ने दो ही प्रकार मे व्यक्तियों का विभाजन किया किन्तु बाद मे अनेक प्रयोगों के आधार पर उसे एक तीसरा प्रकार उभयमुखी को मानना पड़ा। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि बहुत से बच्चे चरम सीमा की विशेपताओ से युक्त नहीं रहते बल्कि उनमें दोनो प्रकार की विशेपताओं का समावेश रहता है। इसलिए उन बच्चों को, जिनमें कि दोनों प्रकार की विशेपताएँ पाई जाती हैं, उभयमुखी कहते हैं। हम सयानों मे भी ऐसे व्यक्तियो की कमी नहीं है जिनमे दोनो प्रकार के व्यक्तित्वो के गुण विद्यमान हैं। सच तो यह है कि अधिकांश बच्चे इसी प्रकार के होते हैं।

यहाँ उल्लेखनीय है कि बहुत से मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व-प्रकार पर आपत्ति करते है। उनका कहना है कि हम सभी व्यक्तियों को दो या इससे अधिक प्रकारों में बाँटकर उनकी विशेपताओ को निश्चयात्मक रूप से सीमित नहीं कर सकते क्योंकि उनकी कुछ ऐसी विशेपताएँ हैं जो अन्य प्रकारो में भी पाई जाती हैं। वस्तुतः व्यक्तित्व-विभाजन में यह एक बहुत बड़ी कठिनाई है। परन्तु, यदि विभाजन विशेपता-आधिक्य पर माना जाय तो यह कठिनाई स्वतः दूर हो जाती है। हम मानते हैं कि अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी को एक दूसरे से पूर्णतः अलग नहीं कर सकते किन्तु जिसमे बहिर्मुखी की विशेपताओं का बाहुल्य है उसे बहिर्मुखी और जिसमे अन्तर्मुखी की विशेपताओं का आधिक्य है उसे अन्तर्मुखी कहे तो कोई अनुचित नहीं होगा। इसी तरह जिन लोगो ने व्यक्तित्व को तीन, चार या सात वर्गों में विभाजित किया है वे भी अपने आधार के दृष्टिकोण से ठीक ही हैं। आज भी पाश्चात्य देशो में इस दिशा में खोजें हो रही है और आशा है सन्निकट भविष्य मे इस विषय पर काफी प्रकाश पड़ेगा।

६. व्यक्तित्व-मापक पद्धतियाँ

(१) साक्षात्कार-पद्धति (Interview) :—व्यक्तियों के साक्षात्कार द्वारा उनके व्यक्तित्व को जानने की विधि सभी देशों में प्रचलित है। सामान्यतः कार्य-नियुक्ति के लिए इस विधि को काम में लाया जाता है। बच्चों की

भर्ती भी कितने स्कूलों और कालेजों में इसके द्वारा की जाती है। किन्तु इस पद्धति के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं। पहली बात यह है कि जिस साक्षात्कार में कोई निश्चित माध्यम (Standard) नहीं रहता उससे व्यक्तित्व की जानकारी भी नहीं होती। कई मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक ही व्यक्ति को किसी योग्यता विशेष के आधार पर सर्वप्रथम और अन्तिम स्थान विभिन्न साक्षात्कारकों (Interviewers) द्वारा दिए जाते हैं। अतएव यह विधि अवैज्ञानिक है। किन्तु, जिस साक्षात्कार में माध्यम और प्रश्न पहले से निर्धारित रहते हैं वह व्यक्तित्व माप सकने में काफी अंशों तक सफल होता है, क्योंकि एक ही प्रश्न सभी लोगों से पूछा जाता है और उत्तर के अनुसार उन्हें अंक दिए जाते हैं। यह एक वैज्ञानिक विधि है और इससे व्यक्तित्व पर अधिक प्रकाश भी पडता है। परन्तु इस पद्धति मे दो कठिनाइयाँ हैं। पहली कठिनाई तो यह है कि साक्षात्कारको के साक्षात्कार करने के ढंग मे भिन्नता होती है क्योंकि सबका अपना अपना ढंग होता है। दूसरी कठिनाई यह है कि साक्षात्कार का प्रशिक्षण भी आसानी से नहीं दिया जा सकता क्योंकि साक्षात्कार-कर्त्ता स्वयं इसकी कला और शैली को व्यक्त करने में असमर्थ होता है। यदि ये कठिनाइयाँ दूर की जा सकें तो इस विधि से क्या बच्चे क्या प्रौढ़ सभी के व्यक्तित्व की भविष्यवाणी काफी सत्य रूप में की जा सकती है।

(२) व्यक्ति-इतिहास-पद्धति (Case-history method) किसी बच्चे के व्यक्तित्व की जानकारी उसके गत जीवन के आधार पर भी की जाती है। उसके माता-पिता, शिक्षक, मित्रादि से उसकी रुचि, पारिवारिक, शारीरिक परिस्थिति, शिक्षा आदि के विभिन्न पहलुओं का इतिहास तैयार किया जाता है और उसी के आधार पर उसके व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। किन्तु यह विधि भी सन्तोषप्रद नहीं है क्योंकि एक ही सम्बन्ध में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न प्रकार की सूचना देते हैं। कभी-कभी अत्यावश्यक अंग छूट जाता है और कभी अनावश्यक अंग पर ही विशेष जोर दे दिया जाता है। यद्यपि ये दोष इस विधि में विद्यमान हैं तथापि यदि सावधानी से काम लिया जाय तो इससे बहुत अंशों मे व्यक्तित्व का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

(३) प्रश्नावलि-पद्धति (Questionnaire method):—व्यक्तित्व-अध्ययन के लिए प्रश्नावलि-पद्धति का भी प्रयोग होता है। विभिन्न प्रकार के प्रश्न छपे रहते हैं और उनका उत्तर 'हाँ' या 'नही' में देना पड़ता है। उत्तरों के आधार पर व्यक्तित्व निर्धारित होता है। यों तो इसके लिए विभिन्न मनो-

वैज्ञानिकों ने तरह तरह के प्रश्न बनाए हैं किन्तु बच्चों के योग्य दो ही पहलू से आबद्ध प्रश्न उपयोगी है। उनके सम्बन्ध में असन्तुलन और अभिरुचि का ज्ञान इस पद्धति से आवश्यक होता है। स्वीट, मेलर, फर्फे आदि मनोवैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के प्रश्न तैयार किए हैं। यह सामूहिक परीक्षा-पद्धति है इस-लिए इसमे समय की बहुत बचत है, जैसा कि ऊपर संकेत किया जा चुका है। निर्णय भी कुछ प्रतिपन्न (Accurate) ही होता है। किन्तु कुछ लोग इसके प्रति आपत्ति उठाते हैं। उनका कहना है कि प्रश्न करने पर उत्तरदाता सही उत्तर न देकर मनमाना या बनावटी उत्तर दे देता है, परन्तु इस आपत्ति को कुछ मनोवैज्ञानिकों ने निस्सार प्रमाणित करने की चेष्टा की है।

(४) मूल्यांकन-पद्धति (Rating method):— बच्चे के किसी शील-गुण को जानने के लिए मूल्यांकन-पद्धति का भी इस्तेमाल होता है। जो लोग बच्चे को अच्छी तरह जानते हैं वे अपना निर्णय देते हैं। इसके लिए एक मापदण्ड (Scale) तैयार किया जाता है जिसमें विभिन्न अंश बने रहते है। उसी मापदण्ड के आधार पर बच्चे का मूल्यांकन किया जाता है। किन्तु, यह पद्धति बहुत सरल नहीं है, क्योंकि सभी लोग मूल्यांकन ठीक रूप से नहीं कर सकते। मूल्यांकनकर्त्ता को स्वयं अपने आपका मूल्यांकन करना अनिवार्य है। बुद्धिमान और तीस से अधिक अवस्था का अनुभवी व्यक्ति ही मूल्यांकन ठीक तरह से कर सकता है। औरतें पुरुषो से और अन्तर्मुखी वहि-र्मुखी व्यक्तियों से सफल मूल्यांकन-कर्त्ता होते हैं। कभी-कभी परिस्थिति-विशेष में प्रतिक्रियाओं का निरीक्षण करके भी मूल्यांकन किया जाता है। इसके अति-रिक्त, इस पद्धति में कई कठिनाइयाँ हैं। प्रायः ऐसा देखने में आता है कि निर्णय-कर्त्ता अपने प्रिय बच्चों को मापदण्ड मे ऊँचा स्थान देता है। यदि कोई एक शील-गुण में हीन रहता है तो दूसरे शील-गुण में भी उसे प्रायः नीचा स्थान दिया जाता है। बहुत निर्णयकर्त्ता अपने को दोपरहित प्रमाणित करने के लिए सभी शील-गुणों को मध्य स्थान देते हैं। इसी तरह इसमे और भी कई दोष हैं। फिर भी यदि कई निर्णयकर्त्ताओं से मूल्यांकन कराया जाय और उनका मध्यमान (Mean) निकाला जाय और यदि वे अपनी वैज्ञानिक वृत्ति रखकर निष्पक्षतया बच्चों का मूल्यांकन करें तो इस विधि से उनके व्यक्तित्व का स्पष्ट ज्ञान हो सकता है।

(५) निर्माण-पद्धति (Performance Method) :—बच्चों की सहनशीलता, प्रसक्ति, सत्यता आदि शील-गुणों की जाँच करने के लिए 'मे' हार्टशोर्न आदि मनोवैज्ञानिकों ने तरह-तरह के परीक्षणों का निर्माण

किया है। बच्चों को आगाह किए बिना ही उन्हें ऐसी परिस्थिति में रख दिया जाता है जहाँ उन्हें पूर्वनिश्चित शील-गुणों को प्रदर्शित करने का अवसर मिलता है। परीक्षक उनकी प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्मतया निरीक्षण करके उनके शील-गुण का अध्ययन करते हैं। यदि किसी की ईमानदारी को जानना रहता है तो उसे किसी वस्तु को खरीदने के लिए मूल्य से अधिक द्रव्य दे दिया जाता है। यदि वह अधिक पैसों को लौटा देता है तो उसे ईमानदार की श्रेणी में रक्खा जाता है और पैसा न लौटाने पर उसे बेईमान समझा जाता है। इसी तरह प्रसक्ति की जाँच करने के लिए बच्चों को कठिन कार्यों में लगा दिया जाता है और यह देखा जाता है कि बच्चा काम करके दम लेता है या उसे अधूरे छोड़ देता है। जिसमें प्रसक्ति पर्याप्त मात्रा में रहती है वह काम पूरा करके ही छोड़ता है और जिसमें इसका अभाव रहता है वह प्रारम्भ में ही कठिनाई अनुभव करने पर छोड़ देता है। इसी प्रकार सभी प्रकार के शील-गुणों को जानने के लिए बहुत से परीक्षण बने हुए हैं जिनसे बच्चों के व्यक्तित्व पर काफी प्रकाश पड़ता है। वस्तुतः यह पद्धति बहुत लाभप्रद सिद्ध हो रही है।

विक्षेप-पद्धतियाँ (Projective methods) :—बच्चों के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने के लिए कई प्रकार की विक्षेप-पद्धतियाँ हैं लेकिन हम उनमें से प्रमुख पद्धतियों का ही संक्षेप में वर्णन करेंगे।

(क) शब्द साहचर्य-परीक्षण (Word association test):—युंग, केण्ट और रोजानफ ने प्रौढ़ व्यक्तियों की भाव-ग्रंथियों (Complexes), अतृप्त इच्छाओं आदि का पता लगाने के लिए इस पद्धति का उपयोग प्रारम्भ में किया था किन्तु इसके द्वारा बच्चों के व्यक्तित्व को जानने के लिए विल्सन (Wilson) ने जो कार्य इस दिशा में किया है वह विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसमें बच्चों को क्रमशः कुछ उत्तेजक शब्द (Stimulus words) दिए जाते हैं और प्रत्येक शब्द का जो प्रतिक्रिया शब्द सर्वप्रथम उनके मानस क्षेत्र में आता है उसी को व्यक्त करने का आदेश दिया जाता है। परीक्षण के समय बच्चे की भाव-भंगिमा, प्रतिक्रिया शब्द, प्रतिक्रिया काल आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है और बाद में उनकी मानसिक अवस्था की जानकारी करके उनके व्यक्तित्व का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यह पद्धति उनके संवेगात्मक जीवन, मानसिक संघर्ष तथा भाव-ग्रन्थि आदि पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

(ख) क्रीड़ा-विश्लेषण-परीक्षण (Play Analysis):—बच्चों को खेलने के लिए तरह तरह के खिलौने दे दिए जाते हैं और उनकी प्रतिक्रियाओं

का निरीक्षण किया जाता है। बच्चे अपने मानसिक और संवेगात्मक संघर्षों का प्रकाशन अपने खिलौने पर ही करते हैं। यदि किसी बच्चे को अपने मा-बाप अथवा शिक्षक के प्रति घृणा रहती है तो वह अपनी घृणा का प्रदर्शन अपने खिलौनो के प्रति करके अपने व्यक्तित्व को प्रकाशित करता है। वास्तव में औपचारिकों के लिए यह विधि बहुत महत्त्वपूर्ण है।

(ग) कला-विश्लेषण (Art Analysis) परीक्षणः—बच्चों के व्यक्तित्व के भिन्न-भिन्न गुणों को जानने के लिए उन्हें कागज, पेंसिल आदि अन्य उपकरण दे दिए जाते है और वे अपनी रुचि और इच्छा के अनुसार तरह तरह की चित्रकारियाँ करते हैं। उन चित्रकारियों से उनके व्यक्तित्व पर अत्यधिक प्रकाश पड़ता है। विलियम्स का कहना है कि स्वतन्त्र चित्रकारियो से बच्चों के मानसिक संघर्ष और इच्छा पर जितना अधिक प्रकाश पड़ता है उतना अधिक और किसी पद्धति से सम्भव नहीं है।

(घ) रोशक-परीक्षण (Rorschach test):—रोशक ने बच्चे या सयानों के व्यक्तित्व को जानने के लिए दस स्याही धब्बों (Ink blots) को तैयार किया। उनमें से पाँच धब्बे पूर्णतः काले, दो लाल-काले और शेप तीन कई रंगों के हैं। धब्बे बच्चो को क्रमशः दिखलाये जाते हैं और उनसे पूछा जाता है कि वे क्या याद दिलाते हैं या किसके समान हैं या किसके प्रतिरूपक हैं। यो तो वे धब्बे वस्तुतः किसी पदार्थ के प्रतिरूपक नहीं हैं किन्तु जब उन्हें दिखाकर प्रश्न किया जाता है तब बच्चे अपने अचेतन मन की इच्छाओ के अनुरूप उत्तर देते हैं। उस समय उनका अचेतन मन विशेष प्रभावशाली बना रहता है। उनके उत्तरों के आधार पर उनके अचेतन मन का अच्छा ज्ञान होता है। औपचारिक बच्चों के व्यक्तित्व को जानने के लिए इसका अधिक प्रयोग करते हैं।

(ङ) कहानी निर्माण पद्धतिः—इस विधि से बच्चों के विकृत व्यक्तित्व को जाना जाता है। उन्हें तरह-तरह के मनुष्यों के ऐसे चित्र दिखलाए जाते है जो द्व्यर्थक होते हैं। बच्चों को क्रमशः इन चित्रों को दिखलाया जाता है और उनसे प्रत्येक चित्र के सम्बन्ध में कहानी बनाने को कहा जाता है। बच्चा जिस समय चित्रों की परिस्थितियों का वर्णन करता है उस समय वह अपने संवेग, इच्छा, संघर्ष आदि को ही व्यक्त करता है जिसका उसे कुछ भी ज्ञान नहीं रहता। प्रयोग-कर्त्ता विश्लेषण करके गुणात्मक रूपेण उनके व्यक्तित्व को जानने मे समर्थ होता है। इसके अतिरिक्त और कई विक्षेप-पद्धतियाँ हैं जिनके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं।

व्यक्तित्व-मापक विभिन्न पद्धतियों का उल्लेख कर देने के बाद यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि अभी तक जितनी पद्धतियाँ हैं वे सभी व्यक्तित्व के शील-गुण विशेष पर ही प्रकाश डालती हैं, पूरे व्यक्तित्व पर नहीं। इसलिए अभी मनोवैज्ञानिक जगत में एक ऐसी विधि की जरूरत है जिससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व पर प्रकाश पड़ सके।

चौदहवाँ अध्याय

बाल-असंतुलन

(Maladjustment of Children)

सफल व्यक्तित्व-विकास के लिए यह आवश्यक है कि बच्चे विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों में अपने को सही रूप से अभियोजित करें। अभियोजनका ही दूसरा नाम संतुलन है। 'व्यक्तित्व-विकास' में इसके महत्व पर काफी प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु, कुछ बच्चों के व्यवहार ऐसे होते हैं जो सामाजिक दृष्टिकोण से हेय अथवा बुरा समझे जाते हैं। ऐसे व्यवहारों को, इसलिए, असंतुलित (Maladjusted) व्यवहार कह सकते हैं। इन व्यवहारों तथा इनके प्रति हुए सामाजिक प्रतिक्रियाओं के फलस्वरूप बच्चे का व्यक्तित्व भी असंतुलित हो जाता है। यों तो ऐसी क्रियाओं तथा व्यवहारों की संख्या बहुत है जिनमें कुछ वैयक्तिक और कुछ सामाजिक हैं, पर यहाँ हम सभी की चर्चा न कर केवल कुछ ऐसे प्रमुख व्यवहारों का वर्णन करेंगे जो अधिकांश बच्चों मे पाये जाते हैं।

१. अँगूठा-चूसना (Thumb sucking)

अँगूठा चूसने का व्यापार बहुत बच्चो में जन्मकाल से देखा जाता है, किन्तु कुछ बच्चो में यह जन्म के पश्चात पाया जाता है। ढाई तीन वर्ष तक बच्चो का यह सामान्य (Normal) व्यापार समझा जाता है, किन्तु इसके बाद यह असन्तुलित व्यक्तित्व (Maladjusted personality) का लक्षण समझा जाता है।

कारण :—विभिन्न मनोवैज्ञानिको द्वारा इसके विभिन्न कारण व्यक्त किए गए हैं। लेवी (Levy) का कहना है कि जब बच्चे का अँगूठा सहसा उसके मुख से स्पर्श कर जाता है तब वह अँगूठा चूसना शुरू कर देता है। अतः मुख और अँगूठा का सहसा सम्पर्क इस व्यापार के आरम्भ का कारण है। इसी प्रकार कुछ मनोवैज्ञानिकों का दृष्टिकोण है कि अँगूठा चूसना एक प्रकार की सहज-क्रिया है, इसलिए यह बच्चों मे देखा जाता है। इसके अतिरिक्त क्षुधा से पीड़ित होना भी इसका कारण बतलाया जाता है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि जब बच्चा दूध पीता रहता है और बीच में उसका

दूध पीना बन्द कर दिया जाता है तो वह अँगूठा चूसना शुरू कर देता है, क्योकि इससे उसकी क्षुधा शान्त होती है। कितने ऐसे भी मनोवैज्ञानिक हैं जिनके अनुसार अँगूठा चूसने से बच्चों को एक प्रकार का आनन्द मिलता है, इसलिए वे ऐसा करते है। इसी तरह इसके और भी कई कारण व्यक्त किए गए है। परन्तु, प्रश्न यह है कि स्वाभाविक (स्थायी) रूप से अँगूठा चूसने की आदत बच्चो में क्योंकर पड़ती है ? इस प्रश्न के उत्तरस्वरूप हम यह कह सकते हैं कि इसके कारण के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि जब बच्चा अपने आप को माता-पिता से तिरस्कृत पाता है तो वह इस व्यापार का प्रदर्शन उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए करता है। इस प्रकार माता-पिता का संवेगात्मक व्यवहार (Emotional Behaviour) ही इसका कारण है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का ऐसा मत है कि जब बच्चा किसी प्रकार के संवेगात्मक झोंके का शिकार बन जाता है तब वह अंगूठा चूसना प्रारम्भ कर देता है, क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछ सन्तुष्टि मिलती है।

अंगूठा चूसने के स्थायी व्यापार का जो कारण फ्रायडवादियों द्वारा दिया गया है वह बहुत रुचिकर और मनोहारी है। उनका कहना है कि इससे बच्चा अपनी लैंगिक इच्छा (Sexual desire) को संतुष्ट करता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, ऐसा करने से बच्चे को आनन्द मिलता है, इसलिए यदि लैंगिक इच्छा का प्रयोग हम प्रशस्त रूप में करें तो उनकी यह युक्ति अनुचित नहीं जँचती। किन्तु, इससे यह न समझना चाहिए कि इसकी व्याख्या सभी स्थलो पर फ्रायडवादियो के आधार पर की जा सकती है। वस्तुतः बच्चे के इस व्यापार मे एक अंग का नहीं, अपितु कई अंगो का हाथ रहता है।

प्रभाव :—बच्चा ऐसा करने से अन्य प्रकार की समाज-विहित आदतो को अपने में डालने मे असमर्थ हो जाता है क्योंकि ईर्सा के द्वारा वह अन्य लोगो का ध्यान अपनी ओर आसानी से आकृष्ट कर लेता है।

जब उसे ऐसा करते हुए उसके अन्य समवयस्क साथी तथा प्रौढ संरक्षक देखते हैं तब वे अज्ञानतावश उसे चिढाना शुरू कर देते है। इसके फलस्वरूप बच्चे अपने में कमी महसूस करने लगते है और वे परिणामतः हीन-भाव से पीड़ित रहने लगते हैं। ऐसा बच्चा समाज के सामने लज्जा का अनुभव करता है। इसलिए उसे एकान्त में रहना अच्छा लगता है। अन्ततोगत्वा वह एक असामाजिक प्राणी बन जाता है और अपने आप को समाज के माध्यम के अनुरूप अभियोजित करने में असमर्थ पाता है।

इसके अतिरिक्त, लगातार अंगूठा चूसने के कारण उसके मुँह में कई तरह की खराबियाँ आ जाती हैं।

दूर करने के उपायः—इस आदत को निर्मूल करने के लिए माता-पिता तथा शिक्षक को इसके कारण का पता लगाना आवश्यक है। कारण के दूर हो जाने से यह व्यापार भी क्रमशः विनष्ट हो जाता है। सामान्यतः माता-पिता को बच्चे के दूध पीने और भोजन पर विशेष ध्यान देना चाहिए ताकि बच्चा पूर्णरूपेण अपनी क्षुधा को संतृप्त कर सके। बहुत से माता-पिता इस आदत को दूर करने के लिए बच्चों का हाथ बाँध देते हैं और तरह-तरह से उसे अँगूठा चूसने के लिए असमर्थ बना देते हैं। किंतु, उनका ऐसा करना हितकर नहीं, क्योंकि ऐसा करने से बच्चे की यह आदत और प्रौढ़ हो सकती है।

इसको दूर करने के लिए माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों को उचित है कि वे बच्चों के सहयोग से इस आदत को छुड़ाने का प्रयास करें। जब कोई बच्चा ऐसा करे तो उसके इस व्यापार की आलोचना न की जाय और न तो उसे लज्जित ही किया जाय। ऐसा करने से यह दूर होने के बदले और अधिक मात्रा में हो जाता है। इसलिए बच्चे को यह न मालूम होने देना चाहिए कि यह असामान्य व्यवहार है और क्रमशः बात के सिलसिले में ऐसा न करने का सुझाव देना चाहिए।

बच्चों को भोजन के बाद आराम देने की उचित और पर्याप्त व्यवस्था करनी चाहिए और यदि सोने में बच्चा ऐसा करे तो उसे धीरे से रोक देना चाहिए।

उनका काल विभाजन इस प्रकार से करना चाहिए कि वे बराबर अपने कार्य में संलग्न रहें जिससे ऐसा करने का उन्हें अवसर न मिले। निश्चित समय के लिए निश्चित कार्य रहने पर बच्चों को ऐसा करने का मौका नही मिलता है।

बच्चों के खेलने की सुविधा पर विशेष ध्यान रखकर उन्हें अन्य साथियों के साथ खेलने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए। सामाजिक खेलों में संलग्न रहने से लज्जावश बच्चा ऐसा करने का प्रयास नहीं करता।

यदि वह सामाजिक खेलो को खेलने योग्य नही है तो उसे तरह-तरह के सुन्दर खिलौनों को देना विशेष हितकर सिद्ध होता है। बच्चे के दोनों हाथ खिलौने में लगे रहने के कारण वह ऐसा नहीं कर पाता और उसकी यह आदत धीरे-धीरे छूट जाती है।

यदि बच्चा समझदार है तो उसे एक कलम या पेंसिल और एक छोटी सी डायरी दे देनी चाहिए और उसे यह आदेश दे देना चाहिए कि वह दिन में जितनी बार इस व्यापार को करे उसे वह अपनी डायरी में अंकित कर ले। ऐसा करने से बच्चा धीरे-धीरे स्वतः अँगूठा चूसने की आदत को छोड़ देता है।

इन उपायों के अतिरिक्त और भी कितने उपाय माता-पिता और अभिभावकों के द्वारा सुविधानुसार काम में लाए जा सकते हैं और इस व्यापार का उन्मूलन किया जा सकता है।

२. नख काटना (Nail Biting)

अँगूठा चूसने की तरह नख काटने का व्यापार भी बच्चों में अधिक संख्या में देखा जाता है। किन्तु, जिस तरह अँगूठा चूसना प्रारम्भ से देखा जाता है उस तरह यह नहीं। दो-तीन वर्षों के बाद बच्चे नख काटना शुरू कर देते हैं। प्रौढ व्यक्तियों में यह व्यापार इतना प्रचलित है कि बहुत से लोग इसे सामान्य व्यापार समझते हैं और इसलिए बच्चों के इस व्यापार पर विशेष ध्यान नहीं देते। किंतु विचारतः यह असंतुलित व्यक्तित्व का परिचायक है, इसलिए इस पर संक्षिप्ततः प्रकाश डालना अप्रासंगिक नहीं होगा।

कारणः—इस व्यापार के कारण को प्रधानतः संवेगात्मक माना जाता है। केनर का कहना है कि जब बच्चे में संवेगात्मक तनाव (Emotional Tension) आता है तो वह नख काटता है क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछ सांत्वना मिलती है। अन्य मनोवैज्ञानिकों का ऐसा विचार है कि जिन बच्चों में यह व्यापार पाया जाता है वे अधिकतर चिड़चिड़े, बेचैन तथा विक्षुब्ध स्वभाव के होते हैं। जब उनके माता-पिता किसी कारणवश उन्हें मारते-फटकारते हैं तो वे संवेगात्मक तनाव का अनुभव करते हैं और उससे छुटकारा पाने के लिए वे ऐसा करते हैं। अभिप्राय यह कि अधिकांश मनोवैज्ञानिक उपर्युक्त कारण को ही प्रमुख स्थान देते हैं। किन्तु, विचार करने पर मालूम होगा कि यह व्यापार बच्चों में अन्य कारणों से भी पाया जाता है। जिस प्रकार अँगूठा चूसना ध्यान-आकर्षण के लक्ष्य से बच्चों में होता है उसी तरह यह भी उनके लिए ध्यान-आकर्षण का एक बहुत ही सरल एवं सुगम साधन है। जब बच्चे अपने को तिरस्कृत पाते हैं तब दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने लिए वे ऐसा करते हैं।

इस व्यापार को भी फ्रायड तथा उसके अनुयायी लैंगिक प्रकाशन (Sex expression) का साधन मानते हैं। उनका कहना है

कि ऐसा करने से बच्चे की लैंगिक इच्छा संतृप्त होती है और इसलिए वह ऐसा करता है। संभव है उनका यह कहना कुछ अंशों में सत्य हो, परन्तु इस आधार पर इसकी व्याख्या पूर्णतः संतोषप्रद नहीं हो सकती, क्योंकि इसका यही एकमात्र कारण नहीं होता। सयानो के जीवन में भी ऐसा देखने में आता है कि जब कोई किसी प्रकार से संक्षुब्ध हो जाता है तो वह यों ही नख काटना शुरू कर देता है। इसलिए केनर का मत यहाँ विशेष समुचित जँचता है।

प्रभावः—इस का असर बच्चों पर बुरा पडता है। जब वे ऐसा करते हैं और उनके अभिभावकों का ध्यान इधर आकृष्ट हो जाता है तब वे समझते हैं कि ध्यान आकृष्ट करने का इससे बढकर अन्य कोई साधन नहीं है। इसलिए वे अपने संरक्षकों का ध्यान उचित सामाजिक प्रतिक्रियाओं से अपनी ओर न कर इसी के द्वारा करते हैं।

ऐसा करने से बच्चे अपने को समाज के अयोग्य समझते है और वे कभी सामाजिक कार्यों मे हाथ नहीं बँटाते। माता-पिता तथा अन्य सयानों के डाँटने के फलस्वरूप हीन-भाव उनमें प्रबल हो जाता है और परिणामतः बच्चे अपने को जीवन-क्षेत्र मे पूर्णतः असमर्थ पाते हैं और इसकी परिपूर्ति अन्य प्रकार के असामाजिक व्यवहारो द्वारा करना प्रारम्भ कर देते है।

रोकने के उपाय :—इस व्यापार का असर बच्चो पर इतना बुरा पड़ता है कि वे समाज के योग्य नहीं रह जाते। इसलिये बालमनोविज्ञान के पंडितों ने इसे रोकने और दूर करने के लिए कई प्रकार के उपायों को व्यक्त किया है।

कुछ अभिभावकों ने इसे रोकने के लिए बच्चों को डाँटना-फटकारना या दण्ड देने का सुझाव दिया है, किन्तु यह सुझाव पूर्णतः सदोष है। जब नख काटने के लिए बच्चे को डाँटा जाता है, तब वह और भी अधिक मात्रा में ऐसा करना शुरू कर देता है। इसलिए इसके लिए किसी तरह की डाँट-डपट उचित नहीं। कितने ऐसे माता-पिता है जो इस आदत को छुडाने के लिए बच्चों के नख में कुनैन या अन्य ऐसे द्रवों को लगा देते है जिनसे बच्चों को कड़वापन का अनुभव होता है परन्तु यह उपाय भी अवैज्ञानिक तथा दोषपूर्ण है। ऐसा करने से इस व्यापार मे संवेगात्मक तनाव के कारण और विवृद्धि होती है।

सबसे सुगम उपाय इस आदत को दूर करने का संवेगात्मक तनाव के कारण का पता लगाकर उसे दूर करना है। ऐसा करने से बच्चे के इस व्यापार में कमी आने लगती है और धीरे-धीरे यह आदत छूट जाती है।

बच्चों के खिलौनो पर ध्यान देना लाभप्रद होता है। उनको ऐसे ऐसे

खिलौनों को देना चाहिए जिनमें उनकी अधिक अभिरुचि हो और जिनको खेलने में उनके दोनों हाथ लगे रहें। उन्हें ऐसे सामाजिक कामों में लगाना चाहिए जहाँ उन्हें एकान्तवास करने का अवसर न मिले। ऐसे व्यापार के लिए उनकी आलोचना न कर उनके भोजन, आराम, खेलने आदि कामों का एक समय निर्धारित कर देना चाहिए। उनके जीवन के चौबीस घंटों को विभिन्न क्रियाओं के लिए इस तरह निश्चित कर देना चाहिए कि उन्हें नख काटने का मौका न मिले।

बड़े बच्चों के लिए, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, डायरी-कौशल्य (Diary Technique) का इस्तेमाल अधिक उपयोगी सिद्ध होता है; किन्तु इन सब उपायों की उपादेयता माता-पिता तथा शिक्षकों पर ही निर्भर करती है।

३. स्पंद-विकृति (Tics)

स्पंद-विकृति छोटे बच्चों में नहीं देखी जाती, बल्कि छः वर्ष की अवस्था से लेकर चौदह वर्ष के बच्चों में यह व्यापार अधिकतर पाया जाता है। किसी उपयुक्त पारिभाषिक शब्द के अभाव में इस पद का प्रयोग यहाँ किया गया है, किन्तु इससे आँख मटकाना, मुँह चपचपाना, जीभ से दाँत खोदना, नाक फरकाना, हाथ अथवा बाहु झटकारना, गर्दन टेढ़ी करना, खाँसना, जँभाई लेना आदि सभी व्यापारों का बोध होता है। यद्यपि यह व्यापार कुछ प्रौढ़ व्यक्तियों में भी पाया जाता है, किंतु बच्चों में इसकी अधिकता रहती है। इसमें मुख-मंडल के किसी अंचल विशेष की पेशियों को सिकोड़ने का व्यापार होता है। इसे हम ऐच्छिक (Voluntary) नहीं कह सकते, क्योंकि यह कुछ समय के व्यवधान के अनन्तर स्वतः होता रहता है। इसकी चेतना बच्चे को नहीं रहती किन्तु ज्योंही कोई संकेत करता है त्योंही वह इससे भिज्ञ हो जाता है। अंचल विशेष की पेशियों के सिकोड़ने का व्यापार बहुत देर तक नहीं रहता, इसकी अवधि अधिक-से-अधिक दो से तीन सेकण्ड तक रहती है। देखने से ऐसा मालूम होता है कि ऐसा करने वाले के लिए इसका नियन्त्रण कठिन होता है।

कारणः—मनोवैज्ञानिकों ने इसकी व्याख्या कई प्रकार से की है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि बच्चों में स्पन्द-विकृति का व्यापार अनुकरणात्मक होता है। जब वे किसी प्रौढ़ व्यक्ति को मुख सिकोड़ते हुए देखते हैं तो वे भी वैसा करना शुरू कर देते हैं। जब उनके माता-पिता उन्हें इस व्यापार के लिए डाँटते या अन्य प्रकार के संवेगात्मक व्यवहार प्रदर्शित करते हैं

तब वे इसे ध्यान-आकर्षण का एक अच्छा साधन समझ लेते हैं और ऐसा करना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसा कई बार करने के कारण स्पन्द-विकृति की आदत पड़ जाती है।

कभी-कभी अरुचिकर उत्तेजना के कारण भी ऐसा होता है। यदि आँख, मुँह या गर्दन के किसी स्थान विशेष पर खुजलाहट मालूम होती है तब बच्चा उससे निर्मुक्त होने के लिए आँख मटकाना, गर्दन टेढ़ी करना, मुँह चाटना या खोदना आदि शुरू करता है। जब वह उस अरुचिकर उत्तेजना से छुटकारा पा जाता है तब भी वैसा करता है और वैसा करने की उसे आदत पड़ जाती है। इस व्यापार का उसे उस समय तक ध्यान नहीं होता है जब तक कि कोई दूसरा उसे नहीं कहता। इस तरह इसका आविर्भाव शारीरिक कारणों से भी होता है।

इसके अतिरिक्त इस व्यापार का कारण मानसिक भी है। जब बच्चे में किसी तरह का मानसिक अथवा संवेगात्मक संघर्ष विद्यमान रहता है तब वह पेशियों (Muscles) के सिकोड़ने का व्यापार करता है क्योंकि ऐसा करने से उसे कुछ शांति मिलती है और वह अपने को कुछ हल्का पाता है। बच्चों में कई तरह की शारीरिक आवश्यकताएँ—भूख-प्यास, लैंगिक-प्रवृत्ति आदि विद्यमान रहती हैं। उन सब को संतुष्ट करने के लिए उनमें इच्छाओं का आविर्भाव होता है। जो इच्छाएँ समाज-विहित होती हैं उनकी संतुष्टि होती है और आवश्यकताओं की भी परिपूर्ति होती है। परन्तु जो इच्छाएँ सामाजिक माध्यम के प्रतिकूल होती हैं उनका दमन (Repression) हो जाता है और वे अचेतन में पडी रहती है। किन्तु,वे निरन्तर चेतना मे आने का प्रयास करती हैं। जब उन्हें उनके वास्तविक रूप में चेतना में आने का अवसर नही मिलता तब वे विभिन्न रूपों से अपनी संतुष्टि करती हैं। स्पंद-विकृति से बच्चा इस संवेगात्मक तनाव से छुटकारा पाता है, इसलिए वह ऐसा करता है।

ये जितने भी उपर्युक्त कारण हैं उनमें से कोई एक कारण हमेशा इस व्यापार के लिए पर्याप्त नहीं होता। कभी-कभी स्पंद-विकृति शारीरिक और मानसिक दोनो कारणों के फलस्वरूप होती है।

प्रभावः—इसका असर अन्य अवांछनीय व्यापारों की तरह ही बच्चे के जीवन पर पडता है। बच्चा इसे ध्यान-आकर्षण का एक सुन्दर साधन समझ लेता है, इसलिए वह कभी समाजविहित आदतों को अपनाने का प्रयास नहीं करता। समवयस्क बच्चों तथा अन्य सयानो के चिढाने के कारण वह अपने को समाज के अयोग्य समझता है और उनसे अलग रहने की कोशिश करता

है। हीन-भाव का आविर्भाव हो जाने के कारण वह समाज में अभियोजित करने में असमर्थ होता है। दूसरों को देखने में भी यह बुरा मालूम होता है, इसलिए उसके साथ कोई रहना नहीं चाहता। उसे मित्रों का भी अभाव रहता है।

रोकने के उपायः—इस आदत को रोकना या छुड़ाना सरल नहीं है। इसलिए माता-पिता तथा शिक्षक को बहुत सावधानी से काम लेना चाहिए। जब बच्चा ऐसा करे तो इसके लिए डाँटना-फटकारना उचित नहीं। उसे किसी तरह से यह नहीं मालूम होने देना चाहिए कि यह आदत बुरी और हास्यास्पद है, अन्यथा इसकी प्रबलता और बढ़ जाने की संभावना है। जैसा कि कारण पर प्रकाश डालते हुए व्यक्त किया गया है, इसका आविर्भाव शारीरिक और मानसिक दोनो कारणों से होता है। इसलिए किसी दक्ष डाक्टर से शारीरिक परीक्षा करवाकर शारीरिक दोष को दूर करना हितकर होता है। यदि किसी प्रकार का शारीरिक दोष न मिले तो यह समझ लेना चाहिए कि इसका कारण संवेगात्मक है। अतएव घर तथा पाठशालीय अंगों को सुधारने का यथासंभव प्रयास करना लाभप्रद सिद्ध होता है। घर तथा पाठशाला में उचित शिक्षा-दीक्षा होने पर बच्चा किसी प्रकार के संवेगात्मक तनाव का अनुभव न कर सकेगा और ऐसा व्यापार स्वतः नष्ट हो जाएगा। माता-पिता को यह उचित है कि बच्चों की इच्छओं की तृप्ति वे यथासंभव सामाजिक तरीके से करें ताकि उनकी किसी इच्छा का दमन न हो। इच्छाओं के दमन के अभाव में यह आदत स्वतः नष्ट हो जाती है। बच्चो को खेलने-कूदने, सोने और अन्य कार्यों के लिए निरन्तर प्रोत्साहित करना चाहिए। उनमें इस तरह का भाव भर देना चाहिए कि माता-पिता तथा अन्य अभिभावक उनके विश्वास-पात्र और सहयोगी है। इस कुटेव को दूर करने के लिए बच्चों का विश्वास-पात्र बनना तथा उनका सहयोग प्राप्त करना नितान्त आवश्यक है। ऐसा करने के पश्चात ही किसी प्रकार का उपचार इस आदत को दूर करने में लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

४. दिवास्वप्न (Day Dreaming)

दिवास्वप्न का पता लगाना बच्चों मे एक कठिन कार्य है। यो तो यह सभी बच्चों में कुछ अंश मे पाया जाता है, किन्तु जब उसमे प्रबलता आ जाती है और वे निरन्तर इसी मे तन्मय रहने लगते है तब यह असंतुलित व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। इसे हवाई किला बनाना, विचार-तरंग, विश्रृंखल ध्यान आदि कई नामो से पुकारते हैं। छः वर्ष तक की अवस्था वाले बच्चो में यह व्यापार देखने

में नहीं आता, क्योंकि इस अवस्था तक उनका अधिकांश जीवन खेल-कूद में ही व्यतीत होता है। किंतु, जब वे पाठशाला में प्रवेश करते हैं और अपने को उस वातावरण के अयोग्य पाते हैं तब उनमें दिवास्वप्न का आविर्भाव होता है। वे वास्तविक जगत की असफलता से ऊब कर कल्पना-संसार का निर्माण करते हैं जहाँ उनके लिए सभी कुछ साध्य रहता है। यह एक प्रकार की ऐसी निष्क्रिय मानसिक क्रिया है जिसमें दिवास्वप्नदर्शी (Day Dreamer) को कुछ भी प्रयास नहीं करना पड़ता। साहचर्य (Association) के कारण विचारों का ताँता लगा रहता है और उसी विचार-विश्व में वह अपने को हर तरह से सुखी पाता है। इसका सम्बन्ध भविष्य की कल्पना से रहता है जिसमें दिवास्वप्नदर्शी नायक (Hero) का काम करता है। विजयी नायक (Conquering Hero) अपने कल्पना-ससार में वास्तविक जगत की सभी कठिनाइयो को परास्त कर अपने लक्ष्य को प्राप्त करता है। यदि कोई बच्चा पाठशालीय कार्य में पिछड़ा रहता है तब वह दिवास्वप्न में परीक्षा मे सर्व प्रथम आने के आनन्द को लूटता है। किन्तु, जो विजित नायक रहता है वह वहाँ भी अपने को कठिनाइयों से घिरा हुआ तथा विश्व की विभिन्न परि-स्थितियों को अपने प्रतिकूल पाता है।

कारणः—इसका आविर्भाव माता-पिता तथा अन्य संरक्षकों के अज्ञान-वश होता है। वे बराबर अपने बच्चों को शांत होने के लिए जोर देते अथवा विवश करते हैं। जब कभी बच्चे खेलना-कूदना या अन्य काम शुरू करते हैं तब उन्हे शान्त रहने के लिए आदेश दिया जाता है। परन्तु, किसी न किसी काम मे लगा रहना बच्चों का स्वभाव होता है, इसलिए जब कभी उन्हें शान्त रहने के लिए माता-पिता आदेश देते है और ऐसे व्यवहार के लिए उनकी हर तरह से प्रशंसा करते है, तब वे दिवास्वप्न में संलग्न हो जाते हैं। शान्त रहने मात्र से बच्चों की आवश्यकताओ की परिपूर्ति नही होती, वल्कि विभिन्न क्रियाओं से होती है। इसलिए जब उन्हे बाध्यता के कारण किसी प्रकार की क्रिया करने का अवसर नहीं मिलता तब वे दिवास्वप्न के रूप में मानसिक क्रिया करके संतुष्ट होते हैं।

बच्चों मे जब किसी कारणवश हीन-भाव की प्रबलता होती है तो वे अन्य साथियो के साथ काम करने अथवा खेलने मे अपने को असमर्थ पाते है। वे उनसे अलग रहकर दिवास्वप्न में तल्लीन हो जाते है। वहाँ वे अपने को सर्व-श्रेष्ठ पाते हैं जिससे उन्हें आत्म संतुष्टि होती है। यह भाव बच्चो मे माता-पिता के डाँटने, दंड देने, आलोचना करने आदि से उत्पन्न होता है। बार बार

ऐसा करने से बच्चा अपने को अयोग्य समझकर अन्य कामों में भी मन नहीं लगाता जिसके फलस्वरूप वह दिवास्वप्न का शिकार बन जाता है।

जब अन्य समवयस्क साथी बच्चे को अपने खेल में भाग नहीं लेने देते अथवा किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक दोष के कारण जब बच्चा सामूहिक खेलों में भाग नहीं लेता तब वह इस सामूहिक खेल में भाग लेने के आनन्द को अपने दिवास्वप्न में लूटता है।

जब बच्चे से उसकी योग्यता के बाहर काम कराया जाता है जिससे उसका मन उसमें नहीं लगता तब भी वह अपने कल्पना-संसार का निर्माण करता है। जब बच्चे पाठशाला के कामों में अपने को असमर्थ पाते हैं या किसी कारणवश उन कामों में उनका मन नहीं लगता, तब वे दिवा-स्वप्न में मग्न होते हैं। अभिप्राय यह कि जब बच्चे को अपने काम में असफलता हाथ लगती है तब वह कल्पना-संसार का निर्माण करता है जहाँ उसे सभी तरह की सफलताओं को प्राप्त करने में किसी तरह की कठिनाई नहीं होती।

प्रभावः—इसका प्रभाव भी बच्चों के जीवन पर बहुत घातक सिद्ध होता है। यद्यपि इस व्यापार से बच्चों को क्षणिक संतुष्टि का अनुभव होता है, किन्तु इसके फन्दे में पडकर वे स्वयं समाजोपयोगी नहीं रह जाते। समाज के लिए ऐसे बच्चे भारस्वरूप हो जाते हैं और जब इसकी अधिकता हो जाती है तब उनमें कई प्रकार की घातक मानसिक व्याधियों (Mental Diseases) का आविर्भाव हो जाता है। दिवास्वप्न में संलग्न रहने वाले बच्चे कभी किसी प्रकार का रचनात्मक कार्य करने में सफल नहीं होते। बच्चे निरुत्साही और अविश्वासी बन जाते हैं। इसलिए वे किसी प्रकार के कार्य में हाथ बटाने से अपना जी चुराते हैं। वे अपने उत्तरदायित्व से पीछे रहकर हमेशा हीन-भाव से पीड़ित रहते हैं। इसलिए ऐसे बच्चों का समाज में सम्मान भी नहीं होता। इस व्यापार में संलग्न बच्चों में वास्तविकता (Reality) और कल्पना (Imagination) व्यावहारिक और अव्यावहारिक (Impractical) अन्तरों को जानने की भी क्षमता नहीं रह जाती। अतएव ऐसे बच्चे वास्तविक कार्यों से अपना मन हटा कर अपनी सारी शक्ति का व्यय इसी में करते हैं जिसके परिणामस्वरूप वे निकम्मे हो जाते है। वे अपनी सभी अतृप्त इच्छाओं को दिवा-स्वप्न में संतृप्त कर लेते हैं, इसलिए वे वास्तविक जगत में कार्य करने की परवाह तक नहीं करते।

रोकने के उपायः—इस घातक व्यापार से बच्चों को निर्मुक्त करने के लिए माता-पिता तथा अन्य अभिभावकों को अपना व्यवहार ऐसा रखना

चाहिए कि उन्हें अपने को अयोग्य समझने का मौका न मिले। ऐसा वे ही बच्चे करते हैं जिनके माता-पिता उन्हें बराबर खिझाते अथवा दंड देते रहते हैं। ऐसे व्यवहारों के प्रदर्शन से बच्चे अपने में कमी अनुभव करने के कारण किसी सामाजिक खेल या कार्य मे अपना हाथ नहीं बटाते। इसके फलस्वरूप उनमें यह व्यवहार आविर्भूत होता है।

माता-पिता को बच्चो का विश्वासी बनना नितान्त आवश्यक है। ऐसा सम्बन्ध स्थापित कर लेने पर दिवा-स्वप्न के स्वरूप, लाभ, हानि आदिको स्पष्ट करते हुए यह व्यक्त कर देना आवश्यक है कि यह व्यापार उनके लिए घातक तथा अवांछनीय है।

उनका समय इस प्रकार विभाजित करना चाहिए कि उन्हें खेलने, कूदने, पढ़ने, सोने आदि की पर्याप्त सुविधा मिले। प्रत्येक काम के लिए एक समय निश्चित कर देना विशेष हितकर होता है। पाठशाला में इस बात का ध्यान रखना शिक्षक के लिए नितान्त आवश्यक है कि पाठशालीय कार्य बच्चों की योग्यता तथा रुचि के अनुरूप हों ताकि उन्हें वे भार-स्वरूप न प्रतीत हों।

खेलने के साधनो का इस तरह प्रबन्ध करना चाहिए कि बच्चों के खिलौने उनकी योग्यता और अभिरुचि के माध्यम के हो। उन्हे सामाजिक कामों के लिए निरन्तर प्रोत्साहित करना दिवा-स्वप्न को कम करने मे विशेष सहायक होता है। इन उपर्युक्त उपायों से हम बच्चो को इस घातक व्यापार से निर्मुक्त कर सकते हैं।

५. हीन-भाव (Inferiority feeling)

जिस प्रकार बालकों के दिवा-स्वप्न का ज्ञान सामान्यावस्था मे सयानो को नहीं होता उसी प्रकार हीन-भाव की भी जानकारी उन्हें आसानी से नही होती। किन्तु, जब इसमे अधिकता आ जाती है तब प्रौढ़ व्यक्ति भी उसके इस दोष से अभिगत हो जाते हैं। जो बच्चा इससे पीडित रहता है वह अपनी शक्ति में विश्वास नहीं करता और वह अपने को किसी भी कार्य के योग्य नही समझता है। हीन-भाव से जो बच्चा ग्रस्त रहता है वह अपने मे हर तरह की कमी महसूस करता है। इस सम्बन्ध में एडलर की खोजें विशेष महत्त्वपूर्ण है। उसका कहना है कि जो बच्चा हीन-भाव से पीडित रहता है वह अपने को सब से हीन (तुच्छ) समझता है। वह सभी प्रकार की सामाजिक परि-स्थितियों से भयभीत होता है और परिणामतः एकान्त जीवन व्यतीत करने लगता है। इसका प्रभाव उसकी चिन्तन-प्रक्रिया पर इतना पड़ता है कि उनके

सभी व्यवहार समाज के अयोग्य होते हैं। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इसका ज्ञान आसानी से दूसरे व्यक्तियों को नहीं होता, इसलिए इसके प्रमुख निम्नांकित लक्षणों पर ध्यान देना आवश्यक है।

लक्षण :—जिसमें हीन-भाव विद्यमान रहता है वह सामाजिक जीवन व्यतीत करने की अपेक्षा एकान्तवास करना अधिक पसन्द करता है। इसकी चेतना उसमें बराबर बनी रहती है कि उसे कौन क्या कहता है और दूसरों के सामने वह लज्जा का अनुभव करता है। विपक्ष में कुछ कह देने पर वह बहुत गम्भीर हो जाता है, क्योंकि उसे वह बहुत खटकता है। अपने इस भाव को छिपाने के लिए वह अधिकांश असामाजिक व्यवहारों को करता है। वह निरन्तर अपनी असफलताओं के लिए दूसरों को दूषित करता है और जब कहीं दो आदमी आपस मे बात-चीत करते हैं तो वह यही समझता है कि उसी के सम्बन्ध में वे बातें कर रहे हैं। वह कई प्रकार के अधम व्यवहारों द्वारा अपनी प्रधानता प्रदर्शित करने का प्रयास करता है और दूसरों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अवांछित कामों को करता है। हीन-भाव के सभी लक्षण एक ही साथ किसी बच्चे मे नहीं मिलते।

कारण:—इसके शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनों कारण होते है। कभी इसका अविर्भाव मनोवैज्ञानिक कारणों से होता है और कभी शारीरिक कारणों से। कभी-कभी दोनों प्रकार के कारणों का समान हाथ इसमें रहता है।

जब बच्चा लँगड़ा, काना, कुरूप होता है तब वह अपने को और लोगों से हीन पाता है जिससे उसमे हीन-भाव का आविर्भाव होता है। किसी प्रकार का शारीरिक दोष बच्चे को अन्य बच्चों के समान खेलने कूदने और काम करने के लायक नही रखता। इससे स्वतः उसमे हीन-भाव उत्पन्न हो जाता है।

जब माता-पिता तथा अन्य संरक्षक बराबर बच्चे को यह जताते रहते हैं कि परिवार मे उसकी कोई आवश्यकता नही है तब वह इस भाव से पीड़ित होता है।

बच्चो को अधिक चिढ़ाना, दूसरो के साथ उनकी अनुचित तुलना करना उसके सभी व्यवहारों के लिए डॉटना, दंड देना आदि ऐसे व्यवहार है जिनसे बच्चे मे हीन-भाव की उत्पत्ति होती है।

नख काटना, अँगूठा चूसना, मुख सिकोड़ना आदि दुर्गुण भी बच्चे के हीन-भाव के कारण होते हैं। जब बच्चा पाठशाला के कार्यों को अच्छी।

करने में समर्थ नहीं होता और अन्य बच्चे उससे अच्छा करते हैं तब उसमें यह भाव आविर्भूत होता है। हस्तमैथुन प्रभृति के कारण भी बच्चा इस दोष का शिकार बन जाता है। इसी प्रकार वे सभी अंग इस भाव को समुत्पन्न करने में समर्थ होते हैं जिनके कारण बच्चा अपने को औरों की अपेक्षा अयोग्य एवं हीन पाता है।

प्रभावः—बाल-जीवन पर इसका असर जो पड़ता है उसका वर्णन इसका लक्षण व्यक्त करते समय किया जा चुका है। यहाँ इतना कह देना अप्रासंगिक नहीं होगा कि इससे लाभ और हानि दोनों है। यदि इसकी मात्रा बच्चे में कम रहती है और उसको उचित शिक्षा-दीक्षा उसके संरक्षकों से मिलती है तब वह संसार में सुन्दर से सुन्दर काम को कर डालता है। महापुरुषों के ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जो बचपन मे किसी प्रकार के शारीरिक अभाव के कारण, इस भाव से पीड़ित रहते थे। प्रौढ़ होने पर वे उसकी पूर्ति अच्छे कामों को करके किए। अतः जीवन में सफल होने के लिए कुछ मात्रा में हीन-भाव का होना आवश्यक है। एडलर ने इसकी परिपुष्टि के लिए अनेक उदाहरणो को दिया है। नेपोलियन बोनापार्ट, अरस्तु आदि महापुरुष अपने बाल काल मे इसके शिकार थे। इसकी मात्रा बच्चे में न्यून रहने पर ही इससे उपकार होता है।

यदि इसकी प्रबलता बढ़ जाती है तब उपकार के बदले अपकार होता है। उसे अपनी असफलता का बराबर भय बना रहता है। वह किसी प्रकार का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर नहीं लेना चाहता और वास्तविकता से हमेशा दूर रहने की कोशिश करता है। वह दिवास्वप्न तथा अन्य मनोरचनाओं (Mechanilsms) द्वारा अनुचित रूप से अपने को वातावरण में अभियोजित करता है। दिवास्वप्न का प्रभाव बच्चे के जीवन पर कितना घातक पड़ता है इस पर प्रकाश डालने की कोई जरूरत नहीं। इस दोष से युक्त बच्चा ऐसे व्यापारो को करता है जिसे समाज अपराध के नाम से पुकारता है। सरांश यह कि बच्चा इसके कारण पूर्णतः असमर्थ होने के कारण समुचित रूपेण अपने को सामाजिक वातावरण में अभियोजित कहीं करता, इसलिए वह कभी जीवन में सफल नहीं होता है।

दूर करने के उपाय :—हीन-भाव के शारीरिक तथा मनोवैज्ञानिक दोनो कारण होते हैं। इसलिए इस दोष को दूर करने के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि इसका कारण कोई शारीरिक दोष है अथवा मानसिक अभाव। कारण को जानकर इसका उपचार करना श्रेयस्कर है।

बच्चे में यदि यह दोष किसी प्रकार के शारीरिक अभाव के कारण है तब अभिभावकों को उसके साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिए जैसा कि वे अन्य सामान्य बच्चों के साथ करते हैं। उसको ऐसी शिक्षा नितांत आवश्यक है जिससे वह अपने को अन्य सामान्य बच्चों के समान समझ सके। सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में उससे यह व्यक्त कर देना चाहिए कि उसका अभाव उसके पथ में बाधक होने लायक नहीं है। उसका मजाक उड़ाना या उसे डाँटना-डपटना कभी उचित नहीं और न तो उसकी तुलना अनुचित रूप से अन्य सामान्य बच्चों के साथ ही करना श्रेयस्कर है। ऐसी परिस्थितियों को दूर रखना चाहिए जिनमें बच्चा अपने को औरों की अपेक्षा हीन समझने का अवसर पा सके। बच्चे का आत्मविश्वासी बनना इसको दूर करने के लिए बहुत जरूरी है और अनावश्यक सहायता या सहानुभूति प्रदर्शित करना कदापि हितकर नहीं। उसकी अनावश्यक आलोचना से बचना चाहिए और स्कूल का कार्य इस तरह का रखना चाहिए कि वह उसकी योग्यता के अनुरूप हो। इसके अतिरिक्त उसके चौबीस घण्टों को इस तरह विभाजित कर देना चाहिए कि वह अपने सभी कामों को अच्छी तरह सफलतापूर्वक कर सके। आवश्यकतानुसार उसे सहायता देना भी हितकर सिद्ध होता है।

उपर्युक्त उपाय शारीरिक दोषयुक्त बच्चों के लिए लाभ-प्रद हैं किन्तु जिनमें हीन-भाव मनोवैज्ञानिक कारणों से हो उनके लिए निम्नांकित व्यवस्था तथा उपचार मनोवैज्ञानिकों द्वारा निर्धारित किए गए हैं।

सर्व-प्रथम बच्चे में आत्मविश्वास का भाव भरना चाहिए, इसके लिए सबसे सरल तरीका यह है कि वह जो उचित कार्य अपनी योग्यतानुसार करे उसके लिए उसकी प्रशंसा की जाय और समुचित पुरस्कार दिया जाय। ऐसा करने से बच्चे में स्वतः आत्मविश्वास का भाव अंकुरित होकर प्रौढ होगा।

उसको यह भली-भाँति समझाना और दिखलाना चाहिए कि सभी लोग सभी क्षेत्रों में सफल मनोरथ नहीं होते, बल्कि क्षेत्र विशेष में ही सफलता हाथ लगती है। ऐसे अवसरों को उपस्थित करना चाहिए जहाँ कि बच्चा अपने को योग्य समझ सके और ऐसी परिस्थितियों को उसके सामने नहीं आने देना चाहिए जिनमें वह अपने को असफल पा सके।

उसे अपने अभाव को दूर करने के लिए प्रोत्साहित करना और उसकी योग्यता विशेष के अनुसार काम देना श्रेयस्कर होता है। उसे अपने उत्तरदायित्व को स्वयं सम्भालने देना चाहिए और किसी समस्या के उपस्थित हो जाने पर उसके सम्बन्ध में उसे स्वयं सुलझाने के लिए प्रोत्साहित करना

चाहिए। यथासम्भव उसकी आलोचना, भर्त्सना आदि से उसे दूर रखना चाहिए ताकि वह निर्भीक रह सके।

समय समय पर बच्चे की सामाजिक और पारिवारिक सार्थकता को व्यक्त करना इस दोष को दूर करने मे सहायक होता है। उसके सामने ऐसे अन्य बच्चों का उदाहरण उपस्थित करना चाहिए जो जीवन संग्राम मे सफल मनोरथ हुए हो और उसको ऐसे कामो में नियुक्त करना चाहिए जिसमे सफलता मिलने से उसकी हिम्मत अन्य कामों को करने के लिए बढे। उसे सामूहिक कार्यों के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए जहाँ वह सब के सामने अपने को गौरवान्वित समझ सके।

उपर्युक्त व्यवस्थाओं से बच्चे का छुटकारा हीन-भाव से हो सकता है। हाँ, इस सम्बन्ध मे यह स्मरणीय है कि इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए बच्चे के पारिवारिक, पाठशालीय तथा सामाजिक अवस्थाओ (Conditions) को सुधारना नितांत आवश्यक है।

६. हस्तमैथुन (Masturbation)

सभी बच्चे और सयानो मे हस्तमैथुन किसी न किसी समय कुछ अंशो मे पाया जाता है। इसलिए अधिकांश लोग इसे एक सामान्य व्यापार समझते है, किन्तु जब यह आदत स्थायी बन जाती है तब इसे लोग असंतुलित व्यक्तित्व का लक्षण समझते हैं। मनोवैज्ञानिकों का ऐसा दृष्टिकोण है कि यह व्यापार लडकों मे बारह से सत्रह तक और लड़कियो में पाँच से ग्यारह वर्ष तक पाया जाता है। जिनमें यह आदत चिरस्थायी हो जाती है वे बराबर इसे करते हैं। विभिन्न खोजो के आधार पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि हस्तमैथुन-कर्त्ताओं मे बालिकाओं की संख्या दश प्रतिशत और लड़कों की संख्या पच्चीस प्रतिशत है।

यों तो प्रशस्त अर्थ में पैर हिलाने, खुजलाने आदि व्यापारो को भी हम हस्तमैथुन कह सकते हैं, किन्तु संकीर्ण अर्थ मे यदि हम इसकी परिभाषा करें तो कह सकते है कि हाथ या किसी अन्य कृत्रिम साधन से लैंगिक आनन्द (Sexual pleasure) को प्राप्त करने के लिए मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करना हस्तमैथुन कहलाता है।

अब प्रश्न है कि बच्चा यह कैसे जानता है कि गुप्तांग अथवा मूत्रेन्द्रिय को उत्तेजित करने से लैंगिक आनन्द मिलता है? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि जिस तरह वह अपने शरीर के अन्य अंग-प्रत्यंगो और उनकी क्रियाओ का ज्ञान प्राप्त करता है उसी तरह इसका भी बोध उसे होता है। उसकी यह जानकारी सामान्य होती है और वह इसे कोई महत्व नहीं देता

है। इसीलिए हस्तमैथुन बहुत से बच्चों में अस्थायी होता है। किंतु जिन बच्चों के माता-पिता मूत्रेन्द्रिय स्पर्श को अधिक महत्व देते हैं और ऐसा करने के लिए उनकी भर्त्सना करते है उनमें यह व्यापार स्थायी रूप से देखा जाता है। किशोरावस्था के बच्चों में यह परिपक्वता का परिचायक होता है।

साधारणतः बच्चे अपने इन्द्रिय को स्वयं उत्तेजित कर सुखद अनुभव का आनन्द पाते हैं, परन्तु कभी-कभी दो बच्चे मिलकर भी ऐसा करते हैं। जब दो बच्चे इसमें संलग्न होते हैं तब वे स्वयं अपनी इन्द्रिय को उत्तेजित नहीं करते, बल्कि एक दूसरे की इन्द्रिय को उत्तेजित करता है। इसी प्रकार के हस्तमैथुन की अधिकता है, किन्तु ऐसा भी देखने में आता है कि लड़कियाँ अपनी इन्द्रिय में कोई लम्बा पदार्थ डालकर ऐसा करती है।

कारणः—बच्चों में इसका आविर्भाव कई कारणों से होता है। जब अनायास उनका हाथ इन्द्रिय पर पड़ता है तब वहाँ उन्हें एक सुखद संवेदना का अनुभव होता है, इसलिए वे उसे उत्तेजित करने लगते हैं। माता-पिता जब कभी बच्चों को इन्द्रिय स्पर्श करते हुए देखते हैं तब वे इस व्यापार के लिए संवेगात्मक व्यवहार प्रदर्शित करते है। इसलिए बच्चा कुछ ही दिनों में इस व्यापार के महत्व को समझने लगता है। यह ध्यान आकृष्ट करने का उसे एक सुगम साधन मिल जाता है और दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए वह हस्तमैथुन की आदत डाल लेता है।

जब इन्द्रिय के सन्निकट के अंचलों में खुजली, दाद आदि ऐसे चर्म रोग हो जाते हैं जिन्हें खुजलाने में अच्छा लगता है, तब उस स्थान को खुजलाते वक्त बच्चा इस इन्द्रिय को अनायास उत्तेजित करता है। उसे ऐसा करने से एक विचित्र एवं अभिनव अनुभव होता है। यह अनुभव इतना सुखद तथा रुचिकर प्रतीत होता है कि वह हस्तमैथुन का अभ्यासी हो जाता है।

धोती, पायजामा या पैंट के रगड़ से इन्द्रिय में गुदगुदी मालूम होती है और उस गुगगुदी का आनन्द लेने के लिए बच्चा इन्द्रिय को रगड़ने लगता है। कभी-कभी माता-पिता क्रुद्ध होकर दिन में उसे अकेले रहने के लिए विवश करते हैं या कोठरी में बन्द कर देते हैं। जब उसे कोई काम करने का अवसर नहीं मिलता, तब वह हस्तमैथुन शुरू करता है। इसके अतिरिक्त प्रायः ऐसा देखने में आता है कि जब बच्चा किसी प्रकार के संवेगात्मक तनाव का शिकार बनता है तब वह यह शुरू करता है, क्योंकि ऐसा करने से उसे आत्मसंतोष होता है।

जब कई बच्चे एक साथ सोते है तब उनमें से कोई बच्चा अपनी श्रेष्ठता

प्रदर्शित करने के लिए अन्य बच्चों को ऐसा करने के लिए प्रोत्साहित करता है। इसलिए बच्चे इसे करने के अभ्यासी हो जाते हैं। कभी-कभी सयाने भी बच्चों को ऐसा करने के लिए विवश करते है और बच्चे इस मे संलग्न हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त, और कई कारण इस व्यापार के हैं, किन्तु उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

प्रभावः—इसका असर बच्चों के स्वास्थ्य तथा जीवन के अन्य पहलुओं पर क्या पडता है, इस सम्बन्ध मे मनोवैज्ञानिकों मे मतभेद है। कुछ लोगो का ऐसा विश्वास है कि यह एक गन्दी तथा अपमानजनक आदत है। इससे बच्चे के शरीर मे शिथिलता आती है और तरह-तरह के शारीरिक रोगों के कारण उसका शरीर दुर्बल हो जाता है। मानसिक अवस्था भी असामान्य हो हो जाती है और इस तरह वह कई प्रकार के मानसिक रोगो का शिकार बन जाता है। उसमे नपुंसकता (Impotency) और असमर्थता आ जाती है। परन्तु, दूसरे पक्ष के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यह आदत जैसी भी हो, इससे किसी प्रकार की मानसिक या शारीरिक दुर्बलता नही आती और न तो बच्चे के मुखमंडल मे किसी प्रकार की खराबी आती है। सच्ची बात यह है कि जो बच्चा हस्तमैथुन करता है वह समझता है कि यह आदत बुरी और निन्दनीय है तथा इसीसे कई प्रकार की हानियाँ होती हैं। इसी हानि की मनोवृत्ति (Attitude) से बच्चे मे इस व्यापार से शारीरिक और मानसिक कमजोरी तथा अन्य लक्षण आविर्भूत हो जाते हैं। इसलिये हस्तमैथुन से नही, बल्कि इसके प्रति जो मनोवृत्ति बन जाती है उसी के चलते इसका असर बच्चे के जीवन पर बुरा पड़ता है। जिस समय वह ऐसा करता है ठीक उसके तुरत बाद पश्चात्ताप करने लगता है जिसके परिणाम स्वरूप उसमें मानसिक संघर्ष आविर्भूत होता है और वह अपने को दोषी और हीन समझने लगता है। अतएव इस भाव से पीड़ित रहने के कारण वह किसी से मिलना नही चाहता और अकेले रहने लगता है। वह पारिवारिक तथा अन्य प्रकार के झंझटों से भी दूर रहने की कोशिश करता है।

इस तरह कुछ लोगों के अनुसार बच्चो का यह असामान्य व्यापार लाभप्रद और कुछ लोगो के अनुसार हानिप्रद है। परन्तु, यदि हम इस पर गम्भीरतया विचार करे तो मालूम होगा कि यद्यपि यह आदत स्वतः हानिप्रद नहीं है, किन्तु इसके प्रति जो समाज का दृष्टिकोण है उसके चलते बच्चों को बहुत दुःख उठाना पड़ता है। इसी मनोवृत्ति के कारण बच्चा दुर्बल और आलसी हो जाता है। लोग उसे हीन दृष्टि से देखते है जिससे उसमें हीन-भाव का

आविर्भाव होता है। इस कारण वह किसी से मिलना नहीं चाहता और अपने को सामाजिक अभियोजन के अयोग्य पाता है। कभी-कभी यह आदत इतनी घातक सिद्ध होती है कि बच्चा सभी आवश्यक कार्यों की उपेक्षा कर उसी में निरन्तर संलग्न रहता है। ये सभी कार्य उसके सामाजिक अभियोजन में बाधक होते हैं, अतः वह हीन-भाव से पीड़ित होकर समाज से विहित कार्यों को करने में असमर्थ होता है।

यद्यपि इससे किसी प्रकार की शारीरिक अथवा मानसिक व्याधि प्रायः नहीं होती तथापि इसे एक अवांछनीय एवं असामाजिक आदत समझना चाहिए, क्योंकि यह बच्चे के असंतुलित व्यक्तित्व का परिचायक है।

दूर करने के उपाय :—इस आदत को दूर करने के लिए मनोवैज्ञानिकों द्वारा विभिन्न उपायों को व्यक्त किया गया है। सर्वप्रथम हमें यह ध्यान में रखना है कि जिन-जिन कारणों से इस व्यापार की आदत बच्चों में पड़ती है उन्हें दूर करना आवश्यक है। उन कारणों को दूर कर देने से यह आदत स्वतः छूट जाती है। जब छोटे बच्चों में यह व्यापार देखा जाय तो माता-पिता तथा अन्य शुभार्थियों के लिए यह आवश्यक है कि वे उसकी उपेक्षा कर दें, अन्यथा यह आदत और जोर पकड़ लेगी। इस व्यापार की उपेक्षा करते हुए बच्चों को दूसरे ऐसे कामों में नियुक्त करना चाहिए जिनमें उनकी अभिरुचि हो। तरह-तरह के खिलौनों को देना, भोज्य पदार्थों को प्रदान करना अथवा ऐसे काम में नियुक्त करना जिसमें दोनों हाथ संलग्न रहें, विशेष लाभप्रद है। अभिभावकों को लैंगिक प्रशिक्षण (Sex training) पर्याप्त तथा उचित रूप से देना चाहिए ताकि इसके प्रति बच्चों का ज्ञान अधूरा न रह सके। समुचित ज्ञान इस आदत को छुडाने में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त, बच्चों के लिए समय का विभाजन ऐसा करना चाहिए कि वे निरन्तर किसी न किसी काम में संलग्न रहें। खेलने, कूदने, भोजन करने तथा आराम करने की सुविधा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। बच्चे का विश्वास-पात्र बनकर उसे यह समझाना चाहिए कि यह आदत वह आसानी से छोड़ सकता है। उसे यह विश्वास दिलाना हितकर होता है कि इससे सामाजिक अप्रतिष्ठा होती है। इन सब व्यवस्थाओं से यदि यह आदत न छूटे तब किसी दक्ष डाक्टर से उसकी शारीरिक परीक्षा करवा कर उसकी आवश्यक चिकित्सा करनी चाहिए ताकि इन्द्रिय में किसी शारीरिक कारणवश किसी प्रकार की खुजलाहट या कलकलाहट न हो।

माता पिता को अपने बच्चों को अनावश्यक सोने के लिए विवश करना

या किसी प्रकार का दण्ड देकर उन्हें अकेले रहने के लिए बाध्य करना ठीक नहीं है। यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बच्चे अधिक से अधिक साथियों के साथ काम या खेल में भाग ले सकें। ऐसा करने से उन्हें इस व्यापार को करने का मौका नहीं मिलता और यह आदत क्रमशः छूट जाती है। बच्चों और बच्चियों को साथ न सोने देना आवश्यक है, क्योंकि साथ सोने से भी एक दूसरे के प्रोत्साहन के कारण यह आदत जल्दी नहीं छूटती। यों तो और भी कई उपाय इसे रोकने के लिए व्यक्त किये जा सकते हैं, किन्तु उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

७. समजाति लैंगिकता (Homosexuality)

साधारणतः बच्चों तथा प्रौढ़ व्यक्तियों का झुकाव अपनी लैंगिक इच्छा (Sexual Desire) को संतृप्त करने के लिए अपने विषम लिंगी (Opposite Sex) की ओर होता है। पुरुषों का आकर्षण महिलाओं की ओर और महिलाओं का आकर्षण पुरुषों की ओर होना स्वाभाविक है। जहाँ तक मैत्री का सम्बन्ध है, समजाति मैत्री अधिकतर बच्चों में देखी जाती है, यद्यपि विषम लिंगी मैत्री का भी अभाव नहीं रहता। तब समजाति लैंगिकता किसे कहते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर पर विचार करने से मालूम होगा कि इसका प्रयोग अत्यन्त प्रशस्त अर्थ में किया गया है, किन्तु यदि हम संकीर्णतया इसकी परिभाषा दें तो कह सकते हैं कि समजातीय लैंगिक आकर्षण (Sexual attraction towards the same sex) ही समजाति लैंगिकता है। तात्पर्य यह कि जब कोई बच्चा लैंगिक इच्छा की संतुष्टि के लिए समलिंगी की ओर आकृष्ट होता है तब इसे हम समजाति लैंगिक (Homosexual) कहते हैं। थोड़े शब्दों में इसे स्पष्ट करने के लिए हम कह सकते हैं कि लड़कियाँ या लड़के जब अपनी लैंगिक इच्छा को तृप्त करने के लिए विषम लिंगी की ओर आकृष्ट न होकर, सम लिंगी की ओर झुकते है तब हमें समजाति लैंगिकता का उदाहरण मिलता है।

हस्तमैथुन की तरह इसे भी हेय दृष्टि से देखा जाता है और लोगों का ऐसा विश्वास है कि समजाति लैंगिक अधम होती है, किन्तु यह सत्य नहीं है। अन्वेषण करने पर यह मालूम हुआ है कि लड़कियों की अपेक्षा लड़कों में समजाति लैंगिकता की प्रवृत्ति अधिक रहती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का ऐसा निर्णय है कि दो प्रतिशत बच्चों में समजाति लैंगिकता पाई जाती है और किशोरावस्था में इसकी बहुलता रहती है।

यदि हम ऐसे बच्चों का वर्गीकरण करें तो उन्हें तीन वर्गों में रखना पड़ेगा। पहला वर्ग सक्रिय समजाति लैंगिक (Active Homo Sexual) जो पुरुष का कार्य सम्पादित करता है, दूसरा निष्क्रिय समजाति लैंगिक (Passive Homo Sexual) जो स्त्री का कार्य सम्पादित करता है, और तीसरा मिश्रित समजाति लैंगिक (Mixed Homo Sexual) जो क्रमशः दोनों के कार्यों को सम्पादित करता है। बच्चों में अधिकांश मिश्रित लैंगिकता पाई जाती है जिसमें पारस्परिक मैथुन अर्भकप्रियता (Sodomy) का प्रदर्शन होता है।

कारण :—समजाति लैंगिकता का आविर्भाव और विकास क्यों होता है, इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मत है कि इसकी प्रवृत्ति वांशिक तथा जन्मजात होती है। दूसरे के अनुसार लैंगिक ग्रन्थि (Sex gland) की असामान्यता के कारण इसका आविर्भाव होता है। तीसरे पक्ष के मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि बच्चे मे इस प्रवृत्ति का आविर्भाव और विकास सम्बद्धता (Conditioning) और असंतुलित अभियोजन (Maladjustment) के कारण होता है। इसी प्रकार और भी कई सिद्धान्त इसकी व्याख्या के लिए उपस्थित किए गए हैं, किन्तु विचारतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रवृत्ति मे कई अंगों का हाथ रहता है।

कई स्थलो पर बच्चों मे समजाति लैंगिकता की उत्पत्ति समलिंगियों (Same Sex) के साथ सोने से होती है। कारागार, छात्रावास आदि ऐसी जगहो में जहाँ लड़के या लडकियाँ समलिंगियो के साथ सोते हैं, ऐसा व्यापार शुरू कर देते हैं। साथ सोने के कारण परस्पर शरीर स्पर्श से जो सुखद अनुभव होता है उसी के फलस्वरूप इस प्रवृत्ति की उत्पत्ति होती है। विषम लिंगियों के पारस्परिक सम्पर्क का अभाव भी आवश्यकता पड़ने पर, इस प्रवृत्ति को जन्म देता है।

आरम्भ से जो लड़के और लडकियाँ अपने विषम लिंगियों द्वारा चिढ़ाए और तंग किए जाते हैं उनमें विषम लिंगियों के प्रति ऐसा भय और घृणा उत्पन्न हो जाती है कि वे कभी उनसे मिलना नही चाहते, इसलिए उनमें इस प्रवृत्ति का अंकुर जमता है।

जब माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध में अनेको तरह की अनुचित एवं अवांछनीय घटनाओं को घटते हुए बच्चे अपनी आँखों से देखते हैं तो उनके व्यक्तिगत जीवन पर उनके इस पारस्परिक सम्बन्ध का बहुत बुरा और गहरा असर पड़ता है। परिणामतः ऐसे बच्चे अन्य विषम लिंगियों से मिलने और

किसी प्रकार का सम्बन्ध रखने में हिचकिचाते और कटुता का अनुभव करते हैं। इसलिए उनमें समजाति लैंगिकता के प्रति विशेष आकर्षण हो जाता है। इन कारणों के अतिरिक्त और भी कई कारण इसके हैं, किन्तु उनका उल्लेख हम यहाँ नहीं करेंगे, क्योंकि वे प्रौढ व्यक्तियों की समजाति लैंगिकता में सहायक होते हैं।

प्रभाव :—वस्तुतः यह आदत स्वतः गन्दी है और समाज भी इसे हेय दृष्टि से देखता है। जो बच्चे इसके अभ्यासी होते हैं उन्हें समाज तुच्छ समझता है और लोग उनकी हँसी उड़ाते हैं। इसलिए ऐसे बच्चे अपने को समाज से तिरस्कृत समझते हैं। उनमें स्वतः भी इस व्यापार के उद्घाटन का भय बना रहता है। कई देशों में यह व्यापार कुकर्म और अपराध समझा जाता है और ऐसा करनेवालो को कठिन से कठिन दंड दिया जाता है।

ऐसा करनेवाले बच्चे बहुत ही गम्भीर और एकान्त में रहते हैं। उनमें हीन-भाव इतना प्रबल रहता है कि कुछ भी समाजोपयोगी काम उनसे नहीं होता। उन्हें सहयोगियों और मित्रो का अभाव रहता है। वे स्वयं भी अपने को पापी, अधम और किसी काम के अयोग्य समझते हैं। ऐसे बच्चे कभी किसी का विश्वास नही करते। स्वतः सशंकित रहने के कारण वे दूसरों को भी सन्देह की दृष्टि से देखते हैं।

मानसिक द्वन्द्व के कारण वे कभी शान्त चित्त नहीं रहते, इसलिए उनका अभियोजन उचित रूप से नहीं होता। उनकी मानसिक अवस्था खराब हो जाती है और उनमे कई व्याधियों का आविर्भाव हो जाता है जिनके कारण उनका जीवन निरर्थक बन जाता है। किन्तु, कभी-कभी ऐसा देखने में आता है कि ऐसे बच्चे एकान्तप्रिय होने के कारण ऐसे कामों में दत्तचित्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने जीवन के दूसरे क्षेत्र में अत्यधिक सफलता मिलती है। वस्तुतः इस अवस्था में बच्चे कुछ विचार से काम लें और अपनी इस प्रवृत्ति का त्याग कर दें तो वे बहुत समाजोपयोगी कार्य कर सकते है। यदि आँखें खोलकर देखें तो हमे ऐसे उदाहरणो की कमी नहीं मिलेगी।

रोकने के उपाय :—यद्यपि बच्चों में यह एक बड़ा दुर्गुण है, किन्तु समाज का यह धर्म है कि वह ऐसे बच्चों को अधम या पापी की दृष्टि से न देखे। साधारण जनता मे अपराधियों की संख्या इन समजाति लैंगिक बच्चों से अधिक है। यदि हम इस दोष से बच्चो को बचाना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि इसके लिए उनकी निन्दा और कटु आलोचना न करें। शारीरिक दण्ड देना ऐसे बच्चों को कदापि हितकर नहीं। इससे वंचित रखने

के लिए बच्चों को कामशास्त्र (Sexology) का उचित और पर्याप्त प्रशिक्षण (Training) माता-पिता और शिक्षकों द्वारा देना वांछनीय है। पर्याप्त ज्ञान के ही बिना अधिकांश बच्चे इस व्यापार में रत होते हैं।

माता-पिता को यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि बच्चों का सम्बन्ध विषम लिंगियों के साथ बहुत सुन्दर और मनोहारी हो। ऐसा सम्बन्ध रहने पर उनमें विषम लिंगियों के प्रति आकर्षण होगा और इस प्रवृत्ति में न्यूनता स्वतः आ जाएगी। समलिंगी बच्चों को कदापि एक साथ सोने का अवसर नहीं देना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से इस प्रवृत्ति को विकसित करने का शोभन सुयोग मिलता है। माता-पिता के पारस्परिक सम्बन्ध में हर प्रकार का सामंजस्य (Harmony) रहना इस प्रवृत्ति को दूर करने के लिए आवश्यक है।

समलिंगी बच्चों को एक साथ खेलने-कूदने का वहीं तक अवसर देना चाहिए जहाँ तक उनमें इसकी गंध न आवे। हाँ, समय आने पर विषम लिंगियों के प्रति बच्चों में सद्भाव भरना विशेष लाभप्रद सिद्ध होता है।

इन सब व्यवस्थाओं के अतिरिक्त ऐसे बच्चों का मनोवैज्ञानिक और शारीरिक परीक्षण अनिवार्य है। यदि लैंगिक-ग्रंथि मे किसी कारणवश असंतुलन हो तो डाक्टर की सहायता लेकर उसका उपचार करना चाहिये और घर की व्यवस्थाओं को यथासाध्य सुन्दर बनाना चाहिए।

यों तो और भी कई व्यवस्थाएँ इस दोष को दूर करने के लिए की जा सकती हैं, किन्तु सामान्यतः इन व्यवस्थाओं से ही बच्चों के इस दोष में कमी आने लगती है और कुछ दिनो में यह प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है।

इन उपर्युक्त दोषों के अतिरिक्त और भी कई दोष बच्चों के असंतुलित व्यक्तित्व के परिचायक हैं, किन्तु उन सब पर प्रकाश डालना इस छोटी सी पुस्तक में असंभव है। अतः उनका वर्णन हम यहाँ नहीं करेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

बाल-अपराध (Juvenile Delinquency)

१. व्याख्या

प्रत्येक समाज में कुछ ऐसे नियम रहते हैं जिनको पालन करना आवश्यक होता है, क्योंकि उनके पालन में समाज का कल्याण एवं उत्कर्ष छिपा रहता है। सामाजिक-संतुलन (Social-balance) के लिये सरकार की ओर से कुछ वैधानिक नियमों का प्रतिपादन किया जाता है जिन्हें प्रत्येक सामाजिक जीव को शिरोधार्य करना पड़ता है। यदि हम इन नियमों का उल्लंघन करते हैं तो हमारा व्यवहार असामाजिक और अवैध घोषित किया जाता है और सरकार की ओर से ऐसा करने के लिये हमें दोषानुरूप दण्ड मिलता है। व्यक्ति के किसी भी ऐसे असामाजिक (Anti-Social) व्यवहार को, जिससे समाज को किसी प्रकार की क्षति पहुँचती है अथवा जिसके लिये मनुष्य वैधानिक दण्डों का भागी होता है, अपराध कहते हैं। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि अवैधानिक तथा समाजघातक व्यवहार ही अपराध के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ यह व्यक्त कर देना अनावश्यक न होगा कि वस्तुतः अपराध (Crime) और बाल-अपराध में कोई मौलिक अन्तर नहीं होता। जब कोई नाबालिग (Minor) व्यक्ति असामाजिक और अवैधानिक व्यवहार करता है तो उसके व्यवहार को बाल-अपराध कहा जाता है और जब उसी व्यवहार या कार्य को प्रौढ व्यक्ति करता है तब उसे हम अपराध (Crime) कहते हैं। इस तरह बाल-अपराध और अपराध में अपराधी के उम्र का ही फर्क होता है। किशोरावस्था तक के असामाजिक व्यवहारों तथा कर्मों को बाल-अपराध और उसके बाद के ऐसे व्यवहारों को अपराध-मात्र से अभिव्यक्त किया जाता है।

वैधानिक दृष्टिकोण से स्थान-परिवर्त्तन के कारण इसकी व्याख्या में परिवर्त्तन होता रहेगा, ऐसी बात नहीं। यद्यपि सभी देशों के बालिग अथवा नाबालिग की अवस्था का माध्यम एक नहीं है तथापि इससे मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से इस व्याख्या में किसी तरह के परिवर्त्तन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि सभी व्यक्तियों में लगभग किशोरावस्था का अन्त और प्रौढावस्था का

आगमन एक ही समय में होता है। हाँ, इतना अवश्य है कि स्थल-विशेष में परम्परा, धर्मादि के कारण जो व्यवहार समाज-विहित है वही दूसरे समाज में असामाजिक कहलाता है। परन्तु कुछ व्यवहार ऐसे हैं जो सभी स्थलों और समयों में असामाजिक ही रहते हैं। साधारणतः चोरी करना, झूठ बोलना, पाठशाला से भागना, लैंगिकता-प्रकाशन आदि व्यवहार बाल-अपराध के अन्दर आते हैं। फिर भी, संभव है इन्हीं में से कोई व्यवहार परिस्थिति और स्थल-विशेषवश असामाजिक और अनुचित न प्रमाणित हो सके।

२. बाल-अपराध के कारण

विभिन्न मनोवैज्ञानिकों तथा समाज-शास्त्रियों (Sociologists) ने बाल-अपराध के विभिन्न कारणों को व्यक्त किया है जिनपर हम संक्षिप्ततः प्रकाश डालेंगे।

(१) भौतिक-वातावरण :—लम्ब्रोसो (Lombrosso) और डेक्स्टर (Dexter) ने प्रौढ़ तथा बाल-अपराधियों का अध्ययन करके भौगोलिक अवस्था, जलवायु, ऋतु आदि को अपराध का कारण बतलाया है। फ्रांस तथा इटली के विभिन्न अंचलों की अध्ययन-तालिकाओं से यह अभिव्यक्त होता है कि अपराध-विशेष भौगोलिक बनावट, वायुमण्डल, जलवायु, या ऋतु-विशेष में अधिक प्रबल रहता है। वस्तुतः यदि उपर्युक्त कथन की विवेचना की जाय तो मालूम होगा कि भौतिक वातावरण (Physical Environment) अप्रत्यक्षतया अपराध के व्यवहारो मे सहायक होता है। यदि हम भारतवर्ष की भौगोलिक अवस्था, ऋतु आदि की कसौटी पर इस कथन की सत्यता की परीक्षा करें तो हमें मालूम होगा कि जब सावन, भादो के महीने में फसल खेतों में लगी रहती है और लोगो के घरो में भोजन का अभाव हो जाता है तब उस समय लड़के लड़कियाँ अथवा सयाने खाने की चीजों को घर या खेतों से चुराते हैं। उन दिनो में गांव या शहर में चोरी की मात्रा भी बढ़ जाती है। कभी-कभी ऐसा भी देखने में आता है कि पूछने पर चोर स्पष्टतः भोजन का अभाव ही चोरी का कारण बतलाता है। फागुन और चैत जैसे महीनों मे जब भारतवर्ष के विभिन्न अंचलों में वसंतोत्सव, रामनवमी, रामलीला आदि के उत्सव मनाए जाते है और हजारो, लाखों की संख्या में बालक और युवा एकत्रित होते हैं उस समय बच्चों में चोरी और लैंगिकता (Sexuality)के व्यवहार देखने में आते हैं। गर्मी के दिनों में जब लड़के लड़कियाँ बहुत संख्या में एकत्रित होकर खेलते है तो उस समय झूठ बोलने,

चोरी और बदमाशी करने या झगडा करने का उन्हें अधिक अवसर मिलता है। किन्तु वे ही बच्चे जब जाड़े से बचने के लिये पर्याप्त कपड़े नहीं पाते और अपने घरो मे आग के नजदीक बैठे रहने के कारण अन्य साथियो से मिलने का अवसर नही पाते तब ऐसे व्यवहार नही करते। विदेशो में भी इन ऋतुओं में जब आवागमन की सुविधा नही रहती तब बच्चो में लैंगिक अपराध कम पाया जाता है किन्तु जब उन्हें खाने की चीजें नहीं मिलतीं तब वे अपनी क्षुधा को संतृप्त करने के लिये तरह-तरह की चोरी करते और झूठ बोलते हैं। इस तरह भौतिक वातावरण बाल-अपराध मे सहायक होता है। किन्तु, यही इसका एकमात्र कारण नही कहा जा सकता है क्योंकि उसी के आधार पर हम सभी प्रकार के बाल-अपराधो की व्याख्या संतोषपूर्ण नहीं कर सकते।

(२) आर्थिक स्थिति (Economic Condition):—बाल-अपराध के कारणों मे आर्थिक अवस्था का स्थान कम महत्व का नहीं है। माता-पिता जब अपनी गरीबी के कारण अपने बच्चो का पालन-पोषण सुचारु रूप से करने में असमर्थ हो जाते हैं तो बच्चो मे चोरी करने या झूठ बोलने के अपराध देखने में आ सकते है। किन्तु क्या सभी दरिद्रता के शिकार बच्चे बाल-अपराधी होते हैं? सभी चोरी करते और झूठ बोलते है? इसका उत्तर सम्भवतः 'हाँ' मे नही दिया जा सकता, क्योकि प्रायः ऐसा देखने में आता है कि लडके और लड़कियाँ मात्र दरिद्रावस्था के कारण चोरी नही करते बल्कि वे किसी प्रलोभन मे पडकर अपना आचरण भ्रष्ट करते है। फिर भी बहुत-सी ऐसी लड़कियाँ मिलती हैं जो दरिद्रता से विवश होकर अपने पालन-पोषण के लिए वेश्यावृत्ति (Prostitution) को स्वीकार करती हैं। लडकों को भी गरीबी के कारण बाल-अपराधी बनते देखा गया है। किन्तु, ऐसे उदाहरणों की भी कमी नही है कि गरीबी के दुख को झेलते हुए बच्चों ने चोरी नहीं की अथवा अपने चरित्र में और किसी तरह का कलंक नहीं लगाया। जब इस प्रश्न के उत्तर स्वरूप दोनों तरह के प्रमाण उप-स्थित हैं तब हम कह सकते है कि यद्यपि आर्थिक अवस्था का ही हाथ बाल-अपराध में नहीं रहता तथापि इससे ऐसे वातावरण का निर्माण प्रायः होता है जो बच्चों को अपराध करने के लिए प्रोत्साहित करता है। ऐसा देखा गया है कि जो लडके-लडकियाँ दरिद्रावस्था के कारण कारखानों में रात को काम करती हैं उनमें कई तरह के इस प्रकार के चारित्रिक दोष आ जाते हैं जिन्हें हम बाल-अपराध कहते हैं। अभी तक इस दिशा में जितने अन्वेषण हुए हैं उनसे यह स्पष्ट है कि दरिद्रता और अपराध में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्षतया

घनिष्ठ सम्बन्ध है। पेट के कारण बच्चों में झूठ बोलने, चोरी करने तथा चरित्र भ्रष्ट करने के अनेकों उदाहरण हम अपने दैनिक जीवन में पाते हैं।

(३) **सामाजिक परिस्थितिः**—सामाजिक परिस्थिति के अन्तर्गत कई ऐसे अंग हैं जो बाल-अपराध को प्रोत्साहित करते है। घर का प्रभाव इसपर अत्यधिक पड़ता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यदि घर की आर्थिक अवस्था दयनीय रही तो बच्चों में चोरी, मिथ्याभाषण आदि अनुचित व्यवहारो का आविर्भाव होता है। हिली तथा ब्रोनर (Hilly & Broner) ने अपराधी बच्चो का अध्ययन कर यह प्रमाणित कर दिया है कि उन्होने जिन अपराधी बच्चो का अध्ययन किया उनमें से चौथाई बच्चे दरिद्रता से पीड़ित थे। शरणार्थियो में बाल-अपराध की नित्यप्रति की घटनाएँ इसकी सत्यता की साक्षी हैं।

यदि दीनता के कारण परिवार के सभी लोग एक ही स्थान में खाते-पीते और सोते हैं तो उस समय बच्चो में कई प्रकार के असामाजिक व्यवहार आविर्भूत हो जाते है, क्योंकि उनके अभिभावक किसी प्रकार के व्यवहार को उनसे छिपाने में असमर्थ रहते हैं। बच्चे अत्यधिक मात्रा में अनुकरणशील होते हैं, इसलिये वे अपने बड़ों के सामान्य व्यवहारों का अनुकरण करने लगते हैं जो उनके लिये अपराध प्रमाणित होते हैं। इसके अतिरिक्त एक साथ सोने से कई तरह के चारित्रिक दोष आ जाते हैं जिन्हें असामाजिक होने के कारण हम अपराध की कोटि में गिनते हैं। माता-पिता का संघर्षमय जीवन भी बच्चों को उत्पाती बना देता है। एक पक्ष अपनी मूर्खतावश अपने दोष को दूसरे पक्ष से छिपाने के लिए झूठ बोलना सिखलाता है अथवा अन्य प्रकार का कुकर्म करने के लिये प्रोत्साहित करता है और इसके फलस्वरूप बच्चे बाल-अपराधी बन जाते हैं। माता-पिता के द्वारा बच्चो का अनावश्यक लाड़-प्यार अथवा अत्यधिक तिरस्कार भी उन्हें अपराध के कामों को करने के लिये विवश करता है। बच्चों का कठोर नियन्त्रण और अनुशासन-शिथिलता (Relaxed Discipline) भी उन्हें अपराधी बना देती है। इसके अतिरिक्त, यदि माता पिता में से किसी पक्ष का अभाव रहता है तब भी बच्चे असामाजिक व्यवहारो का प्रदर्शन करते है।

बड़े-बड़े नगरों में जहाँ घर ऐसे रहते हैं जिसमे बच्चों को खेलने की सुविधा नहीं रहती वहाँ बच्चे अपना समय बेकार न बिताकर कई तरह के अपराध के कामो में बिताने लगते है। इस तरह, यदि घरों में बच्चो को खेलने, कूदने तथा अन्य आनन्द-मनोरंजन (Recreation) की सुविधा नहीं

मिले तब वे असामाजिक व्यवहारों में ही अपना समय व्यतीत करने के अभ्यस्त हो जाते हैं। सारांश यह कि गृह परिस्थिति का असर बाल-अपराध पर अत्यधिक पड़ता है।

पाठशालीय वातावरण का हाथ भी बाल-अपराध में कम नहीं रहता है। बच्चों को तीस पैंतीस की संख्या मे एक वर्ग मे रखा जाता है, उन्हें एक अध्यापक एक माध्यम-विशेष से पढाता है। किंतु उनमें से कुछ विद्यार्थी ऐसे होते हैं जिनकी योग्यता उस माध्यम से अधिक रहती है और कुछ ऐसे होते है जिनकी बहुत ही कम। इन दोनो प्रकार के विद्यार्थियो का मन पढ़ने में नहीं लगता और वे ऐसे कामो में अपना मन लगाते है जो सामाजिक दृष्टिकोण से निन्द्य होते है। ऐसे अपराधो मे पाठशाला से भाग जाना, घर जाकर छुट्टी होने का झूठा समाचार व्यक्त करना आदि अधिकांश देखने मे आते हैं। इसके अतिरिक्त, यदि स्कूल ऐसे स्थान पर बना रहता है जहाँ कि बच्चो को खेलने की पर्याप्त सुविधा नहीं रहती तो भी वे उदण्डतामय व्यापारों का प्रदर्शन करते है। इस कथन की सत्यता मनोवैज्ञानिक अन्वेषणों से भी प्रमाणित हो चुकी है। जब अमरीका के अपराधी बच्चो का अध्ययन किया गया तो यह देखने मे आया कि उन बच्चो के स्कूल ऐसे स्थानों पर स्थित थे जहाँ उनको खेलने तथा अन्य प्रकार के आनन्द-मनोरंजन तथा विश्राम की सुविधायें पर्याप्त मात्रा में नही थीं।

बच्चो के व्यवहार को समुदाय (Community) उसी प्रकार प्रभावित करता है जिस प्रकार अन्य सामाजिक परिस्थितियाँ। समुदाय में ऐसे लोगो की कमी नहीं जो बच्चो को अपराधी बनाने में सहायक होते है। कुछ बच्चे समुदाय के अन्य व्यक्तियो द्वारा अनुचित कार्यों को करने के लिये विवश किये जाते हैं। और कुछ स्वयं अनुकरण द्वारा अनुचित व्यवहारों को अपना लेते हैं। प्रायः ऐसा देखने मे आता है कि जिस समुदाय के लोग जुआरी, शराबी, वेश्यागामी, धोखेबाज और चोर होते हैं, उस समुदाय के बच्चे भी अधिकांश वैसे ही होते हैं, क्योंकि 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'।

कारागार (Prison) को भी हम इस दोष का सहायक कह सकते हैं। अपराधियो को दण्ड देने या उनसे समाज की रक्षा करने के लिये उन्हें वैधानिक नियमो की शरण लेकर कारागार में भेज दिया जाता है। वह एक ऐसा स्थान है जहाँ हर तरह के अपराधी मिलते हैं। जब ऐसे वातावरण में बच्चे पड़ते हैं तो वे नए-नए अपराधो को करने का कौशल अन्य अपराधी बच्चो अथवा सयानों से सीखते हैं। वे पुनः जब कारागार से मुक्त होते हैं तब एक

अपराध को कौन कहे कई तरह के अपराध को करते हैं। लेखक के घर में एक दिन रात को मोतिहारी मण्डल का एक चौदह वर्षीय बालक बर्त्तनों को चुराते हुए पकड़ा गया था। जब दूसरे दिन उसे न्यायालय में विशेष जानकारी के लिए उपस्थित किया गया तो मालूम हुआ कि इस घटना के पहले वह दो बार चोरी के दोष में कारागार में भेजा जा चुका था।

इसी तरह सामाजिक परिस्थिति के अन्तर्गत न्यायालय, परम्परा (Tradition) धर्म, जातीय भेद, संस्कृति आदि ऐसे अंग हैं जो परिस्थितिविशेष में बाल-अपराध के कारण बनते हैं, किन्तु यहाँ उनपर विशेष रूपेण प्रकाश डालने की कोई आवश्यकता नहीं।

(४) **शारीरिक और मानसिक अवस्था :—** सभी मनुष्यों में कुछ शारीरिक और मानसिक विशेषतायें रहती हैं, उनमें से जो समाज के माध्यम (Standard) के अनुरूप होती है वे गुण कहलाती है किन्तु जो उसके अनुरूप नहीं होतीं उनकी परिगणना दोषों मे होती है। बच्चे भी इन दोष-गुणों से युक्त रहते हैं, अतएव उनके व्यवहार अधिकांशतः इनसे प्रभावित होते हैं। ये विशेषतायें बाल-अपराध को किस प्रकार जन्म देती हैं, यहाँ हम इस पर संक्षिप्ततया क्रमशः प्रकाश डालेंगे।

मनोवैज्ञानिकों ने अपराधी बच्चों का अध्ययन करके यह निष्कर्ष निकाला है कि जिनमें किसी प्रकार की शारीरिक असामान्यता रहती है वे असामाजिक व्यवहार करते हैं। औसत से अधिक लम्बा या छोटा होना अथवा अन्य प्रकार के अंग-भंग, उनके शारीरिक दोष के अन्तर्गत आते है। जब बच्चा सामान्य बच्चों से अपने को छोटा पाता है या अपने में अन्य प्रकार के शारीरिक दोषों को पाता है तो वह स्वतः हीन-भाव (Inferiority feeling) से पीड़ित रहता है। इस भाव को छिपाने के लिये वह ऐसे गलत कामो को करता है जिन्हें अन्य लड़के या लड़कियाँ नही करते। ऐसे कामों को प्रदर्शित करके वह यह दिखलाने की कोशिश करता है कि जिसे अन्य लड़के या लड़कियाँ करने में असमर्थ है वह उन्हें आसानी से करता है। ऐसे बच्चे चोरी करना, झूठ बोलना, या पाठशाला से भागने के व्यापार में कुशलता प्राप्त करने लगते हैं।

औसत से अधिक लम्बाई होने पर बच्चो में लैंगिक अपराध देखने में आता है। डा० स्लेस्टर, गोरिंग, हूटन आदि विद्वानों ने जिन अपराधियों का अध्ययन किया उन सब मे शारीरिक असामान्यता विद्यमान थी। डा० हिली ने शिकागो में जिन अपराधी बच्चों का अध्ययन किया उससे यह स्पष्ट है कि जिन बच्चों का औसत से अधिक शारीरिक विकास था वे प्रायः लैंगिक अप-

राधी थे। कुछ मनोवैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि जिन बच्चों में लिंग-ग्रन्थि (Sex-gland) अधिक सक्रिय हो जाती है वे तरह-तरह के चारित्रिक दोषों को करते हैं।

यद्यपि गोरिंग, डा० एण्डरसन, जेलेनी, गिलिन आदि विद्वानो ने बाल-अपराधों पर मानसिक दुर्बलता (mental deficiency) का असर देखने के लिये जो अध्ययन किया है उन सब के परिणाम में संख्यात्मक (Quantitative) अन्तर है किन्तु, उन सभी विद्वानो का अध्ययन इस बात का साक्षी है कि मानसिक दुर्बलता अपराध का एक प्रमुख कारण है। सच्ची बात यह है कि जिन बच्चों में यह दोष होता है वे समाज के अनुरूप अपना व्यवहार प्रदर्शित करने में बिना किसी की सहायता के पूर्णतः असमर्थ होते हैं। फलतः आसानी से वे दूसरो के बहकावे मे आकर असामाजिक कामो को कर बैठते हैं।

मृगी (Epilepsy), मनोविदलता (Schizophrenia), व्यामोह (Delusion) आदि दोषों से युक्त बच्चे भी अपराधी पाये जाते हैं। डा० हिली के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि अपराधी बच्चो में सात प्रतिशत बच्चे इसी से पीड़ित थे। इसी प्रकार अन्य विद्वानो ने जो अध्ययन किया है उनसे यह विदित होता है कि उपर्युक्त दोषों के कारण कुछ बच्चे अपराधी बन जाते हैं।

विभिन्न मनोवैज्ञानिक प्रयोगों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब बच्चे में स्वदोष, अरक्षा (Insecurity), तिरस्कार (Rejection) तथा निराशा (Frustration) के भावो के अंकुर किसी कारणवश विद्यमान हो जाते है तो वे बच्चे संवेगात्मक उपद्रव या मानसिक संघर्ष से पीड़ित रहने लगते हैं। इसके फलस्वरूप वे असामाजिक व्यवहारो का प्रदर्शन करते हैं। जिस बच्चे में स्वदोष-भाव (Feeling of self-guilt) विद्यमान रहता है वह अपने दोष की निवृत्ति के लिये दण्ड पाने की इच्छा करता है, परन्तु जब किसी कारणवश उसे अपने दोष का दण्ड नहीं मिलता तब वह अचेतनतया (unconsciously) ऐसे व्यवहारों का प्रदर्शन करता है जिसे समाज अपराध समझता है। ऐसा करने से उसे आत्म-संतुष्टि (Self satisfaction) मिलती है। इसी तरह जो बच्चे अपने को तिरस्कृत अथवा अरक्षित (Neglected or insecured) समझते हैं वे ऐसी आक्रामक प्रवृत्तियो का प्रदर्शन करते हैं जिन्हें अन्य सामान्य बच्चे नही करते। वे अन्य लोगों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करने ही के लिये ऐसा करते है।

हिली और ब्रोनर ने अपराधी बच्चों का अध्ययन करके यह दिखलाने का प्रयास किया है कि अपराधी बच्चों में से अधिकांश किसी प्रकार के संवेगात्मक तनाव या मानसिक संघर्ष से पीड़ित थे।

बाल-अपराध के उपर्युक्त कुछ प्रमुख कारणों पर प्रकाश डाल देने के पश्चात यह स्पष्ट हो जाता है कि बाल-अपराध में किसी एक कारण का हाथ नहीं रहता, अपितु इसको आविर्भूत और विकसित करने में कई अंगों का योगदान मिलता है।

३. बाल-अपराधियों का सुधार

किसी भी प्रकार का अपराध समाज के लिये घातक होता है, अतः समाज के सामने दो प्रकार की समस्याएँ उपस्थित हैं। पहली समस्या अपराध को रोकने की है और दूसरी समस्या ऐसे लोगो से समाज की रक्षा करने तथा उनके सुधारने और दण्ड देने की है। यदि हम इन समस्याओं पर गम्भीरतया विचार करें तो मालूम होगा कि इसकी व्यवस्था प्राचीन काल से ही होती चली आती है और वर्त्तमान में भी कई व्यवस्थायें की गई हैं जिनका वर्णन हम यहाँ क्रमशः करेंगे।

(१) पुलिस :—बाल-अपराधियों का निरीक्षण और प्रबन्ध सर्व प्रथम पुलिस अधिकारियों का कार्य है। समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिये और अपराधियों से समाज को सुरक्षित रखने के लिये उन्हें ऐसे बच्चों के साथ वैधानिक व्यवहार करना पड़ता है। किन्तु, पुलिस कर्मचारी उनके साथ समुचित व्यवहार नहीं करते। इसलिये न तो अपराध में कमी होती है और न उन बच्चों का सुधार ही होता है। सच तो यह है कि पुलिस कर्मचारियो को अपने कर्त्तव्य-पालन की किसी प्रकार की शिक्षा नहीं दी जाती और न योग्य व्यक्तियों को ही इस विभाग में नियुक्त किया जाता है। प्रायः वे ही व्यक्ति इस विभाग में प्रवेश कर पाते हैं जिनकी किसी प्रकार की पहुँच अधिकारी वर्ग तक रहती है। साथ ही, यह विभाग इतना दूषित समझा जाता है कि सुयोग्य व्यक्ति इसमें जाना नहीं चाहते। इन दोनो कारणों से इस विभाग में ऐसे व्यक्तियों का अभाव है जो बाल-अपराधियों के लिये सुन्दर व्यवस्था कर सकें। ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जिनमें पुलिस कर्मचारी वर्ग ही बच्चों को अनुचित कार्य के लिये प्रोत्साहित और अवसर प्रदान करते हैं।

फिर भी, इस विभाग से बाल-अपराधियो का उपकार हो सकता है और उनकी संख्या मे भी कमी हो सकती है, किन्तु इसके लिये यह आवश्यक है

कि पुलिस कर्मचारियों की शिक्षा-विशेष का प्रबन्ध किया जाय और शिक्षा के द्वारा उन्हें समाज का सच्चा हितैषी और सेवक बनाया जाय। पुलिस को बाल-अपराधियो को सुधारने में कठोरता की अपेक्षा स्नेह से काम लेने की जरूरत है।

(२) न्यायालय (Court):—अपराधियो को दण्ड देने और उन्हें सुधारने के लिये न्यायालयों की स्थापना सभी देशों में बहुत प्रचीन काल से हुई है। जब कोई प्रौढ अथवा बालक किसी प्रकार का असामाजिक कार्य करता है तब उसे न्यायालय की शरण लेनी पड़ती है। यहाँ दोष करने वाले और दोषी ठहराने वाले व्यक्तियों के वकील (Pleaders) आपस में दोष के सम्बन्ध में वाद-विवाद करते हैं और अपने-अपने प्रमाणों को मध्यस्थ न्याया-धीश (Judge) के समक्ष उपस्थित करते हैं। न्यायाधीश भी अपने निर्णय मे सहायता जूरियो (Juries) से लेता है। वह वैधानिक नियमों से इस प्रकार जकड़ा रहता है कि कभी नियम के प्रतिकूल अपना निर्णय नहीं देता। न्यायालय के नियम कुछ इस प्रकार के बने हुए हैं कि अधिकांश यही देखने में आता है कि जिस पक्ष का वकील निपुण रहता है उसी की विजय होती है। यह आवश्यक नहीं कि वास्तविक व्यक्ति ही दोषी ठहरे। कभी-कभी तो ऐसा होता है कि निर्दोषी कानून के फन्दे में पड़कर दोषी प्रमाणित कर दिया जाता है और दोषी निर्दोष बन जाता है। दोषी को नियमानुसार दण्ड का निर्णय होता है, परन्तु वहीं उसका अन्त नहीं होता। वह पुनः उच्च श्रेणी के न्यायालय मे अपनी अपील करता है और यदि उसे अच्छे वकील मिल गये तो उसको दण्ड से छुटकारा मिल जाता है। तात्पर्य यह कि प्राचीन आधार पर जो न्यायालय प्रस्थापित हैं उनसे किसी भी प्रकार का अपराधियो का उपकार अथवा सुधार नहीं होता।

हर्ष का विषय है कि इधर कुछ दिनों से विदेशी मनीषियों का ध्यान कार्यालयों की ओर गया है जिसके परिणामस्वरूप पाश्चात्य देशों में आज बाल-अपराधियों के लिए बाल-न्यायालयों (Juvenile courts) की स्थापना हुई है।

इन न्यायालयो में अब वकीलों और जूरियों की जरूरत नहीं पड़ती, बल्कि उनके बदले एक न्यायालयाधीश, एक मनोचिकित्सक (Psychiatrist), एक मनोवैज्ञानिक, अपराधी के माता-पिता तथा दूसरे पक्ष का व्यक्ति रहता है। जब कोई बाल-अपराधी अब ऐसे न्यायालयों में आता है तो सर्वप्रथम मनो-चिकित्सक उसकी मानसिक अवस्था का अध्ययन करके उसके दोषो का कारण

पता लगाने की कोशिश करता है। मनोवैज्ञानिक भी उसके मानस जीवन का अध्ययन मनोवैज्ञानिक रीति से करता है। अपराधी की पारिवारिक अवस्था, वातावरण आदि का ज्ञान प्राप्त करके उसके अपराधी होने के कारणों को जाना जाता है। जब सभी आवश्यक बातें उसके सम्बन्ध मे जान ली जाती हैं तो आवश्यकतानुसार उसके सुधार का उपाय किया जाता है। इन नये न्यायालयों से विदेशो में अपराधी बच्चों को सुधारने में काफी सहयोग मिल रहा है। किंतु, खेद है कि अभी तक ऐसे न्यायालयो का भारतवर्ष में अभाव है। क्या हमारी भारतीय सरकार ऐसे न्यायालयों की व्यवस्था शीघ्र करके लाखों अपराधी बच्चो का कल्याण करेगी ?

(३) परीक्षाकाल (Probation):—जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, न्यायालयों में न्यायाधीश अपराधियो को उनके सुधार और समाज की रक्षा के लिए कारागार का दण्ड देते है। किन्तु, कुछ न्यायाधीश ऐसे होते हैं जिन्हें इतना अधिकार रहता है कि दोषी को कारागार का दण्ड न देकर उसे परीक्षाकाल में रख देते हैं। यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें अपराधी बालक को किसी मनोवैज्ञानिक के निरीक्षण में दे दिया जाता है और वहीं उसका सुधार होता है। यदि परीक्षाकाल की व्यवस्था न्यायाधीश सुयोग्य व्यक्तियों के हाथ में करे तो इस विधि से अनेकों अपराधी बच्चों का कल्याण हो सकता है। और वे अपने जीवन को भी सुधारने में सफल हो सकते हैं। इसके सहारे कोशिश यह की जाती है कि उसका कुल भी कलंकित न हो और वह कुछ ही दिनों में सामाजिक प्राणी बन जाए। किन्तु, इस सम्बन्ध में सब से महत्त्व की बात यह है कि परीक्षा काल में बालक जिसके निरीक्षण में रहे वह ऐसा व्यक्ति हो जो उसे समाजोपयोगी बना सके।

(४) कारागार (Prison) :—अपराधियों को सुधारने और अपराध को कम करने के लिये कारागार की व्यवस्था बहुत दिनों से चली आती है। जब कोई बालक घातक कार्यों को करके समाज को किसी तरह की क्षति पहुँचाता है तब उस क्षति से बचने और उसको सुधारने के लिये उसे सरकार की ओर से कारागार में भेज दिया जाता है। किन्तु, दोषी बालकों को दोष-निर्मुक्त करने का यह सुन्दर साधन कदापि नही कहा जा सकता, क्योकि कई कारणो से बच्चो मे सुधार के बदले और कई प्रकार के नए दोषों का आविर्भाव हो जाता है। वे प्रायः जेलों मे कई प्रकार के भयानक अपराधियों के सम्पर्क में आकर नए-नए दुर्गुणों को सीख लेते हैं। जेल-कर्मचारी भी इतने अयोग्य होते हैं कि उन्हें अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता

क्योंकि उन्हें बालस्वरूप और बालमनोविज्ञान का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता और न वे यही जानते हैं कि सुधार के लिए अपराधी बालको के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये। अभी तक सुधार के इस साधन से लाभ के बदले अधिक हानि ही दिखाई देती है। किन्तु, यदि योग्य कर्मचारी इस विभाग में रक्खे जाएँ और इस दिशा में उन्हें बच्चों के सुधार के सम्बन्ध में विशेष प्रकार की शिक्षा दी जाय तथा उनका वेतन सन्तोषजनक कर दिया जाय तो सम्भव है इससे बच्चों का कुछ उपकार भविष्य में हो सके अन्यथा तो हमलोग इसकी चर्चा बाल-अपराध के कारणों मे कर ही चुके हैं।

(५) **बालसुधार-संस्था (Reformatory) :—**विदेशो मे बाल-अपराधियो के सुधार और उपचार के लिए कई बड़े-बड़े नगरो मे बालसुधार संस्थाओं की स्थापना की गई है। भारत में भी अब कुछ संस्थाएँ इस प्रकार की खोली गयी है। बच्चो को जेल में न भेजकर उन्हें उन संस्थाओं में रख कर उनके व्यवहारों को सुधारने के लिए प्रयास किया जाता है। ऐसे स्थानों को लोग इण्डस्ट्रियल स्कूल अथवा व्यावसायिक केन्द्र या पाठशाला के नाम से भी पुकारते है। इन स्थानों में वही बच्चे रक्खे जाते हैं जो अपने अपराध को परीक्षा-काल के अन्तर्गत सुधारने मे असमर्थ होते हैं। जहाँ तक सिद्धान्त का प्रश्न है, वहाँ तक तो ऐसे स्थानो की स्थापना वांछनीय है क्योंकि इन स्थानों में उन्हें विभिन्न कार्यों द्वारा अपने व्यवहार को सुधारने का अवसर मिलता है। किन्तु, अभी इस दिशा में सफलता नहीं मिली है, क्योंकि जिन लोगों के ऊपर सुधार का उत्तरदायित्व दिया जाता है प्रायः वे स्वयं अयोग्य रहते हैं। उन्हें बच्चों के स्वरूप और अपने कर्त्तव्य का ज्ञान कुछ भी नहीं रहता। इसलिए वे बच्चों को पूर्णतः सामाजिक बनाने में असमर्थ रहते हैं। फिर भी, यदि इस ओर सावधानी रखी जाये तो निस्सन्देह अपराधी बच्चे ऐसी संस्थाओं से लाभान्वित हो सकते हैं।

(६) **प्रतिज्ञा-निर्मुक्ति (Parole) :—**जब कोई बच्चा अपराध करता है तो उसे कारागार या अन्य ऐसी संस्थाओ मे भेज दिया जाता है जहाँ उसका सुन्दर उपचार हो सके। जब बालक अपने व्यवहार मे किसी तरह का सुधार प्रदर्शित करता है और कर्मचारियो को यह विश्वास हो जाता है कि उसका व्यवहार सामाजिक हो जायेगा तब उसे प्रतिज्ञा-निर्मुक्ति-अधिकारियों (Parole officers) के निरीक्षण में छोड़ दिया जाता है। इस पद्धति के कारण सरकार को अपराधियों के ऊपर कम खर्च करना पड़ता है। किन्तु, इस पद्धति में कई दोष हैं। पहली बात तो यह है कि प्रतिज्ञा-निर्मुक्ति-उच्चपदा-

धिकारियों की संख्या अभी बहुत कम है । अतः जितने बालक या प्रौढ़ उनके निरीक्षण में रक्खे जाते है उन सब का निरीक्षण वे करने में असमर्थ होते हैं, इसलिये उनसे अपराधियों का कोई उपकार नहीं होता । दूसरी बात यह है कि ये पदाधिकारी भी योग्य नही होते, इसलिये उनको इसका भी ज्ञान नहीं रहता कि अपने निरीक्षण के अपराधियो के साथ उनके सुधार के लिये क्या और कैसे करें। तीसरा दोष जो सबसे घातक है वह यह है कि इसमे कुछ ऐसे नियम हैं जिनके अनुसार अपराधी को जेल या अन्य ऐसी संस्था मे वास किये रहने पर प्रतिज्ञा-निर्मुक्त नहीं किया जाता; इस कारण इससे कोई विशेष लाभ नही होता है । इसके अतिरिक्त इसमें चौथा दोष यह है कि इन दिनों योग्य और समुचित लोगो को प्रतिज्ञा-निर्मुक्ति नहीं मिलती बल्कि उन्हें मिलती है जो उच्च पदाधिकारियों को घूस (Bribe) से संतुष्ट कर पाते हैं या किसी अन्य प्रकार से उन्हें प्रभावित करते है। परन्तु, इन दोषों के रहते हुए भी यदि योग्य कर्मचारियो का प्रबन्ध किया जाए और उन्हें इस कार्य का समुचित प्रशिक्षण दिया जाए और समुचित बाल-अपराधियों को प्रतिज्ञा-निर्मुक्त किया जाय तो सरकार इस विधि से बहुत सफल हो सकती है ; अपराधी भी अपने को समाज के योग्य बनाने में समर्थ हो और व्यर्थ का खर्च भी न हो। यह विधि विदेशो में अधिक प्रचलित है। भारतवर्ष में इसका अभी अभाव-सा है । यदि हमारी सरकार इधर विशेष ध्यान दे तो इस पद्धति से अपराधियों का भी भला हो और अधिक व्यय न करना पड़े ।

इसी प्रकार और भी दो एक विधियाँ अपराधियो को सुधारने के लिये प्रयुक्त होती हैं, किन्तु किसी से भी पूर्ण सफलता अभी तक नही मिली है। हाँ, यदि इन विधियो में पर्याप्त संशोधन किया जाय तो सम्भव है इस दिशा मे सफलता मिल सके और बच्चे सामाजिक प्राणी बन सकें। किन्तु, इस सम्बन्ध में यह स्मरणीय है कि औषधि से निरोध (Prevention) विशेष लाभप्रद सिद्ध होता है । इसलिये अपराधी बच्चों के उपचार पर अधिक ध्यान न देकर उनके संयम पर ही ध्यान दिया जाना अधिक लाभप्रद है । किन्तु, यहाँ निरोध या संयम पर प्रकाश डालने के लिये पुनः एक बार बाल-अपराध के कारणों पर ध्यान देना आवश्यक है। हम पिछले पृष्ठों में देख चुके हैं कि आर्थिक संकट, गृह और पाठशाला परिस्थिति, समुदाय, धर्म, संस्कृति आदि अंगों का हाथ बाल-अपराध में कितना और क्योंकर रहता है। हम इस पर भी प्रकाश डाल चुके है कि बच्चों मे शारीरिक दोष या असामान्यता मृगी, मानसिक दुर्बलता, संवेगात्मक उपद्रव तथा अन्य प्रकार

के मानसिक द्वन्द्वों के कारण बच्चे क्योंकर अपराधी बन जाते हैं। इसलिये यदि हम वंशानुक्रम को सुधारने के लिये सभी व्यक्तियों का शारीरिक और मानसिक परीक्षण करावें और उनके दोषो को दूर करने का समुचित प्रबन्ध करें तथा उन्हीं लोगों को विवाह-सुख का अवसर दें जो सन्तानोत्पत्ति के योग्य हैं तो स्वतः अपराधी बच्चों की संख्या में कमी हो जायेगी। इतना ही नही, पारिवारिक और पाठशालीय परिस्थिति को बच्चों के लायक बनाना, आर्थिक संकट को दूर करना, समुदाय, धर्म आदि को सुन्दर और श्रेष्ठ बनाना तथा किसी प्रकार बच्चों में मानसिक संघर्ष या संवेगात्मक उपद्रव उत्पन्न न होने देना बाल-अपराध को रोकने मे अधिक लाभप्रद सिद्ध होगा। उन शारीरिक और मानसिक दोषो को जिनके कारण बच्चे असामाजिक व्यवहारों को करते हैं, मनोवैज्ञानिक तरीके से दूर करना बाल-अपराध को रोकने में अधिक सहायक होगा। तात्पर्य यह कि जिन कारणों से बाल-अपराध का जन्म और विकास होता है उन्हे दूर कर देना ही रोकने का सबसे उत्तम उपाय है। अतएव उपचार पर विशेष ज़ोर न देकर इस दोष को दूर करने के लिये इसके निरोध पर ही अधिक ध्यान देना मानव समाज के लिये विशेष हितकर सिद्ध होगा। किन्तु, बाल-अपराध के ये कारण पूर्णतः निर्मूल किए जा सकेंगे, इस पर विश्वास करना अभी असम्भव नहीं तो बहुत कठिन अवश्य है।

४. प्रमुख बाल-अपराध

बाल-अपराधो की गिनती कर उनकी निश्चित संख्या का निर्धारण करना प्रायः असम्भव है। इसका प्रमुख कारण इसकी परिभाषा से ही स्पष्ट है। जो एक सभ्यता और संस्कृति मे अपराध है वही दूसरी सभ्यता मे कभी-कभी आवश्यक प्रतीत होता है। इसी प्रकार एक ही व्यवहार एक परिस्थिति मे कानून द्वारा अपराध समझा जाता है और दूसरी परिस्थिति में आवश्यक। फिर भी, कुछ ऐसे बाल-अपराध हैं जो किसी भी सभ्यता में अपराध ही माने जाते हैं। इनमे झूठ बोलने और चोरी करने के अपराध अधिक मात्रा में पाये जाते हैं और प्रमुख भी हैं। इसलिये यहाँ इन दोनो दोषों पर संक्षिप्ततः प्रकाश डाला जायगा।

(१) चोरी करना (Stealing):—किसी व्यक्ति की किसी चीज को उसकी आज्ञा के बिना उससे छिपाकर ले लेने को चोरी कहते है। यदि कोई बालक दूसरे बालक के खिलौने, कलम या पुस्तक को बिना उससे कहे काम में लाता है, तब निस्सन्देह वह चोरी करता है।

यों तो कई स्थलों पर बच्चों का झूठ बोलना सराहनीय समझा जाता है और उसके लिये उन्हें प्रोत्साहित किया जाता है, किन्तु चोरी सभी स्थलों में निंद्य समझी जाती है। अतएव इसमें योग्य माता-पिता, संरक्षक या शिक्षक कभी प्रोत्साहन नहीं देते बल्कि बालक को ऐसा करने के लिये दण्ड भी देते हैं।

यदि हम चोरी के स्वरूप का अध्ययन करें और उसका वर्गीकरण करना चाहें तो विभिन्न मनोवैज्ञानिकों के आधार पर इसे कई श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं। बच्चो की कुछ चोरियाँ उनकी बुद्धिमानी प्रदर्शित करती हैं, क्योंकि वे चीजो को इस सावधानी और बुद्धिमानी के साथ चुराते हैं कि उनके इस व्यापार का ज्ञान दूसरे व्यक्तियों को नहीं होता। किन्तु, उनकी कुछ चोरियाँ ऐसी होती हैं कि सभी लोग उन्हें जान जाते हैं और ऐसा करने के कारण उन्हें दण्ड देते हैं। कुछ ऐसे बच्चे भी होते हैं जो इस व्यापार के अभ्यस्त नहीं होते बल्कि किसी अवसर विशेष पर ही किसी चीज को चुराते हैं। दूसरी ओर, कुछ बालक इसके अभ्यस्त हो जाते हैं इसलिये वे आदतवश अनावश्यक चीजों को चुराते रहते हैं। प्रायः ऐसा भी देखने में आता है कि आवश्यकता अनुसार ही बच्चे किसी चीज को चुराते हैं, सभी चीजों को नहीं। यों तो अधिकांश बालक अकेले चोरी करने के अभ्यस्त होते हैं या करते हैं किन्तु ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जहाँ वे सामूहिक रूप मे चोरी करते हैं और कभी-कभी अपने बल का भी प्रयोग करते हैं। छोटे बच्चो में इस प्रकार की चोरी बहुत कम देखने में आती है। हाँ, किशोरावस्था और अधिक उम्र के बच्चों को ऐसा करते हुए देखा जाता है।

जैसा कि बाल-अपराध का वर्णन करते समय कहा गया, बच्चों के ऐसे व्यापार का उत्तरदायित्व आर्थिक संकट, सामाजिक परिस्थिति, मानसिक और शारीरिक विशेषतायें, वंशानुक्रम, तथा इनसे आबद्ध अंगो पर है, जिन पर विशेष रूप से यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक नहीं। पाठक स्वयं ही इस सम्बन्ध मे सोच सकते हैं कि ये उपर्युक्त अंग बालकों को चोरी करने के लिये प्रोत्साहित क्योंकर कर सकते है। किन्तु, छोटे बच्चों को चोरी का जहाँ तक प्रश्न है उनके सम्बन्ध में इतना कह देना जरूरी मालूम पड़ता है कि जब उन्हें समुचित रूप से अपनी और दूसरों की चीजों का ज्ञान नहीं कराया जाता है तब वे अज्ञानवश भी चोरी कर बैठते हैं। इसलिये संरक्षक को उचित है कि वे बच्चों को अपने और दूसरे के अधिकार की सुन्दर शिक्षा दें ताकि बच्चे अज्ञान के कारण ऐसा न कर सकें। बड़े बच्चों के इस व्यवहार में परिष्कार लाने के

लिये यह आवश्यक है कि घर और पाठशाला के वातावरण को उनके उपयुक्त रखा जाय। ऐसे अंगों का बहिष्कार किया जाये जो बच्चों को चोरी करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति यथासाध्य, समुचित रूप से उचित समय पर होनी चाहिये। यदि कोई बच्चा ऐसे व्यापार का अपराधी हो तो उसे न तो शारीरिक दण्ड देना चाहिये और न तिरस्कृत ही करना चाहिये। थोड़े शब्दो में यही कहना पर्याप्त है कि हमें उन सभी कारणों को दूर करना चाहिये जो किसी भाँति बच्चे को ऐसा करने के लिये वाध्य कर सकते हैं। जब कोई बच्चा चोरी कर बैठता है तो उसे उसके स्वरूप और दोष-गुण को समझा देना चाहिये और ऐसा भाव उसमें भर देना चाहिये कि बच्चे को स्वतः ऐसा करने से घृणा हो जाये। बच्चो का मन इतना कोमल होता है कि यदि स्नेहपूर्वक उनको किसी काम को करने या न करने के लिये तार्किक युक्तियो से समझा दिया जाये तो वे अक्षरशः आज्ञाओं का पालन करते हैं।

(२) झूठ बोलना (To lie) :—मिथ्या-भाषण का सम्बन्ध चोरी से बहुत घनिष्ठ है। जिन कारणों से बच्चो में चोरी करने का व्यापार देखा जाता है वे ही कारण इस व्यापार को भी जन्म देते हैं। एक उदाहरण लेकर इसको स्पष्ट करना विशेष सुविधाजनक होगा। मान ले, कोई बालक पाठशाला नहीं गया है। उसके संरक्षक उससे पूछते हैं कि वह पढ़ने गया था या नहीं और यदि वह यह कहता है कि वह पढ़ने गया था तब वह झूठ बोलता है। अभिप्राय यह कि वास्तविकता के प्रतिकूल कथन को झूठ बोलना या मिथ्या-भाषण करना कहते है। बर्ट (Burt) प्रभृति विद्वानो ने मिथ्या-भाषण को कई श्रेणियो में विभाजित किया है। कल्पनात्मक मिथ्या-भाषण को क्रीड़ात्मक मिथ्या-भाषण (Playful Lie) कहते हैं जिसमें कि बालक अपनी कल्पना-शक्ति के आधार पर कुछ कहता सुनता है। वस्तुतः वह जो कुछ कहता है उसकी सत्ता बाह्य विश्व में नहीं रहती बल्कि उसके मानसिक जगत मे रहती है। वह उसी को वास्तविकता का रूप दे देता है।

जब वह किसी अतीत की घटना को उसके वास्तविक रूप मे न कहकर उसका विकृत रूप व्यक्त करता है, जिससे वह पूर्णतः परिचित नहीं रहता और व्यक्त करने की मात्र कोशिश करता है तो इसे हम भ्रमात्मक मिथ्या-भाषण (Confusional Lie) कहते है। जिस सम्भाषण का आविर्भाव ध्यान-आकर्षण के कारण होता है उसे हम निस्सार मिथ्या-भाषण (Vain Lie) कह सकते हैं। ऐसे झूठ में बच्चा जो कुछ कहता है उसका एक मात्र ध्येय

दूसरों को अपनी ओर आकृष्ट करना रहता है। ईर्ष्या, द्वेष अथवा घृणा के कारण जब किसी के सम्बन्ध में असत्य बोला जाता है तो इसे घृणात्मक मिथ्या-भाषण (Malevolent Lie) कहा जाता है। जब कोई बच्चा दूसरे बच्चे से ईर्ष्या या घृणा करता है तब वह बराबर उसके सम्बन्ध में झूठी बातें बोला करता है। कभी-कभी बच्चे किसी अवांछनीय घटना में अपनी रक्षा के लिए झूठ बोलते हैं, इसे स्वरक्षात्मक मिथ्या-भाषण (Excusive Lie) कह सकते हैं। हमें ऐसे उदाहरणों की कमी नहीं जब कि बच्चे झूठ बहाने-बाजी करते हुए पाये जाते हैं। यदि किसी से माता पाठशाला न जाने का कारण पूछती है तो वह तुरत कह उठता है कि पेट में दर्द है, इसलिए पाठशाला नहीं जा सकता। यह स्वरक्षात्मक मिथ्या-भाषण का एक उदाहरण है। ऐसे ही कितने झूठ बालक रोज बोलते हैं। इनके अतिरिक्त, इसके और भी कई प्रकार हैं, जैसे स्वार्थ की पूर्ति के लिए या किसी ध्येय को प्राप्त करने के लिए झूठ बोलना। उपकारी मिथ्या-भाषण (Protective Lie) उसे कहते हैं जिसका आश्रय बच्चा दूसरे की रक्षार्थ लेता है और सांस्कृतिक मिथ्या-भाषण (Cultural Lie) तब कहते हैं जब कि वह मिथ्या-भाषण का आश्रय माता-पिता के आदेश से लेता है, आदि।

क्रीड़ात्मक, भ्रमात्मक, उपकारी तथा सांस्कृतिक मिथ्या-भाषणों से बच्चों की कोई हानि नहीं होती और न तो दूसरे ही उन्हें बुरा समझते हैं। कभी-कभी तो ऐसा भी देखने में आता है कि माता-पिता अथवा अन्य हितैषी बच्चों को उपकारी और सांस्कृतिक मिथ्या-भाषणों मे प्रोत्साहन देते हैं। उनका इस प्रकार का प्रोत्साहन कई स्थलो में सराहनीय होता है, विशेषकर जब वे अपने बच्चे को ऐसे मिथ्या-भाषणों द्वारा आत्मत्याग (Self sacrifice) और उपकार के महत्व को व्यक्त करते है। परन्तु, अवशेष प्रकार के सभी मिथ्या-भाषण निन्दनीय और हानिकर होते हैं। बच्चा उन प्रकार के झूठो को अपने को दण्ड से बचाने, दूसरों के सामने बड़ा बनने या घृणा व्यक्त करने के लिये ही बोलता है। यहाँ उनके विशेष वर्णन की कोई जरूरत नही, क्योकि ऊपर सभी प्रकार के झूठों पर कुछ प्रकाश डाला गया है।

जब कोई बच्चा झूठ बोले तब माता-पिता या शिक्षक का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसे किसी प्रकार का शारीरिक दण्ड न दें बल्कि उसके कारण को जानने का प्रयास करें। कारण को हटा देने पर वह स्वतः झूठ बोलना छोड़ देगा। बच्चे को विभिन्न प्रकार के मिथ्या-भाषणों के स्वरूप, दोष और गुण को स्पष्ट रूप से व्यक्त कर देना चाहिए। उन सभी कारणों से

उसे बचाने का प्रयास करना चाहिये जिनसे कि वह झूठ बोलने के लिये बाध्य एवं प्रोत्साहित होता है। बच्चों में अनुकरणशीलता अधिक होती है, इसलिये उन लोगों को, जो बच्चों के सम्पर्क में रहते हैं, अपना ऐसा आचरण रखना चाहिए कि उन्हें झूठ बोलने का किसी तरह का अवसर न मिले। सत्यवादिता (Truthfulness) के लिये उन्हे पुरस्कृत करना विशेष लाभप्रद सिद्ध होता है, क्योंकि जब बच्चा सत्य बोलने के सुखद परिणाम के महत्व को समझ लेता है तब वह निरंतर सत्य बोलने की कोशिश करता है। इन उपर्युक्त उपायों से बच्चों को इस दोष से बचाया जा सकता है।

५. बाल-अपराध के प्रभाव

बाल-अपराध का प्रभाव व्यक्ति, परिवार और समाज सभी के लिए घातक होता है। यदि हम इस पर गम्भीरतया विचार करें तो मालूम होगा कि जिस परिवार में बालक अपराधी हो जाता है वह परिवार समाज की आँखों से गिर जाता है। परिवार के सभी लोग अपने को दूसरों से इज्जत और प्रतिष्ठा में हीन समझने लगते हैं। समाज उन्हें तिरस्कृत नेत्रों से देखता है। इसका परिणाम यह होता है कि उस परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा (Social Prestige) मिट्टी में मिल जाती है।

बच्चे को अपराध के कारण कारागार या किसी सुधारक संस्था मे भेज दिया जाता है जहाँ उसे अन्य बच्चे उसी के स्वभाव के मिलते हैं। वह अपनी एक अलग दुनियाँ बना लेता है, इसलिये वह अपने व्यवहार में सुधार लाने की कभी भी कोशिश नही करता और फलतः जीवन भर वह असामाजिक ही बना रहता है। यदि दुर्भाग्यवश वह कारागार मे भेजा जाता है तब तो उसे और भी नए-नए अपराधो को करने का ढंग सीखने का अवसर मिलता है। इस-लिये वह जब बाहर निकलता है तब पहले से और भी उत्पाती बन जाता है।

ऐसी संस्थाओ में उसे भोजन वस्त्र आवश्यकतानुसार मिल जाता है, इस-लिये कभी उसे इन चीजो के लिए चिन्ता भी नहीं होती और न उन्हे प्राप्त करने का ढंग ही सीखता है। जब वह उस जीवन से निर्मुक्त होता है तब उसकी कठिनाई और भी बढ जाती है और वह जीवन भर निकम्मा बना रहता है।

उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य बिगड जाता है और कभी-कभी अवांछित व्याधियों का शिकार बन जाता है। तात्पर्य यह कि अपराधी बच्चों का पूर्ण जीवन असामाजिक हो जाता है जिससे समाज को बहुत बडी क्षति होती है। इसीलिये प्रत्येक देश आज बाल-अपराध को रोकने और अपराधियों को सुधारने के प्रश्न पर समान रूप से चिन्तित है।

सोलहवाँ अध्याय

बालकों का पालन-पोषण

पिछले अध्यायों में हम बच्चों के विकास के विभिन्न प्रमुख पहलुओं पर प्रकाश डाल चुके हैं। उनके कुछ उन पहलुओं पर भी प्रकाश डाला गया है जिन्हें असंतुलित व्यक्तित्व (Maladjusted personality) के नाम से पुकारा जाता है। अतएव यहाँ बच्चों के समुचित एवं सामान्य विकास के लिये उनके पालन-पोषण (Bringing up) का उल्लेख कर देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

१. शारीरिक स्वास्थ्य (Physical health)

हम जानते हैं कि शरीर के स्वस्थ रहने पर हमारा मन भी स्वस्थ रहता है, अतएव सर्वप्रथम हमें यह देखना है कि हम बच्चों को कैसे स्वस्थ रख सकते हैं। सभी जीवों की अपेक्षा मनुष्य के बच्चे अधिक असहाय हुआ करते हैं। उन्हें बहुत अधिक दिनों तक माता-पिता या परिवार के अन्य सदस्यों की सहायता आवश्यक रहती है। अपने पालन-पोषण के लिये उन्हें इन सदस्यों पर निर्भर रहना पड़ता है। इसलिये उनका स्वास्थ्य आश्रय देने वाले व्यक्तियों और अन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। स्वास्थ्य-नियमों पर विचार करने से ज्ञात होगा कि शारीरिक स्वास्थ्य के लिये हवादार मकान, प्रकाश, वायु, जल, भोजन आदि आवश्यक हैं। किन्तु, खेद का विषय है कि भारतवर्ष को कौन कहे अपने को पूर्ण विकसित कहने वाले पाश्चात्य देशों में भी अभी ये अंग बच्चों के सर्वथा अनुकूल नहीं हो सके हैं। भारतवर्ष के सामान्य ग्रामीण घरों और उनमें रहनेवाले बच्चों का जीवन कितना दुःखमय और अव्यवस्थित है, यह पाठकों से छिपा नहीं। आज भी भारतीय गाँवों में ऐसे मकानों और घरों की कमी नहीं है जिनकी जमीन बराबर गीली रहती है और जहाँ सूर्य की किरणों का कभी दर्शन नहीं होता। कितने परिवार ऐसे हैं जिनके लिये केवल एक पक्का या कच्चा कमरा उपलब्ध है और उसी में भोजन बनाना, सामान रखना और आठ-दस आदमियों का सोना भी होता है; न कमरे में धूप की गुंजाइश रहती है और न वायु का प्रवेश। कमरे से बाहर देखने पर और भी घृणित दृश्य नजर आते

हैं। जिधर आँखें दौड़ती हैं उधर ही मल-मूत्र, कूड़ा-कर्कट या अन्य प्रकार की गन्दी चीजें दिखलाई पड़ती हैं। बदबू इस तरह वायुमण्डल (Atmosphere) में व्याप्त रहती है कि नवागंतुकों (Strangers) का दम घुटने लगता है। पीने के पानी के अभाव को पूरा किया जाता है तालाब के ऐसे पानी से जिसमे धोबी गन्दे कपड़े धोता है, गाँव वाले अपनी अन्य गन्दी चीजों को साफ करते हैं और लोग उसके तट पर मल-मूत्र त्याग करते हैं। शरीर के कपड़ो की भी वही दुर्गति रहती है, उस पर मनों मैल जमा रहने के कारण मक्खियाँ भिनभिनाया करती हैं। कितने लोग ऐसे मिलते हैं जिनके शरीर पर महीनो पानी नही पडता। हमारे देश मे ऐसे लोगो की भी कमी नही जिन्हें शायद ही कभी पेट भर भोजन मिलता है और अगर मिलता है तो वह भी रूखा-सूखा। दही, दूध, घी, मक्खन तथा फल की तो कोई बात ही नहीं। ऐसी स्थिति मे उनके बच्चों का क्या पूछना, न सोने के लिये खाट और न पहनने के लिये कपड़े। धूप, स्वच्छ-वायु, क्रीडा-क्षेत्र (Play ground) सभी की सोचनीय अवस्था (Plightful Condition) है। छोटे बच्चों को नहलाना और उन्हे सफाई से रखना अशिक्षित माता-पिता शायद पाप समझते हैं। इसीलिये नाक, आँख, मुँह आदि सभी स्थलो पर गन्दगी का साम्राज्य रहता है और मक्खी रानी भिन-भिनाती रहती हैं। बहुतो के शरीर पर कपड़ा रहता ही नही और जिनके शरीर पर कपडा रहता भी है तो वह बदबू से परिपूर्ण रहता है। भोजन के रूप में छोटे बच्चे को अपर्याप्त मात्रा में माता का दूध मिल जाता है, लेकिन यदि वह माता का दूध पीना छोड दिये रहता है तो उसके सामने भी भोजन की वही विकट समस्या रहती है। उसका मन कोमल होता है और शरीर कुछ करने में असमर्थ। दुबले-पतले हड्डियों के ढाँचे से तब एक ही काम हो सकता है—रोना, चिल्लाना। उसे भूख लगती है और वह क्रन्दन करता है। देहात में खेतों में काम करने वाली मजदूरिन माताओं के बच्चो को आप आसानी से किसी आरी पर पड़े चिल्लाते देख सकते हैं। अधिकांश माता-पिता उनका खेलना बुरा समझते हैं, इसलिये खेलने की सुविधा वे नही देते और जो ऐसा चाहते हैं उनके लिये उपयुक्त स्थान नही मिलता। बच्चों का शरीर व्याधिकोप बना रहता है। ज्वर, मलेरिया, खुजली (Itches), दाद, सुखण्डी (मुमूर्षा) चेचक, घाव आदि में से कोई न कोई व्याधि अधिकांश बच्चो मे देखने में आती है। शायद ही कोई बच्चा ऐसी व्याधियो से मुक्त रहता है। बहुत घरों मे टीका (Occulation) या दवा लेना अशुभ समझा जाता है। इसीलिये बहुत से

बच्चे अल्पकाल में ही मृत्यु की गोद में चले जाते हैं। भारत में बच्चों की बहुत अधिक मृत्यु होती है। इस दृष्टि से चीन के बाद विश्व में इसी का स्थान है। शहर या नगर में रहने वाले बच्चों की अवस्था इन ग्रामीण बच्चों से कुछ अच्छी होती है, किन्तु उनकी संख्या दस प्रतिशत से अधिक नहीं है। शहर मे भी ऐसे घरों की कमी नहीं जिनके बच्चो को कभी पेट भर खाना नहीं मिलता और जिनके कपडो से दुर्गन्ध निकला करती है। अर्थाभाव (Want of money) के कारण बीमार बच्चा दवा के बिना काल के गाल में चला जाता है और जो रहते हैं उनकी हड्डियाँ इतनी निकली रहती है कि उन्हे कोई भी गिन सकता है। अभिप्राय यह कि क्या ग्रामीण या क्या नागरिक प्रायः अधिकांश बच्चोकी गृहावस्था रूग्णावस्था में व्यतीत होती है। इसलिये उनका शारीरिक विकास (Physical Development) सुचारु रूप से नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि बच्चो के शारीरिक स्वास्थ्य और विकास के लिये क्या करना चाहिये ? इसके लिए उन अवांछनीय अंगो को हटा देना चाहिये जो उनके स्वास्थ्य के लिये किसी तरह से घातक सिद्ध होते हैं। गृहावस्था का असर बच्चो के स्वास्थ्य पर अत्यधिक पडता है। इसलिये नगर या देहात जहाँ भी मकान कच्चा या पक्का बनें, इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि वे खुले मैदान मे हो। खिडकी और दरवाजो का ऐसा प्रबन्ध हो कि घर में हवा और रोशनी की कमी न हो। प्रत्येक बच्चे के लिये सोने, बैठने और आराम करने के लिये एक निश्चित कमरा हो। घर के चारो ओर छोटे छोटे फल-फूल के पौधे लगे हो और कोई गन्दी चीज मकान के करीब न रहे। खेलने के लिये भी बच्चो के लिये काफी प्रबन्ध रहना चाहिये। वे शरीर पर जो कपड़े धारण करें उन्हें बराबर धूप में रखा जावे तथा उनके नहाने-धोने का भी सुन्दर प्रबन्ध हो। मल-मूत्र त्यागने के बाद उनके शरीर और कपड़ो को स्वच्छ कर देना नितान्त आवश्यक है ताकि मक्खियाँ न बैठने पावे। पीने के लिये जिस कुएँ का पानी काम में लाया जाय वह ऐसा रहना चाहिये जिसमें गन्दा बरसाती पानी न जा सके और न तो पेड़ की ही पत्तियाँ गिरकर उसमें सड़ें। तालाबो में, जिसमे ग्रामीण बच्चे अधिकतर नहाया करते हैं, पशुओं को धोना या उसमे कूडा-करकट फेंकना अत्यन्त हानिकर है। उसके चारो तरफ ऐसा प्रबन्ध रहना चाहिये कि उसमें बरसात के दिनों में गन्दी चीजें बह कर न जा सकें।

जहाँ तक भोजन की समस्या, भारतीय बच्चो की है, वह बहुत सोचनीय

है, क्योंकि अधिकांश भारतीय परिवार ऐसे हैं जिनमें पेट भर अन्न की सुविधा नहीं है। घी, दूध और फल की तो कोई बात ही नहीं। इसलिये ऐसी परिस्थिति मे माता-पिता के लिये यह उचित है कि जो कुछ भी रूखा-सूखा भोजन हो उसी को उचित समय और उचित रूप में दें। बहुत-सी माताएँ अपने बच्चो को बासी खाना देती हैं जो स्वास्थ्य के लिये हानिकर होता है। इसलिये बच्चो को सदा ताजा खाना देने का प्रबन्ध करना चाहिये। भोजन-सामग्री को ढककर रखना जरूरी है, क्योंकि ऐसा न करने से उसमें कई तरह की बुराइयाँ आ जाती हे। जिन घरो मे दूध, घी और फल की सुविधा हो उन्हें अधिक से अधिक मात्रा मे आयु के अनुसार बच्चो को नित्य-प्रति देना चाहिये। आज कल प्रायः दूध-घी में व्यापारी पानी, चीनियाबादाम या अन्य प्रकार की चीजें मिलाकर बेंचा करते हैं। अतएव ऐसे दूध-घी को न खिलाना ही अच्छा है। शहरों में बच्चे बाजारू चीजों को खरीद कर खाने के शौकीन होते हैं जिनसे स्वास्थ्य को बहुत हानि पहुँचती है। इसलिये संरक्षकों को चाहिये कि वे अपने बच्चों को बाजार की सडी गली चीजें न खिलावे।

इन सब के अतिरिक्त प्रत्येक माता-पिता को बच्चो को चेचक, प्लेग प्रभृति घातक बीमारियों से बचाने के लिये उन्हे टीका दिला देना चाहिये और अन्य प्रकार की बीमारियों से बचने के लिए निपुण चिकित्सक का उपचार कराना चाहिये। दुर्भाग्यवश यदि किसी बच्चे को किसी प्रकार का शारीरिक दोष (Physical Defect) हो तो उसे दूर करने का प्रयास करना चाहिये और यदि वह दोष दूर होनेवाला न हो तो उसे चिढ़ाकर दुःखी नहीं करना चाहिये। इससे बच्चे के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा असर पडता है। बहुत से ऐसे अनभिज्ञ माता-पिता हैं जो अपने बच्चो को लँगडा, कनवाँ, मुँहटेढ़वा आदि कहकर पुकारना शुरू कर देते हैं। इसका असर बच्चो के स्वास्थ्य पर बुरा पड़ता है। अतएव संरक्षकों को ऐसे नाम से पुकारने से बचना चाहिये। माता-पिता बच्चो के सामने तरह-तरह की नशीली चीजो का सेवन करते हैं जिसके फलस्वरूप बच्चे भी उनके सेवन करने का अभ्यासी हो जाते है। बच्चो को इन चीजो के प्रयोग से रोकने के लिये स्वयं संरक्षकों को ही इनके इस्तेमाल से बचना चाहिये, क्योंकि वे उन्ही कार्यों को करते है जिन्हें कि उनके संरक्षक करते हैं।

संक्षेप मे, शारीरिक स्वास्थ्य के लिये हवादार मकान, खेलने का मैदान, स्वच्छ जल और वस्त्र, पुष्टिकर भोजन, पत्रपुष्पों से युक्त बगीचा, रोग को रोकने और उससे बचाने के लिए दक्ष चिकित्सक आदि नितान्त आवश्यक हैं।

किन्तु, खेद का विषय है कि भारतवर्ष ऐसे देश में माता-पिता अपने बच्चों को सभी प्रकार की सुविधा देने में असमर्थ हैं क्योंकि वे अपनी गरीबी से इस तरह आक्रान्त हैं कि उन्हें अपना जीवन-यापन करना ही कठिन हो रहा है। अब सरकार का ध्यान इस ओर गया है और वह बच्चों के खेलने, चिकित्सा आदि का काफी प्रबन्ध कर रही है। फिर भी, देश का आर्थिक स्तर बिना ऊँचा हुए कुछ बहुत अधिक की आशा जल्दीबाजी में नहीं की जा सकती।

पाँच-छः वर्ष तक का समय बच्चे अपने घर पर व्यतीत करते हैं, किन्तु उसके बाद पाठशालीय जीवन का आरम्भ होता है। यों तो पाठशालाएँ नगर और देहात दोनो मे हैं, लेकिन दोनो स्थानो की पाठशालाओं की हालत अच्छी नहीं है। नगर की पाठशालाएँ देखने मे बाह्यरूप से कुछ सुन्दर अवश्य प्रतीत होती हैं, किन्तु उनका वातावरण कम दूषित नहीं है। इनके मकान गली-कूचों में बने हुए हैं जिनके चारों ओर शहर की गन्दगी मच्छरयुक्त मोरियों द्वारा बहा करती है। कमरे इस प्रकार के बने रहते हैं जिनमे रोशनी और हवा का प्रवेश होना कठिन रहता है। नगर के धूओं से आकाश आच्छन्न रहता है। बच्चों के खेलने का कोई प्रबन्ध नहीं रहता। हाँ, शिक्षाविभाग के विधान (Regulation) को कायम रखने के लिये सप्ताह में एक या दो बार नाम मात्र का व्यायाम विद्यार्थियो को करा दिया जाता है। शिक्षको की हालत भी काफी दयनीय है। वे देश के भावी कर्णधारो के नियामक हैं, किन्तु पेट की ही चिन्ता में रहते हैं। उन्हें आवश्यकतानुसार समय पर वेतन नहीं मिलता, इसलिये वे विद्यार्थियो पर ध्यान भी कम देते है। अधिकांश शिक्षको को न शिक्षा-सिद्धान्त (Educational principles) का ज्ञान रहता है और न स्वास्थ्य सिद्धान्त का ही। इसलिये वे न तो बच्चों का स्वास्थ्य सुधारने मे समर्थ होते हैं और न बौद्धिक शिक्षा देने मे। सभी विद्यार्थियो को बिना उनकी योग्यता की जाँच किये हुए ही पाठशाला के कार्यक्रम को करने के लिये विवश किया जाता है। इसका परिणाम ऐसा होता है कि यदि कोई विद्यार्थी उस माध्यम के कार्य को करने में असमर्थ होता है तो उसे शारीरिक दण्ड दिया जाता है और अन्य विद्यार्थियो के सामने उसका मजाक उड़ाकर उसे लज्जित किया जाता है। किसी तरह का शारीरिक दोष रहने पर शिक्षक महाशय अज्ञानवश स्वयं उसकी आत्मा को चोट पहुँचाते हैं और अन्य विद्यार्थियो को भी ऐसा करने के लिये प्रोत्साहित करते हैं।

सभी पाठशालाओं मे तो नहीं, किंतु कुछ पाठशालाओ में बच्चों की चिकित्सा का प्रबन्ध रहता है और उसके लिये बच्चों से कुछ माहवारी या

सालाना शुल्क भी लिया जाता है। किंतु परिचर्या और चिकित्सा के लिये कौन कहे, वे चिकित्सक या दवाओं की सूरत तक नहीं देखते।

जब हम ग्रामीण पाठशालाओं की अवस्था पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि यद्यपि अधिकांश शिक्षण-संस्थाएँ गाँव से बाहर रहने के कारण खुली हवा में अवश्य है, किंतु खिड़कियों का उनमें भी अभाव है। मैदान रहते हुए भी खेलने-कूदने का कोई प्रबन्ध नहीं है। बच्चे किताबी कीड़ा बनने के लिये विवश किये जाते हैं। जिस कुएँ का पानी पीने के काम आता है उसमें पेड़ों की पत्तियाँ गिरकर सड़ा करती है। स्कूल के चारों ओर गड्ढे गन्दे पानी और कूड़े-करकट से भरे रहते है। बच्चों के कपड़े इतने गन्दे रहते हैं कि उनसे दुर्गन्ध निकला करती है। शिक्षकों को न उनके स्वास्थ्य का ध्यान रहता और न उनके विकास का, अपितु छोटे-छोटे अपराधों के लिये दण्ड देने पर विशेष चौकसी रहती है। मिडल और हाई स्कूलों की अवस्था भी इसीसे मिलती जुलती है। तब भला बच्चों का स्वास्थ्य क्योंकर सुधर सकता है?

ये सब कुव्यवस्थाएँ जब तक स्कूल से दूर नहीं होंगी तब तक स्वस्थ बच्चों की आशा नहीं की जा सकती। इसलिये बालहितरत महापुरुषों तथा अन्य पदाधिकारियों का कर्त्तव्य है कि जहाँ कहीं पाठशाला हो या बनें, ऐसा प्रबन्ध करें कि प्रत्येक कमरे में सूर्य का प्रकाश और स्वच्छ वायु प्रवेश कर सकें। स्कूल की सीमा कूड़े कर्कटों से न भरी रहे, बल्कि चारों ओर तरह-तरह के फूल-पौधे लगे जिनकी रक्षा का भार निश्चित रूप से बच्चों पर रहे। उनके खेलने के लिए काफी सुविधा दी जाय जिसके लिए एक ऐसे शिक्षक की नियुक्ति हो जो समयानुसार उन्हे खेल-कूद के बहाने व्यायाम करा सके। पीने के पानी को स्वच्छ रखने के लिए कुएँ को खूब ऊँचा बनाया जाय और वह ऐसे स्थान पर हो जहाँ पेड़ों की पत्तियों को उसमें गिरने की गुञ्जाइश न हो। बच्चों को नाश्ता के लिए चना और कच्चे फलों का प्रबन्ध होना नितान्त आवश्यक है। इसके लिए पाठशाला के अधीन कुछ ऐसी जमीन होनी चाहिये जिसमे विद्यार्थियों की सहायता से फल, साग, भाजी आदि उत्पन्न किये जा सकें। एक ऐसे चिकित्सक की नियुक्ति अपेक्षित है जो बच्चों की शारीरिक परीक्षा करता रहे और दाद, खुजली आदि रोगों से उन्हें निर्मुक्त करता रहे।

अध्यापकों के चुनाव के समय विशेष सावधानी रखने की जरूरत है। ऐसे ही अध्यापकों को रखना चाहिये जो बच्चों को सफाई के महत्त्व को अपने आदर्श से व्यक्त कर सकें। जो शिक्षक बच्चों को किताबी कीड़ा न बना

कर उन्हें सुन्दर नागरिक बना सकता है वही वस्तुतः शिक्षक के काम के योग्य है। हाँ, सभी बच्चो को उनकी योग्यतानुकूल शिक्षा देनी चाहिए ताकि वे स्कूल के काम को हौवा न समझें। इन्हीं सब उपायों से हम बच्चों को स्वस्थ रख सकते हैं, किन्तु खेद का विषय है कि स्वतन्त्र भारत में भी अभी तक पाठशालाओं की अवस्था पूर्णरूपेण सन्तोषजनक नहीं है। तथापि, ऐसी आशा की जा सकती है कि हमारी सरकार के उद्योग से पाठशालाओं की अवस्था में शीघ्र सुधार होगा और हमारे सभी बच्चे स्वस्थ जीवन व्यतीत करते हुए दीर्घायु हो सकेंगे।

२. मानसिक स्वास्थ्य (Mental Health)

बच्चो के सामान्य विकास के लिए शरीर और मन दोनो का स्वस्थ होना आवश्यक है। जिस प्रकार शारीरिक स्वास्थ्य सिद्धान्त का एकमात्र ध्येय शरीर को स्वस्थ बनाना है उसी प्रकार इसका भी ध्येय एकमात्र मन को स्वस्थ रखना है। किन्तु, मन उसी समय स्वस्थ रह सकता है जब कि बच्चों में किसी प्रकार का असंतुलन (Maladjustment) न पाया जाय और न उनमें घातक बीमारियो का राज्य हो। अतएव, मन की स्वस्थता के लिये मानसिक स्वास्थ्य-विज्ञान (Mental Hygiene) के नियमो को अमल में लाना निहायत जरूरी है।

घर तथा पाठशालीय वातावरण को ऐसा रखना चाहिये कि बच्चों में चिन्ता, भय, हीन-भाव आदि अंकुरित न हो। माता-पिता तथा शिक्षको को वातावरण इस प्रकार रखना चाहिये कि बच्चो को अपनी जीवन-समस्या (Problem of life) सुलझाने में किसी प्रकार की कठिनाई न हो। उनकी योग्यता (Ability) के अनुसार उनकी विभिन्न उत्सुकताओं (Curiosities) को शान्त करना चाहिये, दमन के द्वारा नही, बल्कि समाधान के द्वारा। इस सम्बन्ध में कई स्थलो पर प्रकाश डाला जा चुका है, इसलिये पाठक इसकी विशेष जानकारी के लिये पिछले अध्यायो को देखें।

बच्चों में खेलने और मनोरंजन (Recreation) की प्रवृत्ति अत्यधिक होती है और खेल के जरिये वे अपने आपको अभियोजित करने में सफल होते हैं। इसलिये हम लोगो को चाहिये कि उन्हें खेलने और अन्य प्रकार के मनोरंजनो के लिये पर्याप्त सुविधा दें। जिन बच्चो को खेलने-कूदने का अवसर नहीं दिया जाता उनमें कई प्रकार के दोष आ जाते हैं और परिणामतः वे सामाजिक अभियोजन (Social adjustment) में असफल रहते हैं।

बच्चा खेलने में अपनी अभिरुचि (Interest) न रखे तो यह समझना चाहिये कि उसमें दिवास्वप्न (Day Dreaming), हीन-भाव आदि के अंकुर मौजूद हैं। खेलनेवाले बच्चों में इस प्रकार के दोष नहीं पाये जाते, इसलिये उनका मन स्वस्थ रहता है।

बच्चों को किसी कार्य में नियुक्त करते समय यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि वह काम उनकी योग्यता के अनुकूल है या नहीं। किसी काम या विषय को खेल के माध्यम से करवाना या सिखलाना विशेष हितकर है। इसीलिये जो शिक्षक विद्यार्थियों को खेल के द्वारा पढ़ाने में निपुण होते हैं उनको बच्चे बहुत चाहते हैं, किन्तु जो ऐसा नहीं करते उनके क्लास में जाने से भी वे हिचकते हैं।

घर, स्कूल, समाज आदि में अभियोजित करने के लिये यह आवश्यक है कि बच्चे विभिन्न परिस्थितियों में अभियोजन करना सीखें। यह सीखना तभी हो सकता है जब उनमें तरह-तरह की समाजोपयोगी आदतों (Habits) को डाला जाय और तरह-तरह के कौशलों की शिक्षा दी जाय। इसलिये मानसिक स्वास्थ्य के लिये उनमें तरह-तरह के कौशलों और आदतों को सीखने के लिये उत्साह भरना चाहिये ताकि वे उन्हें अपना सकें और वे अपने को विभिन्न परिस्थितियों में अभियोजित करने में समर्थ हों।

जिन बच्चों में आत्म-नियन्त्रण (Self-Control) और आत्म विश्वास (Self-Confidence) का अभाव रहता है वे जीवन में कभी सफल मनोरथ नहीं होते। इन्हीं के अभाव में बच्चे हीन-भाव, अरक्षित-भाव (Feeling of insecurity) तथा अन्य घातक मानसिक दोषों से पीड़ित रहते हैं। इसलिये प्रत्येक संरक्षक को बच्चों में आत्म-नियन्त्रण और आत्म-विश्वास (Self-Confidence) के गुणों को अंकुरित करना चाहिये।

कितने माता-पिता तथा संरक्षक ऐसे होते हैं जो बच्चों के प्रत्येक काम में दखल दिया करते हैं, इसलिये वे उन्हें कोई भी काम स्वतन्त्र रूप से नहीं करने देते। उनका ऐसा करना मानसिक स्वास्थ्य-सिद्धान्त के प्रतिकूल है। बच्चे स्वभावतः स्वतन्त्रता-प्रेमी होते हैं। किन्तु, स्वतन्त्रता का मतलब यह नहीं कि वे जिस दिशा में बहे उन्हें बहने दिया जाय। इससे यही मतलब लगाना विशेष उचित है कि अनावश्यक उन पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध (Restriction) लगाना या उनकी स्वाभाविक क्रियाओं में अड़चन डालना समुचित नहीं। ऐसा करने से उनके मानस-जीवन (Mental life) पर बहुत बुरा असर पड़ता है और फलस्वरूप उनमें कई मानसिक दोषों का आविर्भाव

हो जाता है। इसके अतिरिक्त, अज्ञानवश माता-पिता बहुत से बच्चों को कभी भी किसी तरह का उत्तरदायित्व (Responsibility) नहीं देते जिसका परिणाम यह होता है कि वे जीवन भर बच्चे ही बने रह जाते हैं। उन्हें इसका समुचित ज्ञान नहीं होता कि उन्हें क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना चाहिये। इसलिये उनमें हमेशा दूसरों पर निर्भर रहने की आदत पड़ जाती है और आत्म-विश्वास की कमी रह जाती है। यह मानसिक स्वास्थ्य-सिद्धान्त के दृष्टिकोण से अनुचित है। इसलिये प्रत्येक माता-पिता और शिक्षक को चाहिये कि वे बच्चों को अपना काम स्वयं करने दें और आवश्यकता पड़ने पर उनकी सहायता करें। उत्तरदायित्व रहने पर ही बच्चे कुछ कर और सीख सकते हैं।

मानसिक स्वास्थ्य के लिये यह आवश्यक है कि बच्चों के प्रत्येक व्यवहार पर ध्यान रक्खा जाय और जब कभी उसमें किसी प्रकार की उलझन दीख पड़े तो उसके कारण को जानकर शीघ्र ही उसे दूर कर दिया जाय। घर और पाठशाला का वातावरण पूर्णतः बच्चों के अनुकूल होना चाहिये। इसके अलावे, मनोवैज्ञानिक, चिकित्सकों और मानसिक व्याधि विशेषज्ञों से बच्चों के व्यवहारों की जाँच-पड़ताल करानी चाहिये और समय-समय पर उनकी राय लेते रहनी चाहिये। अभी भारतवर्ष मे तो कम, लेकिन अन्य पाश्चात्य देशों में ऐसी अनेकों बालहित संस्थाएँ हैं जिनका एकमात्र कार्य बाल-व्यवहार की उलझनों का अध्ययन करके उन्हें दूर करना है। आशा है निकट भविष्य में भारत सरकार के प्रयास से ऐसी संस्थाओं का यहाँ भी बाहुल्य होगा जो बच्चों की व्यवहार सम्बन्धी कठिनाइयों को दूर कर सकेंगी और बच्चे पूर्ण स्वस्थ बन सकेंगे।

बालकों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य को सुन्दर बनाने के लिये उपर्युक्त सुझाव लाभप्रद हैं, किन्तु इनके अतिरिक्त भी माता-पिता तथा शिक्षक अपने अनुभवों के आधार पर नये नये सुझावों का प्रयोग कर सकते है और अपने बच्चों के शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के विकास मे सहायक होकर उन्हें समुचित रूपेण विकसित होने में सहयोग प्रदान कर सकते हैं। बच्चों के सामान्य विकास के लिए शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्वास्थ्य आपेक्षित हैं।